

भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान

(प्रथम भाग)

भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान

(प्रथम भाग)

(नेमिनाथ, श्री कृष्ण के काल से ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक)

निर्मल कुमार जैन

प्रकाशक / लेखक की अनुमति के बिना इस पुस्तक को या इसके किसी अंश को
संक्षिप्त, परिवर्धित कर प्रकाशित करना या फ़िल्म आदि बनाना कानूनी अपराध है।



भारतीय ज्ञानपीठ

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक

ISBN 81-263-0969-5

**भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान
(प्रथम भाग)**

(अध्ययन)

निर्मल जैन

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली

आवरण : 'पवन'

© निर्मल कुमार जैन

**BHARTIYA ETIHAS ME SHRAMAN SANSKRIT; KA YOGDAN
(STUDY)**

by Nirmal kumar Jain

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Ph. : 011-24698417, 24626467; 23241619 (Daryaganj)

Mob. : 9350536020; e-mail : bjnanpith@gmail.com

sales@jnanpith.net; website : www.jnanpith.net

First Edition :

Price : Rs.

उन पूज्यनीय माता-पिता को जो 93 वर्ष की आयु में भी
मेरे लालन-पालन हेतु तत्पर रहते हैं।

तथा

उन पूज्यनीय, श्रद्धेय गुरुओं को जिन्होंने बचपन से लेकर
आज तक मेरे ज्ञान का विकास करने में अपना
स्नेह, समय और श्रम प्रदान किया।

आमुख

सत्य वचन जिन मार्ग है, इसमें सत्य ही घोल।

सत्य वचन प्रकाश को णमो जिणाणं बोल॥

यह पुस्तक में इतिहास के प्रारम्भिक छोर से लेकर ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक की प्रमुख घटनाओं को तथ्य परख ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। नेमिनाथ, श्री कृष्ण आदि यदुवंशियों से लेकर द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के सप्तांश खारवेल तक के काल को सम्मिलित किया गया है।

श्रमण संस्कृति, बौद्ध श्रमण संस्कृति, वैदिक श्रमण संस्कृति के प्रमुख सिद्धांतों एवं ग्रंथों के साथ ही श्रमण संस्कृति के माध्यम से विश्व में मूर्ति पूजा का प्रारम्भ तथा श्रमण संस्कृति के प्रभाव वाले क्षेत्रों सहित श्रमण संस्कृति में प्रचलित पर्वों का उल्लेख प्रस्तुत है। प्राचीन काल में कालमापन और क्षेत्र मापन की इकाई से प्रारम्भ कर देश में प्रचलित काल गणना के संबंधों को प्रस्तुत किया गया है।

प्रचलित इतिहास और साहित्य में श्रमण संस्कृति के समर्थक नायकों एवं उनके अनुयायियों को उनकी प्रतिष्ठा अनुसार प्रस्तुत नहीं किया गया। भक्तिकाल के लगभग 300 वर्षों के काल में देश में प्रचलित सभी धर्मों के लगभग अर्द्धशतक कवियों को स्वीकार किया गया लेकिन श्रामण संस्कृति के पक्षधर पं. बनारसी दास, ब्रह्म. जिनदत्त, शालिवाहन जैसे अनेकों कवियों के ग्रंथ बनारसी विलास, नाममाला, हरिवंश पुराण (हिन्दी) सहित शतकों ग्रंथ एवं रचनाएँ रची गई। लेकिन प्रचलित साहित्य परम्परा में उन्हें स्थान नहीं दिया गया।

इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मिल रहे हैं जिससे स्पष्ट होता है कि श्रामण संस्कृति को कुछ काल के लिए मुख्य धारा से दूर रखने के प्रयास भी होते रहे।

मैंने श्रमण संस्कृति और उसके महत्व को उद्घाटित करने का एक छोटा सा प्रयास किया है। सत्य उद्घाटन का महत्वपूर्ण कार्य सदैव चलता रहना चाहिए। सामग्री विपुल और बिखरी होने के कारण विषयवस्तु को शोधपरक और निश्चित कालावधि में प्रस्तुत करना अत्यन्त दुरुह कार्य रहा। लगभग 65 महीनों में विषय वस्तु प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर सका हूँ।

मैं सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे इस काल के श्रेष्ठ पुरुषों का आशीर्वाद और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। पूज्यवर आचार्य विद्यासागर, समाधिस्थ आचार्य ज्ञानसागर,

आचार्य विशुद्धसागर, आचार्य उदारसागर, आचार्य निर्भयसागर, मुनिपूज्य समतासागर, प्रमाणसागर, अभयसागर, प्रभातसागर, सौम्यसागर, विनम्रसागर, सुव्रतसागर, आदित्यसागर, प्रणीतसागर, समत्वसागर, शीतलसागर आदि इस काल के श्रेष्ठ पुरुषों का आशीर्वाद और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ ।

इन सबकी मैं यथायोग्य बंदना करता हुआ कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। पूज्य प्रमाण सागर जी ने अपने आवश्यकों में से समय निकालकर मुझे श्रमण संस्कृति के इतिहास और सिद्धांतों का जो ज्ञान कराया उसके आधार पर ही मैं पुस्तक लेखन सहित सैकड़ों पदों की रचना कर सका। उनके इस उपकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए मुझ अल्पज्ञ के पास शब्द नहीं हैं। मैं उनको बारम्बार नमन करता हूँ। पूज्य अभयसागर जी की विशेष अनुकम्पा, मार्गदर्शन और पुरुषार्थ के कारण विषय वस्तु पुस्तकाकार हो सकी। उनको बारम्बार नमन करता हुआ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। पुस्तक में जो भी श्रेष्ठ है इन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों के कारण, जो भी कमी रह गई है वह मेरी व्यक्तिगत कमजोरी का परिणाम है

मैं उन सभी पूर्व लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी पुस्तकों से मुझे संदर्भित विषय सामग्री प्राप्त हुई है।

दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र पावागिरी, पंच बालयति मंदिर, इंदौर, विदिशा के शान्तिनाथ जिनालय, चन्द्रप्रभ जिनालय, शीतलधाम के ग्रंथालयों से संदर्भित ग्रंथ प्राप्त हुए, जिससे जिनालयों के ग्रंथालयों की उपयोगिता समझ में आई।

स्व. श्री निर्मल सेठी, नई दिल्ली, डॉ. नलिन सिंह लखनऊ, डॉ. ब्रजेश रावत, लखनऊ, डॉ. कल्याण गंगवाल, पुणे, डॉ. एन. सी. जैन भोपाल, डॉ. शीलचंद पालीवाल विदिशा, श्री व्ही. पी. न्यायगोड़ा बागलकोट (तमिलनाडू) डॉ. महेन्द्र जैन प्राचार्य विदिशा, डॉ. अभिषेक जैन विदिशा डॉ. अशोक जैन विदिशा, आर. पी. गुसा, अनिल श्रीवास्तव सहित वे सब संस्कृत प्रेमी, हितेषी, प्रियजन जिन्होंने पुस्तक लेखन में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया उन सबका मैं हृदय से आभारी हूँ।

मेरे विशेष अनुरोध पर डॉ. सुधीर रंजन भोपाल ने अपने व्यस्त समय में से समय निकालकर पुस्तक की भूमिका लिखी तथा डॉ संजय दुबे, प्रकाशन अधिकारी, ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ने पुस्तक को इस रूप में प्रकाशित करने हेतु भरपूर सहयोग दिया। मैं दोनों का हृदय से आभारी हूँ।

इतने महान विषय के लेखन में मुझ अल्पज्ञ से गलतियों की संभावना है। विद्वत् वर्ग उसे सुधारने की कृपा करें। यदि कहीं अतिरेक दृष्टव्य होता है तो कृपया क्षमा करें।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा, वीर निर्माण संवत् 2548(18/12/2021) -निर्मल कुमार जैन

भूमिका

भारतीय संस्कृति बहुवचनात्मक है। प्राचीन काल में इसकी दो शाखाएँ थीं। श्रमण और ब्राह्मण। श्रमण संस्कृति ब्राह्मण से पुरानी है। आज जिसे हम जैन धर्म कहते हैं। उसका ही प्राचीन नाम श्रमण है। निर्ग्रंथ अथवा आर्हत् धर्म भी कहा जाता है। श्रमण यानी जो अपनी आत्मशुद्धि के लिए श्रमशील रहे। निर्ग्रंथ यानी जिसमें कोई कुंठ न हो और बाहरी-भीतरी पसियों से मुक्त हो। जिसने राग द्वेष पर विजय पा ली हो वह अर्हत् है और उसका पुजारी आर्हत्। मोटे तौर पर यह धारणा बनती है।

श्रमण संस्कृति सबसे प्राचीन है। प्रथम सम्बन्ध इसका जैन धर्म से है बाद में बौद्ध धर्म को भी इसमें जोड़ लिया गया। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म के समानान्तर दो बड़े धर्मों की परम्परा आगे बढ़ी। तीनों धर्मों में अन्तर्सम्बद्धता रही है और इनके बीच बे विमर्श हुए हैं। उन विमर्शों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में आदान-प्रदान और संवाद की सूदृढ़ परम्परा रही है। उन संवादों में सार्वभौमिकता और मानव धर्म का आदर्श प्रकट होता है।

सर्वविदित है कि अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था, किन्तु उस पर पर्यास रूप से जैन धर्म का प्रभाव था। उसका धर्म प्राणी मात्र को कल्याण पहुँचाने वाला था। उसे जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का उपासक भी बताया जाता है। इससे पता चलता है कि हमारे यहां आपसी ग्रहणशीलता पर्यास रूप से थी। कटूरवाद भारतीय संस्कृति के मूल में नहीं है।

भारत कटूरवाद की भूमि नहीं रहा है तो इसके पीछे श्रमण संस्कृति का बड़ा योगदान है। बौद्ध धर्म तो श्रमण संस्कृति की एक शैली रहा ही है। वैदिक मत पर भी श्रमण दृष्टि का प्रभाव पड़ा है। प्रश्न है कि 'श्रमण' की ऐसी कौन-सी विशेषताएँ हैं जिनके कारण इसने भारतीय संस्कृति की व्यापक धारा को आविष्ट किया है। ऐसे पांच बिन्दु हैं जो विशिष्ट हैं। यह अहिंसा का मूल है। अपरिग्रह (असंग्रह) इसकी मूल प्रवृत्ति है। अनेकान्त (अनाग्रह) और स्याद्वाद इसका दर्शन है। यह वस्तु की स्वतंत्रता पर विश्वास करता है। यह मोक्षमार्गी है। सम्यक दर्शन और दृष्टि का इसमें महत्व है। इन सभी विशेषताओं का अध्ययन करने पर श्रमण आज भी प्रासंगिक धर्म-दर्शन लगता है।

श्री निर्मल कुमार जैन ने भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति के योगदान का विस्तार से उद्घाटन किया है। सबसे अच्छी बात है कि भारतीय परम्परा की सभी धातुओं को साथ जोड़कर देखने की प्रवृत्ति और कौशल। विग्रह का अवकाश बिल्कुल नहीं। श्रमण संस्कृति का कोई भी पक्ष नहीं छूटे इसका भरपूर प्रयास है।

‘भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान’ वैचारिक इतिहास के क्षेत्र में एक उल्लेखनीय योगदान है। यह इतिहास की पुस्तक है और धर्म-दर्शन की भी। इतिहास के आईने में धर्म को समझना आज के युग में अत्यंत आवश्यक है। इसके अभाव में भ्रांतियाँ फैलती हैं। इस दृष्टि से भी श्री निर्मलकुमार जैन का काम महत्वपूर्ण है।

-सुधीर रंजन सिंह

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
शा. हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल

अनुक्रम

श्रमण परम्परा का इतिहास

(व्युत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा, इतिहास को जानने का इतिहास, कालक्रम से इतिहास जानने का प्रयास, महाभारत काल में अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण और बलभद्र : ऐतिहासिक तथ्य, श्रमण संस्कृति में नेमिनाथ और श्री कृष्ण आदि महापुरुषों के कथानक कौरव और पाण्डववैदिक संस्कृति में नेमिनाथ महाभारत के वर्ण्य विषय का संक्षेपीकरण, 23वें तीर्थकर पाश्वर्नाथ और उनका काल, 24 वें तीर्थकर महावीर स्वामी महावीर स्वामी की शिष्य एवं प्रशिष्य परंपरा, वीर निर्वाण संवत् में दीपावली का प्रचलन, महावीर स्वामी का काल निर्धारण, महावीर के समकालीन अन्य महापुरुष, गौतम बुद्ध और उनका काल निर्धारण।)

जैन सप्राट चन्द्रगुप्त मौर्य और मौर्य वंश

(चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु का काल निर्धारण चाणक्य चन्द्रगुप्त के लौकिक गुरु, बिन्दुसार सप्राट अशोक के महान बनने की यात्रा, अशोक के शिलालेखों में विषय, अशोक के जीवन का समीक्षात्मक अध्ययन, अशोक पर जैन धर्म का प्रभाव, करुण कुणाल सप्राट सम्प्रति: महान् जैन सप्राट सम्प्रति का पुत्र शालिशुक तथा मौर्य वंश, कट्टरवाद का उदय।)

कलिंग के इतिहास का अवलोकन

(कलिंग, कलिंगजन और खारवेल, खारबेल के शिलालेख का मूल्यांकन।)

इतिहास से झाँकता: पोदनपुर

(पोदनपुर का भौगोलिक क्षेत्र, तक्षशिला में जैन धर्म तक्षशिला के समीपवर्ती जैन संस्कृति के केन्द्र।)

श्रमण संस्कृति

(भारतीय संस्कृति, श्रमण संस्कृति की पीठिका श्रमण संस्कृति पर अवलम्बित दर्शन श्रमण, बौद्ध और वैदिक-मूल श्रमण संस्कृति, श्रमण संस्कृति में श्रमण का स्वरूप, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र, सम्यक् ज्ञान श्रमण बनने का कारण, मरण और मरण प्रकार समाधिमरण (सल्लेखना और आत्महत्या में अंतर, सल्लेखना लेने के कारण, उसकी काल सजगता, श्रमण के मूल गुण, पाँच महाव्रत पाँच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, श्रमण के षडावश्यक शेष सात गुण, उत्तर गुण, बाईंस परिषह जय तप, श्रमण के भेद, अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय साधु, ऋद्धियाँ, श्रमण संस्कृति के संस्थापक : महाश्रमण ऋषभदेव, ऋषभदेव और शिवजी सिन्धु घाटी की सभ्यता में ऋषभदेवः साक्ष्य श्रमण संस्कृति के महानायक, त्रेषठ श्लाका पुरुष, 9 नारायण 9 प्रतिनारायण, श्रमण के नामान्तरण एवं विशेषताएँ, जैन श्रमण में सम्प्रदाय भेद, जैन दर्शन में तत्त्व ज्ञान जैन दर्शन में कर्म, कर्म प्रकृतियों की विविध अवस्थाएँ, पुण्य और पाप, अनेकान्त और स्याद्वाद, श्रुत ज्ञान, ग्यारह अंग (आचारांगादि) दृष्टिवादांग (बाहरवाँ अंग उत्पाद पूर्व आदि 14 पूर्व।)

बौद्ध श्रमण संस्कृति

(बौद्ध धर्म के सिद्धान्त साहित्य बौद्ध संघ।)

वैदिक संस्कृति

(वेद, जय महाकाव्य से महाभारत महाकाव्य तक, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद्, उत्तर वैदिक काल दर्शन, वैदिक संस्कृति से हिन्दू संस्कृति की उत्तर वैदिक संस्कृति में श्रमण परम्परा, वैदिक श्रमणों का उल्लेख, वैदिक ग्रन्थों में वैदिक श्रमणों का उल्लेख।)

विश्व में मूर्ति निर्माण एवं मूर्तिप्रजा: श्रमण संस्कृति की देन

श्रमण संस्कृति में मूर्ति पूजा: धार्मिक आस्था का आधार पर ऋषभदेव के काल में मूर्ति निर्माण कला, मानस्तम्भ, घण्टा, बन्दनवार, स्तूप स्वास्थ्यक एवं चरण चिह्न, प्राचीन ऐतिहासिक प्रतिमाएँ सम्प्रति के काल, खारवेल के काल, सिन्धु घाटी की सभ्यता, मधुरा में जिन प्रतिमाएँ, जिन स्तूप के साक्ष्य, लोहानीपुर की प्रतिमा, वासोकुण्ड (बिहार) की प्रतिमा, राजगृही में भूगर्भ से प्राप्त प्रतिमाएँ, रामनगर (अहिच्छव) बरेली (उ. प्र.) की प्रतिमाएँ, भारत से बाहर प्राचीन जिन प्रतिमाएँ, मिश्र में जैनधर्म और जिन प्रतिमाएँ, मेसोपोटामिया सभ्यता में श्रमण संस्कृति का प्रभाव, युनान में श्रमण संस्कृति का प्रभाव, पाकिस्तान में जिन प्रतिमाएँ, मंगलिया अफगानिस्तान, श्रीलंका, नेपाल, तिब्बत, दक्षिण अफ्रीका, अमेरिका, वियतनाम, इथोपिया।)

मापन

(उत्पर्सिणी काल, हुण्डा अवसर्पिणी काल का प्रमाण, क्षेत्र का माप (प्रमाण), जैनधर्म में शक्त्यांश भारतीय संस्कृति में काल गणना।)

श्रवण संस्कृति में पर्व

(अक्षय तृतीया, रक्षाबंधन, दीपावली।)

श्रमण परम्परा का इतिहास

‘इतिहास’ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के इतिहास से हुई है जिसका तात्पर्य है, जो ऐसा (घटा) था अर्थात् भूतकाल में घटित घटनाओं या उससे संबंधित व्यक्तियों का विवरण है। इतिहास के बारे में कहा जाता है कि इतिहास तथ्यों का संकलन मात्र नहीं है, अपितु परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उत्थान-पतन, विकास-अवनति, जय-पराजय की पृष्ठभूमि एवं तथ्यों का संकलन है।

ऐतिहासिक वृत्त को भी इतिहास कहते हैं, क्योंकि इसमें सीमाङ्कित अवधि और उसके पश्चात् काल के महापुरुषों का चरित्र-चित्रण किया जाता है। इतिहास में ऐतिहासिक कहानी, ऐतिहासिक विवरण, ऐतिहासिक नाटक, यात्रा वृत्तान्त, व्यक्ति वृत्त, जीवन-वृत्त, प्राकृतिक इतिहास एवं प्रकट साक्ष्य के आधार पर तथ्यों के आस-पास काल्पनिक अथवा सटीक विवरण का उल्लेख होता है। इतिहास में विभिन्न देश, विभिन्न राज्य, विभिन्न धर्म, विभिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न जाति-वर्ग का एक साथ उल्लेख भी मिल सकता है अथवा अलग-अलग भी संकलन हो सकता है। इतिहास को History भी कहते हैं। History शब्द लेटिन भाषा का शब्द है जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है The Study of past events particularly in Human affairs, the whole series of past events connected with a particular person or thing. A continues typically chronological recorded of particular trend or institution.¹

इतिहासकार प्राचीन सामग्री की जानकारी के लिए कुछ विशेष निश्चित संसाधनों की मदद लेते हैं जिन्हें इतिहास जानने के स्रोत या साधन के रूप में जाना जाता है, जैसे – शिलालेख, शैल चित्र, स्तम्भलेख, स्थापत्य, वास्तुकला, प्राचीन सिक्के, मोहरें, मूर्तियाँ, दैनिक उपयोग की वस्तुएँ, अस्त्र-शस्त्र, आभरण, आभूषण आदि। इनके अतिरिक्त चित्रकला, भित्ति-चित्र, साहित्यिक अभिलेख, लेखन शैली, भाषा शैली, पुराण चरित्र, प्रशस्तियाँ, यात्रावृत्तान्त, वेद ग्रन्थ, कथा साहित्य, सिद्धान्त ग्रन्थ, संगम संहिता, त्रिपटिक, तत्कालीन कानून व्यवस्था, नियम, मान्यताएँ, जनश्रुतियाँ, श्रुतपरम्परा आदि। सिंधु घाटी की सभ्यता का प्रकटीकरण एवं मथुरा के कंकाली टीले का पुरातात्त्विक वैभव का रहस्योद्घाटन आदि के पीछे जनश्रुतियाँ एवं श्रुतपरम्परा ही महत्वपूर्ण रही है।

प्रसिद्ध विद्वान्, इतिहासज्ञ एवं साहित्यकार इतिहास लेखन के बारे में लिखते हैं कि इतिहास लेखन की विशेष कला है, उसमें प्रमाण सामग्री और लेखक की निजी दृष्टि के अनुसार उसकी व्याख्या, इन दो चक्रों पर इतिहास लेखन का रथ गतिशील होता है²। बलभद्र जैन इतिहास का सीमांकन करते हुए लिखते हैं - “इतिहास में सीमांकित अवधि और उसके पश्चात् काल के महापुरुषों का चरित्र चित्रण किया जाता है, इसलिए तो इस को इतिहास इतिवृत्य या ऐतिह्य कहते हैं”; वे इतिहास के तथ्यों के संकलन के बारे में लिखते हैं, इतिहास लेखन में तथ्यों का संकलन विशेष योग्यता और तटस्थ भाव से किया जाता है³। प्राचीन भारतीय मान्यता है कि इतिहास - पुराणाभ्यां वेद समुपवृहयेत अर्थात् वेदों के अपूर्व ज्ञान को इतिहास और पुराण के द्वारा उद्घाटित किया जाता है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार इतिहास राष्ट्र स्मरण शक्ति है। प्राचीन भारतीय परम्परा में उन सभी पूर्व कालीन वृत्तों और कथानकों को इतिहास के अन्तर्गत माना गया है जिनमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों संबंधी उपदेश निहित हों। इतिहास भूतकाल की ही घटनाओं का वर्णन नहीं है, अपितु भविष्य का भी मार्गदर्शक है।

इसी प्रकार डॉ. हीरालाल इतिहास के बारे में लिखते हैं “जो लोग इतिहास के महत्व से अनभिज्ञ हैं, वे प्रश्न कर सकते हैं कि बहुत समय के पुराने खण्डहरों दूरी-फूरी मूर्तियों व अस्पष्ट अपरिचित लिपियों और भाषाओं में लिखे हुए शिलालेखों के पतों और विवरणों से पुस्तकों के सफे (पृष्ठ) भरने से क्या लाभ है? ऐसे भोले भाइयों के हितार्थ इतिहास की महत्ता बताने के लिए मैं केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि यह उज्ज्वल इतिहास की ही महिमा है जो बौद्ध धर्म जिसका कई शताब्दियाँ हुई हिन्दुस्तान से सर्वथा नाम ही उठ गया था, आज भी विद्वत् समाज में बहुत सम्मान और बहुत गौरव से देखा जाता है और जैन धर्म जो कि बौद्ध धर्म से कहीं अधिक प्राचीन है जिसकी सत्ता आज भी भारत वर्ष में अच्छी प्रबलता से विद्यमान है।

इतिहास को जानने का इतिहास:

प्राचीन भारत का काल इतिहास लेखन की दृष्टि से अति सबलता से खड़ा दिखाई नहीं देता। भारतीय इतिहास के बारे में अधिकांश विद्वानों के मत में समानता है। डॉ. फ्लोट लिखते हैं - हिन्दुओं के पास ऐसा कोई प्रामाणिक तथा विश्वसनीय ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है जिससे यह स्पष्ट तथा सिद्ध हो सके कि उनकी वास्तविक इतिहास लेखन की प्रवृत्ति रही हो⁴। वहीं दूसरे विद्वान भी ऐसा ही कथन करते हैं कि हिन्दु लोग इतिहास की ओर ध्यान नहीं देते। वे कालक्रमानुसार वंश परिचय देने में बड़ी असावधानी रखते हैं और जब सूचना देने के लिए विवश किया जाता है तब

वे हैरान होकर कथाएँ कहना आरंभ कर देते हैं। डॉ. पंकज शर्मा लिखते हैं ‘प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के विभिन्न साधनों को जुटाना एक कठिन कार्य है’⁵

19 वीं, 20 वीं सदी के इतिहासकारों को अति प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यों का उपलब्ध न हो पाने के कारण ऐसे विचार बन जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है इसके कुछ सम्भावित कारण हो सकते हैं-

भारतीय संस्कृति व्यक्ति परक न होकर कर्म प्रधान रही तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति में स्वगुणगान की परम्परा कम ही दिखाई देती है।

इतिहास में साक्ष्य भरे पड़े हैं कि - प्राचीन भारतीय संस्कृति को आतताईयों ने एवं हमारे देश के विध्वंशकारियों, अतिसंकीर्ण एवं संकुचित विचारधारा वालों ने सहस्रोंबार नष्ट किया है जिससे हमारी प्राचीन काल की धरोहर नष्ट हो गयी।

हमारी ऐतिहासिक एवं धार्मिक धरोहर तथा प्रमाण ग्रन्थों को या तो नष्ट कर दिया गया अथवा देख रेख के अभाव में वे काल के गाल में समा गए। धार्मिक आस्था के प्रतीक देवालयों में विराजित मूर्तियों में अनेकों बार परिवर्तनकर तात्कालीन आतताईयों ने मूर्तियों तथा मंदिरों को अपने अनुकूल कर लिया जिससे हमारी ऐतिहासिक धरोहर या तो नष्ट हो गयी या विकृत हो गयी।

कई प्राचीन ग्रन्थों में चाटूकारिता की पराकाष्ठा हो गयी अथवा ऐसे काल्पनिक वर्णन प्रस्तुत किये गये जो पूर्णतः अविश्वसनीय हैं, जिन्हें इतिहासकार एवं विद्वान प्रथम दृष्टि में ही अस्वीकार कर देते हैं जैसे - अग्नि से मनुष्य की उत्पत्ति आदि प्रसंगों एवं कथानकों से लेखन अथवा कवि द्वारा प्रस्तुत वर्ण्य विषय की विश्वसनीयता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। सुमेरचन्द्र दिवाकर जैसे विद्वान साक्ष्यहीनता को श्रेष्ठ नहीं मानते वे लिखते हैं “पुरातत्व प्रेमियों का प्राचीन वस्तु पर अनुराग होना स्वाभाविक है किन्तु किसी दार्शनिक प्रणाली को प्राचीनता के आधार पर प्रामाणिक मान लेना समीचीन नहीं है।”

आधी अधूरी खोज के आधार पर सिद्धान्त निरूपित कर देना अथवा उसे ही सत्य मान लेना अथवा आग्रह पूर्वक तथ्यों को प्रस्तुत करना अथवा गलत ढंग से तथ्यों को प्रस्तुत कर उसे ‘इतिहास’ मान लेना कदापि उचित नहीं है, बल्कि संस्कृति के साथ खिलवाड़ है।

यद्यपि भारतीय संस्कृति को संस्कृति विरोधी आतताईयों ने, विरोधियों ने अथवा अन्य ऐसे ही लोगों ने भारतीय सांस्कृतिक विरासत को विलोपित अथवा विरूपित करने का भरसक प्रयास किया, तो भी भारतीय संस्कृति और विरासत आज भी कहीं-कहीं अपने मूल रूप में अक्षुण्य है जो हमारे गौरवशाली इतिहास होने का साक्षात प्रमाण है। देश में एक समय ऐसा आया कि असत्य की परतें समय की आंधी से हटने लगी सत्य और साक्ष्य सूर्य की तरह प्रकट होने लगे जिससे हम अपने प्राचीन

गौरवशाली इतिहास का कुछ अंशों में दर्शन करने में समर्थ हो सके।

19 वीं 20 वीं सदी के इतिहासकारों, पुरातत्वविदों ने सत्य को प्रगत करने में बहुत महान् कार्य किया। देश में जगह-जगह शिलाओं, गुफाओं, स्तम्भों मंदिरों, किलों आदि के शिलालेखों के अध्ययन तथा पुरातात्त्विक स्थलों के उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों के अध्ययन से जो सार निकलकर आया उससे असत्य की दीवार भरभराकर गिर गयी, देश की प्राचीन संस्कृति अपने इतिहास के साथ पुनः चमकती हुई दृष्टव्य होने लगी।

इतिहासकार भारतीय संस्कृति को स्पष्टतया छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक देखने में समर्थ हो गए तथा कुछ इतिहासकार तो महाभारतकाल (ईसा पूर्व 1500-1600 के लगभग) तक इतिहास को देखने लगे। इस संदर्भ में प्रसिद्ध विद्वान् एवं इतिहासज्ञ डॉ. हीरालाल लिखते हैं “इन शोधलेखों ने भारत के लगभग 2500 वर्ष पूर्व के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक इतिहास पर अद्भुत प्रकाश डाला और कई ऐतिहासिक (मनगड़ंत) भ्रम दूर किए।” वे आगे लिखते हैं कि ‘इससे प्रभावित होकर लार्ड कर्जन ने आर्केलॉजिकल सर्वें’ (पुरातत्व अनुसंधान) नामक सरकारी महकमा खोल दिया, तब से खोज का काम और भी सावधानी और बुद्धिमत्ता से चलने लगा जिससे देश की ऐतिहासिक अंधकारता बहुत कुछ नष्ट हो गयी¹⁰।

काल-क्रम से इतिहास जानने का प्रयास:

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ. ज्योति प्रसाद सहित बहुत से इतिहासज्ञ भारतीय इतिहास की डोर को महाभारत काल तक ले जाने में समर्थ हुए हैं। अभी हाल ही में हरियाणा प्रान्त के क्षेत्र में उत्खनन से जो साक्ष्य मिले हैं पुरातत्वविद तथा इतिहासकार उन्हें महाभारतकाल के अवशेष स्वीकार करते हैं; गत वर्षों तक जो युद्ध रथ, योद्धाओं के कंकाल एवं ममी (मनुष्य की मृतदेह) जो प्राप्त हुई हैं वे महाभारत काल के अवशेष हैं¹¹। डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं इधर कुछ दशकों से भारतीय इतिहासकारों का झुकाव भारत वर्ष के नियमित इतिहास को महाभारत युद्ध के ठीक उपरान्त प्रारंभ करने का बड़ता जा रहा है, अस्तु भारतवर्ष का इतिहास अब लगभग तीन-साड़े तीन हजार वर्ष का माना जाता है¹²। इस प्रकार प्रथम बार महाभारत कालीन पुराण पुरुषों को ऐतिहासिक पुरुषों के रूप में देखने की दृष्टि नवीन ऐतिहासिक साक्ष्यों ने प्रदान की।

इस प्रकार लगभग 1440 ई.पू. में यदुवंशी श्रीकृष्ण, बलभद्र नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) के क्रियाकलाप को इतिहास में सम्मिलित कर लिया गया। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार अपनी पुस्तक प्राचीन भारत का धार्मिक, आर्थिक,

सामाजिक जीवन में लिखते हैं कि जैन अनुश्रुति के अनुसार वासुदेव कृष्ण अरिष्टनेमि के समकालीन थे। जैनों के 24 वें तीर्थकर छठी सदी ईसा पूर्व में हुए थे अतः अरिष्टनेमि 22 वें तीर्थकर का समय उनसे पर्याप्त पहले होना चाहिए। इस तीर्थकर (23 वें तीर्थकर पार्श्वनाथ) को प्रायः नवी सदी ईसा पूर्व का माना जाता है। अतः कृष्ण का काल तो इससे पीछे हो नहीं सकता। यदि भारतीयकाल गणना को स्वीकार किया जाए तो कृष्ण का काल इस्वी सन् से 3100 वर्ष के लगभग होता है क्योंकि महाभारत युद्ध उस समय हुआ था जबकि द्वापर युग का अंत होकर कलियुग का प्रारम्भ हो रहा था¹³। डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं इस युग (1440 ई.पू.) के उक्त श्रमण धर्मपुनरुत्थान के सर्वप्रथम पुरस्कर्ता 22 वें तीर्थकर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि थे जिनका जन्म यदुवंशियों के शूरसेन जनपद की राजधानी शौरीपुर नामक नगर में हुआ था। किन्तु नेमिनाथ की बाल्यवस्था में ही यादव गण शौरीपुर का परित्याग करके पश्चिमी समुद्र तट पर द्वारका नगरी में जा बसे थे। वसुदेव श्री कृष्ण इनके चचेरे भाई थे। कृष्ण ने प्रवृत्ति मार्ग को अपनाया और नेमिनाथ ने निवृत्ति मार्ग को। चिरकाल तक अहिंसा धर्म का प्रचार करने के उपरान्त काठियावाड़ के गिरनार या उर्जयन्त पर्वत से नेमिनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं ‘अब से कुछ दशक पूर्व (सन् 1900-1940 ई. के पूर्व) भी इतिहासज्ञ एवं विद्वान् नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में अविश्वास करते थे, किन्तु अब जबकि इतिहास काल की सीमा छठी शताब्दी ई.पू. से पीछे छूटकर महाभारत के युद्ध के समय तक पहुँचा दी गयी और जबकि महाराज श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता में कोई संदेह नहीं किया जाता तब स्वयं उन्होंने के ताऊ-जात-भाई तीर्थकर अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानने का कोई कारण नहीं रह जाता। वस्तुतः प्रसिद्ध कोशकार नागेन्द्र नाथवसु, पुरातत्वज्ञ डॉ. फुहर, प्रो. बारनेट, कर्नल टॉड, डॉ. हरिसत्य भट्टाचार्य, डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ. राधाकृष्ण आदि अनेक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक विद्वान् नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में संदेह नहीं करते। स्वयं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, यास्क, निरूक्त, सर्वानुक्रमणिका टीका, वेदार्थ दीपिका, सायण का भाष्य, महाभारत, भागवत, स्कंद पुराण एवं मार्कण्डेय आदि प्राचीन ब्राह्मणीय ग्रन्थों में उनके (नेमिनाथ /अरिष्टनेमि) उल्लेख मिलते हैं¹⁴।

कर्नल टॉड नेमिनाथ के व्यक्तित्व का अन्तराष्ट्रीय विस्तार करते हुए उनके अनेक नामों को स्वीकारते हैं – वे राजस्थान पत्रिका में लिखते हैं ‘मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध सामेधावी महापुरुष हुए हैं इनमें पहले ऋषभदेव दूसरे नेमिनाथ थे। ये नेमिनाथ ही स्केण्डनेविया निवासियों के प्रथम आडिन तथा चीनियों के प्रथम ‘फौ’ नामक देवता थे¹⁵। श्री हरिसत्य भट्टाचार्य जैसे उदार विद्वान् उदारमन से नेमिनाथ को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार करते हैं। डॉ. हीरालाल के

अनुसार महाभारत के शान्तिपर्व में जो भगवान तीर्थवर्त और उनके द्वारा दिये गये उपदेश का वृतान्त मिलता है वह जैनतीर्थकर (नेमिनाथ) द्वारा उपदिष्ट धर्म के समरूप है¹⁶।

वेद आदि की प्राचीन प्रतियों का परिशोलन कर महान विद्वान टोडरमल (अकबर के नौ रक्त में से एक) ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रन्थ में अनेक अवतरण देकर बताया कि वेदों में 24 तीर्थकरों की वंदना की गयी है उसमें नेमिनाथ, सुपार्श्वनाथ नामक 22 वें एवं 7 वें तीर्थकर का उल्लेख किया गया है किन्तु वर्तमान 'वेद' के संस्करणों में अनेक मंत्रों का (ऋचाओं का) दर्शन नहीं होता इसका कारण वेरिस्टर चम्पतराय जी के शब्दों में यह है कि ग्रन्थों में काट-छाँट अवश्य हुई है¹⁷।

डॉ. हीरालाल महाभारतकाल के बारे में लिखते हैं, महाभारतकाल ई.पू. 1000 के लगभग माना जाता है अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यही काल नेमिनाथ तीर्थकर का मानना उचित होता है। यद्यपि महाभारत काल के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं कर्नल टॉड ई.पू. 1120 डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार, नीलकण्ठ शास्त्री आदि ई.पू. 1000, राय चौधरी के अनुसार ई.पू. 1376, जयचंद विद्यालंकार के अनुसार ई.पू. 1424, डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार ई.पू. 1450, कुछ पुराणों के अनुसार ई.पू. 1414, कुछ पुराणों के अनुसार ई.पू. 2449, शेष के अनुसार ई.पू. 3102 है किन्तु बहुमान्यमत महाभारतकाल को 15 वीं शताब्दी ई.पू. के लगभग स्वीकार करते हैं। हमारी गणना के अनुसार भी वह ई.पू. 1443 के लगभग बैठता है इस घटना के 36 वर्ष पश्चात अर्जुन का पौत्र पारिक्षित हस्तिनापुर साम्राज्य का अधिपति हुआ। अतएव ई.पू. 1400 के लगभग भारतीय इतिहास का प्राचीन युग का प्रारंभ (महाभारतकाल) हुआ माना जा सकता है¹⁸। डॉ. ज्योतिप्रसाद ने इस युग को (महाभारतकाल) श्रमण पुनरुद्धार युग माना है। उनका मानना है कि इस काल में वैदिक धर्म, ब्राह्मण संस्कृति और वेदानुयायी क्षत्रिय राजसत्ताओं का ह्वास एवं रूपान्तर (उत्तर वैदिक संस्कृति का उदय) प्रारंभ हुआ तो, दूसरी और तीर्थकरों के धर्म, श्रमण संस्कृति एवं उसके अनुयायी ब्रात्यक्षित्रियों एवं नाग आदि द्रविण वंशियों का आश्चर्य जनक पुनरुत्थान हुआ¹⁹। श्रीकृष्ण जी ने भी वेद परम्परा से भिन्न आत्मा को ही महत्त्व दिया तथा स्वर्ग के देवों की स्थापित मान्यता को नहीं मानकर कर्म को ही महत्त्वपूर्ण माना²⁰। नेमिनाथ के काल में नेमिनाथ के निर्वाण पश्चात् का एक ऐतिहासिक साध्य ताम्रपत्र पर लिखा 'दान-पत्र' काठियावाड़ में प्राप्त हुआ जिसमें नेमिनाथ की भक्ति करने का उल्लेख है इस दान पत्र का उल्लेख 19 मार्च, 1935 को प्रकाशित 'टाईम्स ऑफ इंडिया' में डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने अपने लेख में किया था। "सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्दियान सप्त्राट नेबुचेदनजर ने जो रेवा नगर (काठियावाड़) का अधिपति है यदुराज की इस भूमि (द्वारका) में आकर

रेवताचल (गिरनार/उर्जयन्त) के स्वामी नेमिनाथ की भक्ति की तथा उनकी सेवा में दान अर्पित किया।" दान पत्र पर उक्त पश्चिमी सप्त्राट की मुद्रा भी अंकित है और उसका काल 1140 ई.पू. के लगभग अनुमान किया जाता है²¹। उल्लेख मिलता है कि भगवत गीता के महानायक एवं महाभारत के नायक श्रीकृष्ण एवं श्रमण संस्कृति के पुरोहा 22 वें तीर्थकर नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) आपस में चर्चेरे भ्राता थे। कृष्ण इनकी धर्मसभाओं में उपस्थित होने वाले प्रमुख राजपुरुष थे। कृष्ण के परिवार जन में से अनेक ने अरिष्टनेमि से वैराग्य की दीक्षा ग्रहण की²²।

डॉ. महावीर कोटिया ने वैदिक संस्कृति के 'छान्दोग्य उपनिषद' में वर्णित श्रीकृष्ण के गुरु अंगिरस को श्रमण संस्कृति के 22 वें तीर्थकर नेमिनाथ को माना है क्योंकि उपनिषदों में 'छान्दोग्य' में उल्लेखित उपदेश और अरिष्टनेमि के उपदेश में अत्याधिक समानता है। इस उपनिषद के अध्याय 3/17 में 'आत्मयज्ञोपसना' है जिसमें दक्षिणा के रूप में तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन का उल्लेख है - अथ य तपोदानमार्जव अहिंसा सत्यवचनमिति अस्य दक्षिणा: 3/17/4²³ यही नहीं छान्दोग्य में अंगिरस आगे कहते हैं - अन्तकाल में उसे तीन मंत्रों का जाप करना चाहिए। (1) तू अक्षित है (अक्षय है) (2) तू अच्यूत है (तू अविनशी है) (3) तू अति सूक्ष्म प्राण है²⁴।

वैदिक संस्कृति में यज्ञ आदि बाह्य आडम्बर और कर्मकाण्ड से रहित आए इन नवीनतम अद्भुत चिन्तन के बारे में डॉ. महावीर कोटिया लिखते हैं "स्पष्ट ही यह विचारधारा वैदिक यज्ञोपासना से भिन्न प्रकार की थी। वैदिक परम्परा में गत यज्ञोपासना के बारे में मान्य तथ्य है कि वह हिंसा व कर्मकाण्ड प्रधान थी"²⁵

जैन धर्म व दर्शन की परम्परा प्रारंभ से ही अहिंसक एवं आत्म प्रधान विचारों पर आधारित रही जैन दर्शन के सिद्धान्त भी प्रारंभ से ही अपरिवर्तनीय रहे हैं, यह परम्परा अहिंसा एवं आत्मा के स्वभाव को परम धर्म मानती है। तप त्याग ऋजुता और सत्य का आचरण इस धर्म का लक्षण है। इस प्रकार घोर अंगिरस द्वारा देवकी पुत्र कृष्ण को दिया गया उपदेश जैन परम्परा व विचार धारा के निकट है²⁶।

डॉ. राधाकृष्ण ने अंगिरस के उपदेश के बारे में विचार व्यक्त किया है "कृष्ण वैदिक धर्म के याजकवाद के विरोधी थे और उन सिद्धांतों का प्रचार करते थे जो उन्होंने घोर अंगिरस से सीखे थे"²⁷।

इस प्रकार यह बहुत स्वाभाविक है कि कृष्ण अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने ही कुल के तपस्वी महापुरुष अरिष्टनेमि के अहिंसा तथा आत्मा की श्रेष्ठता व अमरता के विचारों से प्रभावित हुए थे। इस आधार पर ऐसी सम्भावना बनती है कि 'छान्दोग्य' उपनिषद में वर्णित कृष्ण के आध्यात्मिक गुरु अंगिरस तथा जैन परम्परा

के 22 वें तीर्थकर अरिष्टनेमि अभिन्न व्यक्तित्व हैं, इस प्रकार श्रीकृष्ण और जैन परम्परा के 22 वें तीर्थकर अरिष्टनेमि न केवल समकालीन थे अपितु उनके चर्चेरे भाई भी थे वे उनके आध्यात्मिक विचारों से प्रभावित होने वाले राजपुरुष थे²⁸।”

श्रमण संस्कृति में नेमिनाथ श्री कृष्ण आदि का उल्लेखः

श्रमण संस्कृति के अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण बलभद्र आदि का सविस्तार उल्लेख प्राचीन श्रुतपरम्परा में ई.पू. 300 के लगभग से प्राचीन ग्रंथों में निरंतर प्राप्त होता रहा है, अनेक ग्रंथों में प्रसंगानुसार श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि आदि यदुवंशियों के कथानक प्राप्त होते हैं। ‘हरिवंश पुराण’ जैसे अनेक ग्रंथों में अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण आदि यदुवंशियों का विस्तार पूर्वक वर्णन प्राप्त होता है।

लगभग 300 ई.पू. में श्रमण संस्कृति परम्परा के विभाजन के साथ ही एक संस्कृति में जहाँ चरित्र की अति प्रधानता थी प्रदत्त ज्ञान से आत्मा को श्रेष्ठ मानकर संयम के मार्ग पर निर्बाध चल रहे थे यह विचारधारा उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक फलीभूत हो रही थी, वहाँ दूसरी विचारधारा की परम्परा के समर्थक मगध राज्य में ही रहकर प्रदत्त ज्ञान का संकलन कर लेखन की ओर उन्मुख हो गए, फलस्वरूप उस काल में अंगों का संकलन कर उसे लिपिबद्ध करने का कार्य प्रारंभ किया। इन अंग ग्रंथों में अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न आदि के कथानक प्राप्त होते हैं।

चतुर्थ अंग समवांग सूत्र में प्रतिपाद्य विषय जीव अजीव आदि पदार्थों की गणना है इसमें एक अध्ययन श्रुतस्कंध का है जिसमें श्लाका पुरुषों के नामोल्लेख तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन है, अरिष्टनेमि के उल्लेख के साथ ही 207 सूत्र में वासुदेव श्रीकृष्ण और उनके भ्राता बलभद्र जैसे महापुरुषों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व, उनके लक्षण, वेश, अस्त्र-शस्त्र, ध्वज आदि का वर्णन है। उन्हें ओजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, चमकीले शरीरे वाले, सौम्य, सुभग, प्रियदर्शन, स्वरूपवान्, सुन्दर स्वभाव वाले, सर्वप्रिय, स्वभाविक बली, आहत न होने वाले अपराजित, शत्रु का मर्दन करने वाले, दयालु अमत्सर, अक्रोध, अचपल, परिमिततथा प्रिय संभाषण करने वाले, गंभीर, मधुर व सत्य भाषण करने वाले, शरणागत-वत्सल आदि लक्षण-व्यंजन व गुणों से युक्त, मान उपमान प्रमाण से पूर्ण, सर्वांगसुन्दर, चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन, महान धनुधारी विशिष्ट बल धारक, दुर्धर धनुधारी, धीर पुरुष आदि का उल्लेख प्राप्त होता है²⁹।

षष्ठम अंग ज्ञात् धर्मकथा में दो श्रुत स्कंध हैं, प्रथम श्रुतस्कंध में 19 अध्याय तथा दूसरे श्रुत स्कंध में 10 अध्याय हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में वासुदेव श्रीकृष्ण का श्रेष्ठ राजपुरुष तथा अर्द्ध चक्रवर्ती के रूप में वर्णन है जिससे उनका प्रभाव और शक्ति

स्पष्ट होती है, एवं सूत्र 29 में तो पाण्डवों ने श्रीकृष्ण को स्वामी कहा है³⁰। द्वितीय श्रुत स्कंध में अरिष्टनेमि तथा उनके समवशरण में थावच्चा पुत्र की दीक्षा के प्रसंग के साथ ही द्वारावती (द्वारका) तथा वहाँ के राजा श्रीकृष्ण एवं उनकी रानियाँ, पुत्रों सेनापति के सहित अनेक वीरों एवं प्रजाजनों का उल्लेख किया गया है। अरिष्टनेमि का द्वारका आगमन तथा कृष्ण का उनके समवशरण में उपदेश श्रवण करना। इसी स्कंध के सूत्र क्रं. 16 में उल्लेख है कि स्वयं श्रीकृष्ण थावच्चा के साथ अरिष्टनेमि के पास गये थे³¹।

अष्टम अंग अन्तकृदशांग का प्रतिपाद्य मुख्य रूप से कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करने वाले महापुरुष हैं इसमें आठ वर्ग तथा 90 अध्ययन हैं, इसके 1,2,4,5 वर्गों में नेमिनाथ, श्रीकृष्ण बलभद्र, उनके माता-पिता तथा उनकी रानियों, पुत्रों, प्रपोत्रों आदि का वर्णन है, द्वारावती नगरी तथा उसके शक्ति शाली राजा श्रीकृष्ण, सेना, सेनापतियों, सुभट्टीरों आदि के साथ अर्हत अरिष्टनेमि के भविष्य कथन के रूप में द्वारावती (द्वारका) का विनाश, श्रीकृष्ण का परलोक गमन आदि का वर्णन है। ग्रन्थ के प्रथम वर्ग के अध्ययन में द्वारका के राजा अन्धवृष्णि तथा रानी धारिणी के पुत्र गौतम कुमार का तृतीय वर्ग के आठवें अध्ययन में कृष्ण के सहोदर कुमार गज सुकुमाल का कुमार अवस्था तथा मुनि अवस्था से मोक्ष प्राप्ति का चरित्र वर्णन है³²।

दशम अंग प्रश्न व्याकरणांग में विषय वस्तु का विभाजन दो द्वारों (आस्त्र और संकर) में हुआ है, प्रत्येक द्वार के 5-5 अध्याय हैं प्रथम द्वार के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण चरित्र तथा उनका श्रेष्ठ अर्धचक्रवर्ती राजा के रूप में वर्णन है तथा उनके परिजनों का वर्णन, कृष्ण को चाणुरमल्ल, रिष्टबैल, कालियनाग का हन्ता कहा गया है। यमलार्जन को मारने वाले, महाशकुनि एवं पूतना के रिपु, कंस का मर्दन करने वाले तथा राजग्रह के अधिपति, वीर राजा जरासन्ध को नष्ट करने वाले के रूप में कृष्ण का उल्लेख है। इस सूत्र में उनके महान गुणों का भी वर्णन है। सूत्र 8 में उनके शस्त्र, अस्त्र तथा लक्षणों आदि का वर्णन है।

उत्तराध्ययन ग्रन्थ की गणना मूल सूत्रों में होती है इसमें कुल 36 अध्ययन हैं, 22 वें अध्ययन में नेमिनाथ चरित्र का वर्णन है। कृष्ण के माता-पिता जन्मस्थान, उनका वासुदेव होना, कृष्ण का नेमिकुमार के लिए राजीमती (राजुल) की याचना करना, नेमिकुमार के विवाह महोत्सव में जाना तथा नेमिकुमार के प्रव्रजित होने पर उन्हें मनोरथ प्राप्त करने के लिए आशीर्वाद देना तथा जितेन्द्रिय व महान संयमी अरिष्टनेमि की वंदना कर द्वारावती लौटने का उल्लेख है³³।

उक्त संदर्भों के आधार पर 22 वें तीर्थकर नेमिनाथ नौवे बलभद्र बलराम, एवं नवमें नारायण श्रीकृष्ण सहित अन्य प्रासांगिक कथानक इसा पूर्व के वर्षों से श्रमण संस्कृति में श्रुत परम्परा से प्रचलित रहे हैं।

उल्लेख प्राप्त होता है कि सौरियपुर के राजा समुद्रविजय 10 भाई और 2 बहिनें थीं - समुद्रविजय, अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अर्भिचन्द्र, वासुदेव तथा कुन्ती और माद्री। वसुदेव (श्रीकृष्ण के पिता) सौरियपुर नगर के राजा थे, वह बहुत सुन्दर थे, इनकी दो पत्नीयाँ थीं देवकी और रोहिणी। बलराम रोहिणी के तथा केशव (श्रीकृष्ण) देवकी के पुत्र थे तथा नेमिनाथ के चरे ज्येष्ठ भ्राता थे। कृष्ण बलभद्र सहित सभी यादववंशी सूरवीरों के साथ पश्चिम एवं दक्षिण भारत के अनेक राजाओं को साथ लेकर मगध के राजा जरासंघ से युद्ध करना युद्ध में जरासंघ की मृत्यु होना। श्रीकृष्ण का महान अर्धचक्रवर्ती सम्प्राट बनकर भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर अविछिन्न राज्य करना तथा त्रिखण्डाधिपति घोषित होना। उनके अधीनस्थ वैताङ्गिरि (विन्ध्याचल पर्वत) से लेकर सागर पर्यंत तक पूर्व में मगधराज से लेकर पश्चिम में द्वारका तक एक छत्र सर्वमान्य राज्य था। कालान्तर में श्रीकृष्ण के चरे भ्राता 22 वें तीर्थकर नेमिनाथ का जैनेश्वरी दीक्षा लेना तथा नेमिनाथ का महान तप के द्वारा चार घातिया कर्मों का नाश करना। तथा उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होना। नेमिनाथ का समवशरण द्वारका में आना तथा कृष्ण का सदलबल उनकी धर्मसभा में बार-बार जाना, श्रीकृष्ण की अनेक रानियों तथा प्रद्युम्न आदि पुत्रों सहित गज सुकुमाल आदि का जैनेश्वरी दीक्षा लेकर कल्याण करना। द्वारका तथा यादववंश के विनाश का यादववंशियों का मदिरापान कर मदोन्मत्त होना, यादववंशियों के एवं द्वारावती के नाश का कारण तीर्थकर नेमिनाथ से जानना तथा द्वारका एवं यादववंश को बचाने का प्रयत्न करना। लेकिन सफल न हो पाना अन्त में नेमिनाथ के कथनानुसार ही यादववंश एवं द्वारका का नष्ट होना तथा श्रीकृष्ण को जरदकुमार का बाण लगने से मृत्यु वरण करना, एवं बलभद्र का मुनि दीक्षा लेकर अपना कल्याण करना आदि वर्णन प्राप्त होता है।

उपलब्ध साहित्य में प्रस्तुत वर्ण्य विषय पर सर्वप्रथम व्यवस्थित लेखनी चलाकर प्राकृत भाषा में संघदासमणि, धर्मदासगणि ने 'वसुदेव हिन्दी' नाम से 5 वीं सदी में ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 29 लंभक 11000 श्लोक प्रमाण हैं तथा द्वितीय भाग में 69 लंभक 16000 श्लोक प्रमाण हैं।³⁴

आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' नाम से संस्कृत भाषा में ग्रंथ लिखा इस ग्रंथ का लेखन 783 ई. सन् में पूर्ण हुआ। यह ग्रंथ 66 सर्गों की एक विशाल कृति है, यह ग्रंथ महाकाव्य के गुणों से युक्त एक उच्च कोटि का काव्य ग्रंथ है। अरिष्टेमि एवं श्रीकृष्ण सहित उनके परिजनों को विषय वस्तु बनाने वाले जैन संस्कृति में वसुदेव हिन्दी से लेकर हरिवंशपुराण को आदि लेकर प्रद्युम्न चरित्र रिट्टेमि चरित्र, उत्तर पुराण, महापुराण, तिसिंह महापुरीस, त्रिष्णि श्लाका पुरुष आदि ग्रंथ रचे गये। प्राकृत भाषा में 2, संस्कृत भाषा में 10, अपभ्रंश भाषा में 10 तथा हिन्दी भाषा में 30

ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार उपलब्ध जैन साहित्य में 52 ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। जैन संस्कृति में एक ही कथानक पर इतने अधिक ग्रंथ लिखे जाने से यह तो स्पष्ट है कि नारायण श्रीकृष्ण और तीर्थकर नेमिनाथ का कथानक जैन संस्कृति में प्राचीनकाल से आज तक जीवन्त अवस्था में है तथा यह कथानक जैन संस्कृति का एक विशिष्ट अंग है। विशेष बात यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर सभी ग्रंथों के कथानकों में समानता दृष्टव्य होती है जो यह स्पष्ट करती है कि प्राचीन काल से लेकर (महाभारत काल से लेकर) आज तक यह कथानक अपने मूल रूप में विद्यमान है।

त्रिमण संस्कृति से संदर्भित वर्ण्य विषय की ख्याति इस मान्यता के आधार पर ही स्पष्ट होती है कि 'हरिवंशपुराण' नाम से अलग-अलग कालों में लगभग एक जैसी विषय वस्तु को लेकर अनेक कृतियाँ लिखी गयी। जिसमें 9 हरिवंश पुराण कालान्तर से विभिन्न लेखकों के माध्यम से प्रकाशन में आए हैं यह संख्या और अधिक भी हो सकती है। हरिवंशपुराण नाम से उपलब्ध ग्रंथों की कालावधि सहित सूची इस प्रकार है :

आचार्य जिनसेनकृत 'हरिवंश पुराण' 783 ई. सन् में (संस्कृत भाषा)

धबल कृत 'हरिवंश पुराण' 11 वीं शताब्दी में (अपभ्रंश भाषा)

यशः कीर्ति कृत 'हरिवंश पुराण' 1440 ई. (अपभ्रंश भाषा)

श्रुत कीर्ति कृत 'हरिवंश पुराण' 1495 ई. (अपभ्रंश भाषा)

ब्रह्मजिनदत्कृत 'हरिवंश पुराण' 1605 ई. (संस्कृत भाषा)

नेमिदत्त कृत 'हरिवंश पुराण' 1617 ई. (संस्कृत भाषा)

ब्रह्म. जिनदास कृत 'हरिवंश पुराण' 1563 ई. (हिन्दी भाषा)

शालिवाहन कृत 'हरिवंश पुराण' 1638 ई. (हिन्दी भाषा)

खुशालचन्द काला कृत 'हरिवंश पुराण' 1732 ई. (हिन्दी भाषा)

इस प्रकार संस्कृत भाषा में 03, अपभ्रंश भाषा में 03 और हिन्दी भाषा में 03 हरिवंश पुराण उपलब्ध होते हैं।

त्रिमण संस्कृति में नेमिनाथ, श्री कृष्ण आदि के कथानक

हरिवंश में राजा यदु उत्पन्न हुए जिनके नाम से यादववंश की उत्पत्तिहुई। यदु के पुत्र नरपति नरपति के सूर और सुवीर पुत्रों में से सुवीर ने मथुरा में राज्य किया एवं सूर ने शौर्यपुर बसाकर राज्य किया।

राजा सूर से अंधकवृष्णि आदि अनेक सूरवीर पुत्र उत्पन्न हुए। राजा अंधकवृष्णि की सुभद्रा नामक रानी से समुद्र विजय से वसुदेव पर्यन्त दस पुत्र तथा कुन्ती माद्री नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। मथुरा के राजा सुवीर से भोजक वृष्णि आदि पुत्र उत्पन्न हुए। राजा भोजकवृष्णि की पद्मावती रानी से उग्रसेन, महासेन,

देवसेन उत्पन्न हुए।

राजा वसु के कुल में वृहद्रथ का पुत्र मगध का राजा तीन खण्ड का अधिपति प्रतिनारायण जरासंध हुआ तथा जरासंध की अनेक रानियों से कालयवन जैसे नीतिज्ञ पुत्र उत्पन्न हुए।

समुद्र विजय के लघु भ्राता वसुदेव अत्यन्त सुन्दर थे, जब भी वह नगर में निकलते महिलाएँ उहँ देखकार अपनी सुध-बुध खोकर बिहँल हो जाती थी इसलिए नगर के लोगों ने समुद्र विजय से निवेदन किया तब वसुदेव पर से नगर में निकलने पर गोपनीय ढंग से प्रतिबंध लगा दिया गया। वसुदेव को अपने ऊपर लगे प्रतिबंध का पता लगने पर वह शौर्यपुर छोड़कर अपने को मृत घोषित करते हुए अन्यत्र चले गये तथा अनेक देशों में भ्रमण करते हुए तथा अपने पुण्योदय से अनेक राजाओं का आश्रय प्राप्त कर उनकी कन्याओं से विवाह कर कालान्तर में समुद्र विजय को सूचना देकर पुनः शौर्यपुर वापिस आ गये तथा राजकुमारों को युद्ध विद्या में पारंगत करने लगे।

इधर मुनि वशिष्ठ का जीव निदान बंध करके महाराज उग्रसेन की महारानी के गर्भ से अत्यन्त क्रूर परिणामों सहित उत्पन्न हुआ, क्रूर परिणामों के कारण उग्रसेन ने बालक को संटूक में रखकार यमुना में प्रवाहित कर दिया; जिसे मन्दोदरी नाम की महिला ने प्राप्त कर उसका पालन किया तथा बालक का कंस नाम रख दिया। कंस अत्यंत वीर होने के कारण राजकुमारों के साथ युद्ध कौशल की शिक्षा प्राप्त करने लगा।

इधर महाराज जरासंध ने घोषणा करवाई कि जो भी व्यक्ति पोदनपुर के राजा सिंहरथ को बांधकर मेरे सामने प्रस्तुत करेगा उसके साथ मैं अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह कर आधा राज्य प्रदान करूंगा। घोषणा सुनकर वसुदेव ने कंस को साथ लेकर पोदनपुर जाकर राजा सिंहरथ को बांधकर जरासंध के सामने प्रस्तुत कर दिया। महाराज जरासंध ने वसुदेव के कहने से कंस के साथ अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह कर दिया।

कंस के यह पता चलने पर कि उसके माता-पिता ने जन्म होते ही मुझे मरने के लिये यमुना में प्रवाहित कर दिया तो उनसे बदला लेने हेतु उसने मथुरा जाकर माता-पिता (उग्रसेन और पद्मावती) को बंदी बनाकर स्वयं राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो गया।

कंस वसुदेव का बहुत सम्मान करता था अतः उसने अपनी बहिन देवकी का विवाह वसुदेव के साथ करके उनको मथुरा में ही रहने का निवेदन किया, अतः वसुदेव देवकी सहित अन्य रानियों के साथ मथुरा में रहने लगे।

जब कंस को अवधिज्ञानी मुनि के निमित्त से यह पता चला कि उसकी

बहिन देवकी का बेटा ही मेरा वध करेगा तो वह बहुत संशक्ति रहने लगा तथा अपनी निगरानी में ही देवकी की प्रसूति करवाने लगा। तीन प्रसूती में युगल पुत्र उत्पन्न हुए जिन्हें वसुदेव ने भद्रलपुर (विदिशा) के श्रेष्ठी की अल्का नाम की पुत्री के घर छोड़कर उनके मृत युगल पुत्रों को लेकर कंस को मृत पुत्रों के होने की सूचना दिया करते थे। सप्तम पुत्र के रूप में महाशुक्र स्वर्ग से निर्नामक मुनि का जीवच्युत होकर देवकी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ जिसे वसुदेव और उनके पुत्र बलभद्र ने यमुनापार नन्दगोप को सौंपकर उनकी सद्यजात पुत्री को लेकर वापिस मथुरा आ गये। पुत्री को जन्मा जान कंस ने पुत्री को लेकर उसकी नाक चपटी कर छोड़ दिया। इधर देवकी का सप्तम पुत्र नन्दगोप के यहाँ कृष्ण के रूप में विख्यात होने लगा। संशक्ति कंस ने अपने शत्रु को पहचानकर कृष्ण को मारने के अनेक गोपनीय उपाय प्रारंभ कर दिये, कंस उन उपायों में सफल न हो सका। जब श्रीकृष्ण का मरण न हुआ तब कंस स्वयं मल्लयुद्ध में कृष्ण को मारने के लिये आ गया लेकिन कृष्ण ने कंस को यमराज के पास भेज दिया तथा कंस के पिता उग्रसेन को पुनः मथुरा का राजा बना दिया।

जब जरासंध को अपनी लाडली पुत्री जीवद्यशा के विधवा होने का समाचार मिलने पर वह बहुत दुखी हुआ तथा श्रीकृष्ण सहित यादववंशियों का नाश करने के विचार से अपने पुत्र कालयवन के नेतृत्व में विशाल सेना भेज दी। लेकिन समुद्र विजय, बलभद्र, श्रीकृष्ण सहित समस्त यादववंशियों ने जरासंध के पुत्र को मार दिया जिससे जरासंध बहुत दुखी तथा क्रोधित हुआ। ऐसा उल्लेख आता है कि जरासंध ने समुद्र विजय पर 346 बार आक्रमण किया लेकिन वह बार-बार पराजित होता रहा³⁵।

इधर राजा समुद्र विजय की महारानी शिवादेवी ने 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ को वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन जन्म दिया। जन्म के पूर्व ही कुबेर ने शौर्यपुर को दुल्हन की तरह सजाया तथा 15 माह तक रत्नों की वर्षा की थी। सौर्धम इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठकर अन्य देवों के साथ नेमिनाथ का जन्मकल्याणक मनाने शौर्यपुर आया। तीर्थंकर बालक नेमिनाथ धीरे-धीरे समयानुकूल देहादि की वृद्धि को प्राप्त होने लगे।

‘महाभारत’ के अनुशासन पर्व के अध्याय 149 में ‘विष्णु सहस्रनाम’ में नेमिनाथ का उल्लेख आता है, ‘कालनेमिनेह वीरः शूरः शौरिर्जनेश वरः³⁶।’ वैदिक संस्कृति के हरिवंशपुराण में वृष्णि के पुत्र चित्रक के बारह पुत्रों में से एक पुत्र का नाम अरिष्णेमि मिलता है³⁷।

इधर जरासंध अपनी हार तथा पुत्रों के मरण से अत्यन्त खेद खिन्न होता हुआ यादवों के समूलनाश का लक्ष्य बनाकर विशाल सेना के साथ युद्ध की तैयारियाँ

करने लगा। इसी समय यादवों के चतुर चरों द्वारा यदुवंशियों को यह समाचार विदित हुआ कि जरासंध आक्रमण करने वाला है तो शौर्यपुर, मथुरा और वीर्यपुर के यादवों के प्रमुख लोगों ने मंत्रणा की तथा तय किया कि जरासंध त्रिखण्डाधिपति है चक्र खड़ग गदा और दण्डरत के कारण वह अजेय माना जाता है तथा उसके हम लोगों पर बहुत उपकार भी हैं; लेकिन इस समय वह अत्यन्त कुद्ध तथा विवेकहीन हो गया है। हमें जरासंध से युद्ध करने के लिए शक्ति संग्रह करना आवश्यक है इस समय हमारी परिस्थितियाँ प्रतिनारायण जरासंध से युद्ध करने की नहीं हैं इसलिए हम सबको यह स्थान छोड़कर पश्चिम की ओर जरासंध के राज्य से दूर अविलम्ब प्रस्थान करना चाहिए।

यादववंशियों ने अपने जन्म स्थान को छोड़कर पश्चिम की तरफ समुद्र तट की ओर प्रस्थान किया तथा पश्चिमी समुद्र के किनारे वैभवयुक्त द्वारका नगर बसाकर सुख चैन से रहने लगे। यादव वंशी कृष्ण बलराम के प्रताप से अधिक वैभव संपन्न होने लगे। पश्चिमी क्षेत्र के लगभग सभी राजा श्रीकृष्ण की आज्ञा स्वीकार करने लगे।

इसी समय श्रीकृष्ण ने कुण्डनपुर के राजा की पुत्री रूक्मणी का हरण कर रूक्मणी के साथ विवाह कर लिया तथा उनको पटरानी का पद प्रदान किया। श्रीकृष्ण की प्रथम पत्नी सत्यभामा ने जब यह समाचार सुना तो वह रूक्मणी से ईर्ष्या करने लगी।

कालांतर में सत्यभामा और रूक्मणी ने एक ही रात में पुत्रों को जन्म दिया रूक्मणी के पुत्र को उसके पूर्व जन्म के बेरी धूमकेतु देव ने हरण कर एक विशाल शिला के नीचे मरण हेतु दबा दिया लेकिन पुण्योदय से विद्याधर कालसंवर ने उस बालक को शिला के नीचे से निकालकर अपनी निसन्तान रानी कनकमाला को दे दिया। बालक के अत्यंत सुन्दर होने के कारण उसका नाम प्रद्युम्न रखा। बालक अपने पुण्य के कारण उम्र के अनुसार देह, बल, विद्या एवं सुन्दरता को प्राप्त होता गया। बड़ा होकर प्रद्युम्न काल संवर विद्याधर को छोड़कर अपने माता-पिता के साथ द्वारका में जाकर रहने लगा।

श्रमण संस्कृति में लोक प्रचलित महाभारत युद्ध का स्वरूप:

जब जरासंध को यह पता लगा कि यादव अभी जीवित हैं तो वह बहुत क्रोधित हुआ तथा उसने यादवों पर आक्रमण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। इधर श्रीकृष्ण सहित यादवों ने भी जरासंध से आर-पार की लड़ाई का मन बना लिया तब श्रीकृष्ण के पक्ष में यादवों के साथ पाण्डव, दशर्थ, उत्तर पश्चिम से भोज दक्षिण से पाण्डय, इक्ष्वाकुवंशी मेरू, राष्ट्रवर्धन, सिंहल बर्बर, शकुनिकाभाई चारुदत्त यमन, आभीर,

काम्बोज, द्रविण देश के नरेश, पद्मरथ आदि अनेक-अनेक राजा साथ हो गये। समुद्र विजय के पास स्वयं एक अक्षोहिणी सेना थी, मथुरा के राजा उग्रसेन, मेरू राजा की एक-एक अक्षोहिणी सेना थी³⁸। सिंहन, राष्ट्रवर्धन की 1/2 अक्षोहिणी सेना थी, अन्य राजाओं की सेना मिलाकर श्रीकृष्ण के पक्ष में 7 अक्षोहिणी सेना तैयार हो गयी थी। इसके साथ ही अरिष्ठेमि, बलभद्र और कृष्ण यह तीन अतिरथ (त्रेष्ठ) वीर थे। इस युद्ध में राजा समुद्र विजय, वसुदेव, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, रूक्मिन, प्रद्युम्न, सत्यक, धृष्टद्युम्न, अनावृष्टि, शत्र्यु, भूरिश्रवस, हिरण्यनाभ सहदेव और सारण यह सब महारथी थे। सभी महाशक्तिशाली अस्त्र, शस्त्रों से सुसज्जित निपुण महाधैर्यवान योद्धा थे।

प्रतिनारायण जरासंध विशाल चतुरंगी सेना सहित पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, मध्यदेश एवं पर्वतों के निवासी राजाओं के अतिरिक्त गांधार नरेश, सिन्ध नरेश, कर्ण, दुर्योधन सहित सभी कौरव तथा दक्षिण से विजयार्द्ध के अनेक विद्याधर जरासंध के साथ हो गये।

संपूर्ण भारत एवं भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के राजाओं का एक साथ युद्ध में शामिल होने के कारण ही संभवतः इस युद्ध का नाम भारत से ऊपर महाभारत रूढ़ हुआ होगा।

यादवों एवं जरासंध के मध्य होने वाले प्रथम दिन के युद्ध में जरासंध के सेनापति हिरण्यनाभ की मृत्यु हो जाने के कारण जरासंध अत्यंत क्षोभ और क्रोध से भर गया। दूसरे दिन जरासंध, यादव कुमारों से लड़ता हुआ श्रीकृष्ण के सामने पहुँच गया। श्रीकृष्ण एवं जरासंध में भयंकर युद्ध हुआ दोनों ही महाबली पराक्रमी योद्धा थे कहीं से भी किसी की हार की संभावना नजर नहीं आ रही थी। अन्त में जरासंध ने अपने देव रक्षित प्रतिनारायण के चक्र को श्रीकृष्ण को मारने के लिए चलाया चक्र नारायण श्रीकृष्ण की परिक्रमा करके उनके हाथ पर आकर ठहर गया जिससे जरासंध को अपनी मृत्यु का अहसास हो गया। श्रीकृष्ण ने जरासंध का चक्र जरासंध पर चलाकर उसका वध कर दिया। कृष्ण की विजय के साथ ही उन्हें नवमें नारायण वासुदेव घोषित किया गया तत्पश्चात् सभी राजाओं ने अतिशय प्रसिद्ध कृष्ण को अर्ध भरत क्षेत्र के स्वामित्व पद पर अभिशिक्त कर त्रिखण्डाधिपति पद से सुशोभित किया।

इस प्रकार लोक में प्रचलित महाभारत नाम का युद्ध द्वितीय दिवस में ही समाप्त हो गया इस युद्ध में पांडवों ने दुर्योधन सहित कौरवों के अनेक भाइयों को यमलोक पहुँचा दिया जो पृथ्वी पर बचे वे भी मरणासन ही बचे। इस प्रकार हस्तिनापुर का राज्य कौरवों से विहीन होकर पांडवों के पास पहुँच गया यथा श्रीकृष्ण ने जरासंध की मृत्यु के पश्चात् जरासंध के पुत्र सहदेव को मगध का राज्य

सौंप कर द्वारका को प्रस्थान कर गये।

कालान्तर में कुछ घटनाक्रम के पश्चात् अपने भ्राता अरिष्टेनेमि के बल विक्रम को जानकर दूरदृष्टि नीतिवान श्रीकृष्ण ने उनके विवाह की तैयारियाँ प्रारंभ कर दीं, लेकिन नियति तो कुछ और ही संकेत कर रही थी, विवाह के पूर्व ही नेमिनाथ ने वस्त्राभूषण त्यागकर श्रावण शुक्ल षष्ठी के दिन दिगम्बर मुद्रा धारण कर महान तप तपते हुए चार घातिया कर्मों को नष्टकर आषाढ़ शुक्ल अष्टमी के दिन केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त किया तथा समवशरण में विराजमान होकर सभी जीवों को धर्मोपदेश देने लगे। इधर नेमि को व्याही जाने वाली राजमती (राजुल) ने भी नेमिनाथ के जैसा ही मार्ग चुन लिया तथा वे भी नेमिनाथ के पीछे-पीछे उर्जयन्तगिरी पर पहुँच कर तपस्यारत हो गई तथा प्रधान आर्थिका बनकर नेमिनाथ भगवान के समवशरण में विराजमान हो गयीं।

भगवान नेमिनाथ सौराष्ट्र, लाट, मत्सत्य, शूरसेन, पट्टचर, कुरुजांगल, पांचाल, कुशाग्र, मगध, अंजन, अंग, वंग, कलिंग, आदि देशों में विवाह करते हुए मलय देश के भद्रिलपुर नगर के सहस्रामवन में पहुँचे यहाँ वृद्धि को प्राप्त देवकी के तीन युगल पुत्र जो सुदृष्टि सेठ के यहाँ पले बड़े थे, उन्होंने संसार की नश्वरता को समझकर नेमिनाथ भगवान के समवशरण में मुनि दीक्षा ले ली। इस प्रकार देवकी के सात पुत्रों में से श्रीकृष्ण को छोड़कर छः पुत्रों ने मुनि दीक्षा लेकर मोक्ष पथ प्रदर्शित किया। तथा श्रीकृष्ण के अनुज गजकुमार ने भी नेमिनाथ का उपदेश सुनकर मुनि दीक्षा ले ली। इस घटनाक्रम से क्षुब्ध होकर गजकुमार के ससुर ने अति तीव्र क्रोध कषाय के कारण मुनि गजकुमार के सिर पर मिट्टी की सिंगड़ी बनाकर उसमे अग्नि जलाकर उन्हें धोर परिषह दिया देह जलने लगी लेकिन वे जरा भी विचलित नहीं हुए, फलस्वरूप उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी तथा कालान्तर में उन्होंने सिद्धत्व प्राप्त किया।

नेमिनाथ विवाह करते हुए अनेक बार द्वारका गये तथा यदुवंशियों को उपदेश दिया फलस्वरूप श्रीकृष्ण के माता-पिता वसुदेव देवकी और कृष्ण की महारानी रोहिणी को छोड़कर शेष रानियों सहित पुत्रियों ने भी दीक्षा ले ली तथा प्रद्युम्न आदि पुत्रों ने भी नेमिनाथ से प्रभावित होकर सत्य मार्ग पहचानकर कालान्तर में निग्रन्थ मुनि दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया। किसी समय एक प्रश्न के उत्तर में नेमिनाथ ने यादव वंशियों एवं द्वारका का नाश होने का कारण बतलाया कि आज से बारहवें वर्ष में यादवों के द्वारा मद्यपान के नशे में द्वीपायन मुनि पर उदण्डता पूर्वक उपसर्ग किया जाएगा जिससे मुनि के अति क्रोधित होने पर द्वारका एवं समस्त वैभव समाप्त हो जायेगा। बलदेव और श्रीकृष्ण ही द्वारका से बाहर निकल सकेंगे पश्चात् जरत्कुमार के बाण से कृष्ण की लीला समाप्त हो जायेंगी तथा वलभद्र श्रीकृष्ण के

अभाव में मुनि दीक्षा लेकर अपना कल्याण कर लेंगे। इस प्रकार नेमिनाथ के वचनानुसार ही द्वारका का अपना स्वरूप समाप्त हो गया।

नेमिनाथ के समवशरण में वरदत्तादि, 11 गणधर, 400 पूर्वधारि मुनि, 11800 शिक्षक (उपाध्याय) 1500 अवधिज्ञान के धारी मुनि, 1500 केवलज्ञानी मुनि, 900 मनः पर्याय ज्ञान के धारी मुनि 800 वादी मुनि, 1100 विक्रियाधारी मुनि, राजीमती (राजुल) आदि 4000 आर्थिकाएँ थीं। एवं 16900 श्रावक, 336000 श्राविकाएँ थीं।

तीर्थकर नेमिनाथ ने उर्जयन्तगिरी (गिरिनार पर्वत) पर आकर आषाढ़ कृष्ण अष्टमी के दिन 536 मुनियों के सहित मोक्ष प्राप्त किया इस कारण यह निर्वाण भूमि गिरिनार गिरि आज भी देवों एवं मनुष्यों द्वारा पूज्य है। जिसका वर्णन श्रमण संस्कृति में तथा वैदिक संस्कृति के शताधिक ग्रंथों में उपलब्ध होता है तथा शिलालेख एवं अतिप्राचीन अनेक आधारभूत ऐतिहासिक साक्ष्यों ताम्रपत्र आदि में भी प्राप्त होता है।

यादववंश में जरत्कुमार ने पृथ्वी पर राज्य किया तथा महावीर स्वामी के काल तक जरत्कुमार का वंश चलता रहा इसी वंश के जितशत्रु अपनी पुत्री यशोदा का विवाह सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान से करना चाहते थे³⁹ किन्तु वर्धमान तो महावीर बनना चाहते थे, अतः विवाह नहीं हो सका (श्वेताम्बर श्रमण परंपरा में वर्धमान के विवाह का उल्लेख आता है)।

श्रमण संस्कृति में कौरव और पाण्डव:

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर राजा के कुल में शान्तिनाथ के पश्चात अंकम्पनाचार्य आदि 700 मुनियों का उपसर्ग दूर करने वाले विष्णु कुमार मुनिराज आदि के पश्चात प्रतिसर, पारासर, द्वीप, द्वीपायन, सुशान्ति, शान्तिभद्र, शान्तिषेण आदि हुए इन्हीं शान्तिषेण से शान्तनु उत्पन्न हुए। शान्तनु के धृतव्यास, धृतधर्मा, धृतोदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान, धृत हुए। धृत के धृतराज नामक पुत्र हुआ इन्हीं धृतराज की तीन रानियाँ थीं, अंबिका, अम्बालिका और अम्बा / अम्बिका से धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से विदुर तथा धृतराज के भ्राता रूक्मण की रानी से भीष्म (पितामाह) पुत्र उत्पन्न हुए।

धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि 100 पुत्र उत्पन्न हुए तथा पाण्डु एवं कुन्ती से विवाह के पूर्व कर्ण तथा विवाह के पश्चात युधिष्ठिर भीम और अर्जुन तथा दूसरी पत्नी माद्री से नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। पाण्डुपुत्र होने के कारण यह पाँचों पाण्डव नाम से प्रसिद्ध हुए कालांतर में हस्तिनापुर राज्य के दो भाग हो गये एक भाग हस्तिनापुर दुर्योधन आदि 100 भाइयों को तथा दूसरा भाग इन्द्रप्रस्थ युधिष्ठिर आदि

पाँच भाइयों को प्राप्त हुआ।

दुर्योधन कुटिल और कूटनीतिज्ञ था, वह संपूर्ण राज्य का स्वामी बनना चाहता था अतः उसने एक दिन पाण्डु पुत्रों और कुन्ती को लाक्षाग्रह (वृक्ष से निकलने वाली लाख का मकान) में ठहराकर आग लगा दी। कुन्ती सहित पाँचों भाई इस अर्निकाण्ड में बच निकले और स्वयं अंगीकृत अज्ञातवास में रहने लगे। इधर पाण्डवों का अग्नि में जल जाने का समाचार द्वारका तक पहुँच गया। जिसे सुनकर महाराजा समुद्र विजय सहित सभी यादव बहुत दुखी हुए।

पाण्डव अज्ञातवास में कौशिक, ईहापुर, वसुन्धरपुर, विश्रांगनगर, चम्पापुर आदि में भ्रमण करते रहे इस काल में युधिष्ठिर सहित सभी भाइयों के अनेक विवाह हुए, इसी समय भद्रिलपुर के राजा वृष्टध्वज ने भी अपनी पुत्री का विवाह भीम के साथ कर दिया पाण्डव नर्मदा के पार विश्वाचाल पर पहुँचे जहाँ हिंडम्बवंशी राजा सिंहघोष ने अपनी पुत्री हृदयसुन्दरी का विवाह भीम के साथ कर दिया।

बहुत समय के पश्चात् वे हस्तिनापुर वापिस लौटने लगे तब रास्ते में माकंदी नगर में द्रौपद राजा की पुत्री द्रोपदी का अर्जुन ने स्वयंवर में वरण किया तथा अपने बाण से गुरुद्रोण को प्रणाम करके अपना परिचय दे दिया। जब यह समाचार दुर्योधन के पास पहुँचा कि पाण्डव और कुन्ती जिंदा हैं तो वह प्रगट प्रेम करता हुआ उहें हस्तिनापुर वापिस ले आया। लेकिन कुटिल दुर्योधन एक छत्र राज करने का अभ्यस्त हो गया था। अतः वह पाण्डवों के कंटक को हमेशा के लिए निकालना चाहता था। अतः उसने अपने मामा तथा मंत्री शकुनि से परामर्श कर पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को द्युत क्रीड़ा (जुआ) में हराकर सभी पाण्डवों को अज्ञातवास पर भेज देने की योजना बनाई। इस योजना में शकुनि और दुर्योधन सफल रहे। तथा पाण्डवों को बारह वर्ष का घोषित अज्ञात वास प्राप्त हो गया, पाण्डव पुनः वनवासी होकर भ्रमण करने लगे।

वे कालांजल जंगल होते हुए दक्षिण भारत में रामगिरी (वंशगिरी) पहुँचे जहाँ पर श्रीराम ने सैकड़ों जैन मंदिरों का निर्माण करवाया था तथा वनवासका अधिकांश समय भी इसी क्षेत्र में बिताया था। यहाँ से पांडव विराट नगर के विराट राजा के यहाँ भेष बदलकर नौकरी करने लगे, यहाँ पर भीम द्वारा कीचक का अपमान करने के कारण कीचक ने जैनेश्वरी दीक्षा लेकर घोर तप किया तथा अपने कर्मों का क्षय करके मोक्ष पद को प्राप्त किया।

अज्ञातवास का काल समाप्त हो जाने पर पाण्डवों ने अपना राजकाज पुनः संभाल लिया लेकिन दुर्योधन आदि ने यह प्रचारित करने पर कि पाण्डवों का पता तो हमने अज्ञातवास के काल में ही कर लिया था अतः पाण्डवों को पुनः वनवास पर जाना होगा। चूंकि युधिष्ठिर धैर्यवान पुरुष थे तथा वह भाइयों के मध्य की कटुता से

बचने के लिए अपने उत्तेजित लघु भ्राताओं को लेकर पुनः राज्य का परित्याग कर दक्षिण की ओर चले गये। विन्ध्यवन के आश्रम में उनके चाचा विदुर मिले, पश्चात पांडव द्वारका की ओर बढ़ने लगे, जब श्रीकृष्ण ने पांडवों के आगमन का समाचार सुना तो वह उहें बहुत सम्मान के साथ द्वारका लिवा लाये एवं अर्जुन का अपनी चचेरी बहिन सुभद्रा के साथ विवाह कर दिया, शेष चारों भाइयों का भी द्वारका में अन्य-अन्य परिवारों की दूसरी बेटियों के साथ विवाह कर दिया इस प्रकार पांडव द्वारका में सुखपूर्वक रहने लगे। प्रतिनारायण जरासंध और नारायण श्रीकृष्ण के मध्य युद्ध(महाभारत) के पश्चात् जरासंध सहित कौरवों की पराजय के पश्चात् पाण्डवों ने हस्तिनापुर का राजसिंहासन प्राप्त कर लिया।

द्वारका के जल जाने का समाचार सुनकर विह्वल पांडवों ने द्वारका पहुँचकर जरत्कुमार का राज्याभिषेक किया तथा अत्यन्त संताप को देने वाले संसार से विरक्त होकर पल्लव देश जाकर नेमिनाथ भगवान के समवशरण में मुनि दीक्षा लेकर, शत्रुंजयगिरि पर प्रतिमायोग धारण कर ध्यानस्थ हो गए। दुर्योधन के अत्यन्त दुष्ट भांजे द्वारा पाँचों पांडवों पर घोर उपसर्ग करने से युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन ने केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धत्व प्राप्त किया तथा नकुल, सहदेव उत्कृष्ट साधना करते हुए उत्कृष्ट स्वर्ग (सर्वार्थसिद्धि) में 33 सागर आयु भोगने वाले अहमिन्द्र देव हुए।

वैदिक संस्कृति और नेमिनाथः

जैसा कि पूर्व में कहा गया था कि महाभारत ग्रंथ के अनुशासन पर्व के अध्याय 149 में नेमिनाथ का सौर्यपुर के शौरिर्जनश्वरः के रूप में उल्लेख किया गया है। स्कंदपुराण में नेमिनाथ जी और शिव में समानता प्रस्तुत की गयी— शिव ने वामन को दर्शन दिया। वे शिव पद्मासन में स्थित थे, श्यामवर्ण और दिगम्बर थे। वामन ने उन शिव का नाम नेमिनाथ रखा ये नेमिनाथ इस घोर कलिकाल में सब पापों के नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन और स्पर्श मात्र से करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है। पद्मासनः समासीनः श्याममूर्ति दिगम्बरः। नेमीनाथ शिवोऽयैव नाम चक्रेऽस्य वामनः ॥। कलिकाले महाघोरे सर्वपाप प्रणाशकः। दर्शनात् स्पर्शनादेव कोटि यज्ञ फलप्रदः ॥¹⁴⁰

विशेष बात यह है कि इस प्रसंग में प्रथम तो यज्ञों के फल का बहुत महत्त्व बताया जाता है फिर भी यहाँ करोड़ों यज्ञ के फल से श्रेष्ठ नेमिनाथ के दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है तथा वैदिक संस्कृति के ग्रंथों में सामान्यतः शिव के लिए श्यामवर्ण नहीं कहा गया है जबकि स्कंदपुराण में नेमिनाथ और शिव में एकरूपता लाने हेतु शिव को श्याम वर्ण स्वीकार किया गया है।

प्रभास पुराण में नेमिनाथ और रैवतगिरी का उल्लेख करते हुए नेमिनाथ और उनकी निर्वाण भूमि दोनों को मुक्ति का कारण माना है – रैवताद्रौं जिनो नेमिर्युगादि विमलाचले ऋषीणामाश्रमा देव मुक्ति मार्गदशस्य कारणम् ।

प्रसिद्ध इतिहासविद डॉ. राय चौधरी ने वैष्णव धर्म का इतिहास में नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का चरेचरा भाई लिखा है उन्होंने श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। किन्तु आश्चर्य नेमिनाथ के विषय में विशेष ज्ञातव्य नहीं दिया।

पी.सी. दीवान ने इसके दो कारण बताये हैं प्रथम तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं कि जैन ग्रंथकारों द्वारा एक तीर्थकर से दूसरे तीर्थकर के बीच सुदीर्घकाल का अन्तराल कहने में उनका क्या अभिप्राय है, इसका विश्लेषण कर सकें। किन्तु केवल इसी कारण से जैन ग्रंथों में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन को अतिप्राचीन ग्रंथों के आधार पर लिखा गया है, दृष्टि से ओङ्कार कर देना युक्तियुक्त नहीं है। कारण का स्पष्टीकरण है कि भागवत सम्प्रदाय के ग्रंथकारों ने अपने परंपरागत ज्ञान का उतना ही उपयोग किया है, जितना कि कृष्ण को परमात्मा सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। जैन ग्रंथों में ऐसे अनेक तथ्य वर्णित हैं जैसा कि ऊपर दिखाया है जैसा कि भागवत साहित्य के वर्णन में नहीं मिलते।⁴¹

‘महाभारत’ ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का संक्षेपीकरण:

वेदव्यास के ‘जय’ महाकाव्य वैश्वापयन का ‘भारत’ के पश्चात् सुत के ‘महाभारत’ का कथन वैदिक संस्कृति में प्राप्त होता है, सुत ने ‘महाभारत’ ग्रंथ को लिपिबद्ध किया जिसमे 1,11000 श्लोक प्रमाण संख्या है। प्रचलित महाभारत ग्रंथ में प्रस्तुत कथानक का संक्षेपीकरण इस प्रकार है।

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा से अत्रि-चन्द्रमा-बुध-इलानन्दन पुरुरवा-आयु-नहुष- अयाति - पुरु। पुरु के वंश में भरत तथा भरत के वंश में कुरु, कुरु के वंश में शांतनु सत्यवती से व्यास तथा शान्तनु एवं गंगा से देवब्रत (भीष्मपितामह) भीष्म तथा पश्चात् शान्तनु के सत्यवती से चित्रांगद और विचित्रवीर्य। शान्तनु की मृत्यु के पश्चात् चित्रांगद गंधर्व द्वारा मारे गये। भीष्म द्वारा काशिराज की दो कन्याएँ अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य के साथ करवाया गया लेकिन विवाह के कुछ काल उपरांत विचित्रवीर्य का मरण हो जाने पर सत्यवती की अनुमति से व्यास (सत्यवती के प्रथम पुत्र) के द्वारा अम्बिका से धृतराष्ट्र तथा अम्बालिका से पाण्डु उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्र के नेत्रहीन होने से पाण्डु का राज्याभिषेक किया गया। धृतराष्ट्र का गांधारी से तथा पाण्डु का कुंती और माद्री से विवाह हुआ। धृतराष्ट्र के दुर्योधन दुश्मासन सहित सौ पुत्र उत्पन्न हुए जबकि पाण्डु को वनक्रीडा में मैथुनरत हिरण के जोड़े को मार देने के श्रापके कारण निसंतान ही मरण को प्राप्त होना पड़ा लेकिन कुंती को दुर्वासा ऋषि द्वारा प्रदत्त मंत्र के द्वारा धर्मदेव से युधिष्ठिर वायुदेव से भीम और इन्द्रदेव से अर्जुन की प्राप्ति हुई। पश्चात् माद्री को मंत्र के माध्यम से अच्छिनी कुमार

देवों से नकुल और सहदेव का जन्म हुआ, यह पाँचों पुत्र पाण्डु पुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस मंत्र के माध्यम से कुंती ने विवाह पूर्व सूर्य को आमंत्रित करके कर्ण को प्राप्त किया था जिन्हें लोक लाज के भय से पिटारे में रखकर गंगा में बहा दिया था। बाद में कर्ण को धृतराष्ट्र के सारथी अधिरथ ने प्राप्त कर उनका पालन-पोषण किया।

द्रोणाचार्य राजकुमारों को युद्ध कौशल की शिक्षा प्रदान कर रहे थे धृतराष्ट्र और पाण्डु पुत्र उस काल में उनके प्रमुख शिष्य थे। कर्ण जब शिक्षा प्राप्ति हेतु आए तो उसके राजकुमार न होने के कारण द्रोणाचार्य ने उसे शिष्य बनाने से मना कर दिया तब कर्ण ने ब्राह्मण बनकर परशुराम से शिक्षा प्राप्त की। लेकिन जब परशुराम को कर्ण के ब्राह्मण न होने का पता लगा तो परशुराम ने कर्ण को श्राप दे दिया।

इधर दुर्योधन के खोटी बुद्धि होने के कारण पाण्डवों को कुंती सहित लाक्ष्मीग्रह में जलाने का प्रयत्न कर एक क्षत्र राज्य का लक्ष्य तय कर लिया लेकिन विदुर की सहायता से पाँचों पाण्डव और कुंती जीवित वच निकले तथा ब्राह्मण का वेश धारण कर रहने लगे इसी समय भीम ने बकासुर नाम के राक्षस का बध कर दिया।

इधर देवताओं और ब्रह्मा जी के निवेदन से विष्णु ने लोक कल्याण हेतु यादववंश में वृष्टि शाखा के वसुदेव की रानी देवकी से कृष्ण के रूप में जन्म लिया। महाभारत में श्रीकृष्ण की दोवंश परम्पराएँ प्राप्त होती हैं प्रथम तो महाभारत के अनुशासन पर्व में चित्ररथ का छोटा पुत्र शुखसूर से वसुदेव और वसुदेव से चतुर्भुज धारी श्रीकृष्ण⁴²। 147/27-32। द्वितीय महाभारत के द्रौणपर्व में ययाति की रानी देवयानि से यदु हुए उनके वंश में देव मीढ़ से शूर शूर से शौर वासुदेव हुए।⁴³

श्रीकृष्ण का लालन पालन वृन्दावन के नंद और यशोदा के घर हुआ इनके बड़े भ्राता बलराम (बलदाऊ) थे। कृष्ण बचपन से ही बड़े ही पराक्रमी वीर और साहसी थे, बाल्यकाल में ही इन्होंने पूतना, वकासुर, केशी, वृषभासुर, शकटासुर आदि दुष्टों का वध कर दिया था। इन्द्र के नाराज होने पर इन्होंने गायों की रक्षा हेतु गोवर्धन पर्वत को धारण किया, किशोर वय में शक्तिशाली चाणुर मल्ल का वध कर दिया तथा महान शक्ति सम्पन्न कंस राजा को भी यमलोक भेज दिया। वृन्दावन तथा मथुरा को त्यागकर पश्चिमी समुद्र तट के किनारे समुद्र से स्थान प्राप्त कर द्वारका नगरी बसाकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया।

द्रोपदी के स्वयंवर के समय कृष्ण अनेक वृष्णिवंश वीरों के साथ द्वारका से आये थे। अर्जुन के लक्ष्य भेद करने पर द्रोपदी द्वारा अर्जुन का वरण करने पर कौरव सहित अन्य राजा जब पाण्डवों से युद्ध करने को तत्पर हुए तब कृष्ण ने उन सब को समझाकर अपने-अपने राज्यों की ओर वापिस करवाया।

धृतराष्ट्र के बुलावे पर जब पाण्डव हस्तिनापुर गये तब श्रीकृष्ण भी उनके

साथ हस्तिनापुर गये थे तथा खण्डप्रस्थ में इन्द्रप्रस्थ नगरी का निर्माण करवा कर पाण्डवों के राज्य को व्यवस्थित कर द्वारका वापिस लौट गये थे।

पश्चात् युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उन्होंने मगध के महान शक्ति शाली सप्तराज जरासंध का वध करवाया एवं उसके पुत्र सहदेव को मगध के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। राजसूय यज्ञ के अवसर पर श्रीकृष्ण के सम्मान से चिढ़कर चेदिराजा शिशुपाल ने इसका विरोध किया तथा श्रीकृष्ण के लिए कटु शब्द कहे, इससे खिन्ह होकर श्रीकृष्ण ने सभा में ही शिशुपाल का वध कर दिया।

युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ से प्राप्त वैभव दुर्योधन को असह्य हो उठा, उसने दुश्सासन, कर्ण, शकुनि से मिलकर युधिष्ठिर को द्युत क्रीडा के लिये आर्मंत्रित किया तथा कपट से द्यूत में दुर्योधन ने युधिष्ठिर का संपूर्ण राज्य जीत लिया एवं द्रोपदी को भी दौव पर लगाने के लिये प्रेरित किया, तब दुर्योधन ने भरी सभा में द्रोपदी का चीर हरण करवाया जिससे श्रीकृष्ण ने हस्तक्षेप कर बचा लिया।

द्यूत क्रीडा में हारे हुए पाण्डव 12 वर्ष के लिये वनवास चले गये। वनवास काल में श्री कृष्ण पाण्डवों को द्वारका ले आए तथा अपनी चचेरी बहिन सुभद्रा का विवाह अर्जुन से करवा दिया।

12 वर्ष बीत जाने पर पाण्डव विराट नगर में वेश बदलकर रहने लगे इसी समय भीमसेन ने द्रोपदी के सतीत्व हरण करने वाले कीचक को मारडाला इसी काल में कौरवों ने विराट की गायों का हरण कर लिया तब अर्जुन ने उन्हें परास्त कर दिया जिससे पाण्डवों की पहचान हो गयी। विराट राजा ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से कर दिया।

इस काल में श्रीकृष्ण विराट नगर आये तथा पाण्डवों की पुनः राज्य प्राप्ति की न्यायोचित मांग के लिए अपना समर्थन व्यक्त किया दुर्योधन द्वारा इस मांग को अस्वीकार करने पर दोनों पक्षों में युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। कृष्ण युद्ध को टालने के लिये पाण्डवों की ओर से दूत बनकर गये तथा पाण्डवों को पाँच गांव देने तक का प्रस्ताव रख दिया लेकिन वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके, फलतः कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध भीषण युद्ध हुआ इस युद्ध में श्रीकृष्ण अर्जुन के साथी बनकर साथ रहे। यह युद्ध अठारह दिन तक चला युद्ध के अंतिम दिनों तक श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाकर गीताका उपदेश देकर युद्ध लड़ने को प्रेरित किया। मैं ब्रह्म हूँ, तुम इस प्रकार इस आत्मा को समझो, कार्यों की सिद्धि और असिद्धि में समान भाव से रहकर कर्म योग का आश्रय ले क्षात्र धर्म का पालन करो।

परिणामस्वरूप कौरवों के अधिकतम प्रतिष्ठित यौद्धाओं की मृत्यु हो गयी, भीष्म पितामह मृत्युसैयापर हो गये। पाण्डवों की विजय हुई। युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो जाने पर श्रीकृष्ण यादव वीरों के साथ द्वारका वापिस चले गये। धृतराष्ट्र, गांधारी

और कुन्ती वानप्रस्थ आश्रम में चले गये। विदुर दावानल में दग्ध हो गये, लेकिन युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर वे पुनः द्वारका से हस्तिनापुर आए, उसी समय अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ वह मृतक समान था तब श्रीकृष्ण ने उसे जीवित कर उसका नाम परीक्षत रखा।

इस प्रकार विष्णु ने पृथ्वी का भार उत्तरा और धर्म की स्थापना की तथा अर्थर्म का नाश करने के लिए पाण्डवों को निमित्त बनाकर दानव-दैत्य आदि का संहार किया। तत्पश्चात् भूमि का भार बढ़ाने वाले यादवों को भी ब्राह्मणों के श्राप के बहाने मूसल के द्वारा संहार कर डाला तथा अनिरुद्ध के पुत्र बज्र को राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

महाभारत के मौसल पर्व में कृष्ण के परमधाम गमन से संबंधित जो विवरण हैं उसके अनुसार महाभारत के 36 वर्ष पश्चात् विश्वामित्र, कण्व, नारद, आदि के श्राप से कृष्ण के पुत्र साम्ब से एक महाविकट मूसल उत्पन्न हुआ इस समय तक भोज, वृष्टि, अंधक आदि यादववंशी वीरों का चरित्र मद्यपान आदि दुर्गुणों से अत्यधिक भ्रष्ट हो गया था। कृष्ण ने द्वारका में मद्य निषेध करा दिया था। साम्ब से उत्पन्न मूसल को चूर्ण करके समुद्र किनारे फिंकवा दिया। परंतु सावधानी के बाद भी काल यदुवंशियों के पीछे ही घूम रहा था। एक दिन कृष्ण की आज्ञा से सभी यादव प्रभास तीर्थ गये वहाँ अत्याधिक मदिरापान से भ्रष्ट चित्त होकर परस्पर विवाद करते हुए वे लड़ने लगे। मूसल के चूर्ण से उत्पन्न घास एका से लड़कर सभी यदुवंशी विनाश को प्राप्त हुए। वन में भटकते हुए कृष्ण जब आराम करने के लिये पृथ्वी पर लेटे तो मृग के धोखे से जरत नामक शिकारी ने अपने तीक्ष्ण तीर से उन्हें घायल कर दिया, कृष्ण परमधाम सिधार गये। बलराम ने योग धारण कर समाधिमरण किया।

यादवों का विनाश सुन अर्जुन द्वारका आये तथा यादव स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को लेकर वे इन्द्रप्रस्थ की ओर रवाना हो गये इनके जाने के बाद द्वारकापुरी धीरे-धीरे समुद्र में समा गयी। युधिष्ठिर ने संसार की अनित्यता का विचार करके परीक्षित को राज्यसिंहासन पर बिठाकर द्रोपदी तथा भाइयों को साथ लेकर हिमालय की तरफ महाप्रस्थान के पथ पर अग्रसर हुए। उस महापथ में युधिष्ठिर को छोड़ सभी एक-एक करके गिर पड़े।

23 वें तीर्थकर पाश्वनाथ और उनका काल:

जगत के सर्वमान्य ऐतिहासिक महापुरुष तीर्थकर महावीर स्वामी के पूर्व 23 वें तीर्थकर पाश्वनाथ का काल रहा जिसका वर्णन न केवल जैन पुराणों की श्रुत परम्परा में उपलब्ध है बल्कि इतिहास में भी इनके वंश एवं वंशजों का पर्याप्त वर्णन मिलता है। 22 वें तीर्थकर नेमीनाथ के उपरांत उक्त ऋषण पुनरूत्थान के नेता 23 वें तीर्थकर पाश्वनाथ थे। पाश्वनाथ का जन्म उरगवंशी राजा अश्वसेन की महारानी

वामा से 877 ई.पू. में काशी में हुआ था। ‘शतपथब्राह्मण’ के अनुसार ये राजे (उरगवंश के राजा) यज्ञों और वैदिक धर्म के विरोधी थे।⁴⁴

अविवाहित राजकुमार पाश्व ने 30 वर्ष की उम्र में परिवार, राज्य, वैभव त्यागकर-वन में नग्न होकर घोर तपस्या की। इस मध्य पाश्वनाथ के पिछले जन्म के बेरी कमठ ने पाश्वमुनि पर अत्याधिक दुर्धर उपसर्ग किया। लेकिन पाश्वमुनि की तपस्या निश्चल थी। वे न तो डरे और न डिगे, फलस्वरूप उनको मनुष्य जन्म का श्रेष्ठतम फल-केवलज्ञान प्राप्त हो गया और वे मुनि पाश्वकुमार से तीर्थकर पाश्वनाथ भगवान हो गए। देवों ने उनकी सेवा में अपना वैभव लगा दिया, धर्मोपदेश हेतु समवशरण की रचना की गयी। तीर्थकर पाश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थकर नेमिनाथ की चली आ रही परंपरा के अनुसार ही जैन दर्शन के तथ्यों को प्रकट किया। उन्होंने अनेक मनुष्यों की शंका का समाधान करते हुए 100 वर्ष की आयु पूर्ण कर संसार के दुःख जन्म मरण से मुक्ति प्राप्त कर अंतिम देह को सदाकाल के लिए त्याग दिया, इस प्रकार उन्होंने परम निर्वाण को प्राप्त कर लिया।

बाबू कामताप्रसाद लिखते हैं भगवान पाश्वनाथ की ऐतिहासिकता में शंका करने के लिये कोई स्थान नहीं है, बौद्ध ग्रंथ मञ्जिस्म निकाय (1/225) एवं दीघनिकाय और जैन ग्रंथों में उनके शिष्यों के उल्लेख मिलते हैं उनके स्तूप (कंकाली टीला मथुरा) मंदिर और मूर्तियाँ स्वयं उनके काल से अब तक मिलती हैं जिनसे उनका अस्तित्व प्रमाणित होता है उदयगिरी, खण्डगिरी की गुफाओं में पाश्व के जीवन की घटनाएँ उत्कीर्ण हैं।⁴⁵

डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं “तीर्थकर पाश्व का जन्म उत्तर वैदिक काल उपनिषदयुग, श्रमण पुनरूत्थान युग अथवा नाग पुनरूत्थान युग आदि में विभिन्न नामों से सूचित महाभारत एवं महावीर और बुद्ध के मध्यवर्ती (1400 ई.पू. से 600 ई.पू.) काल के प्रायः तृतीय पाद में हुआ था। अतः उस युग के सांस्कृतिक इतिहास में उनका महत्वपूर्ण स्थान है, इनका जन्म उरगवंश में हुआ था जो कि नाग जाति की ही महत्वपूर्ण शाखा थी, अतः उस काल में जागृत नाग लोगों में उनके धर्म का अत्याधिक प्रचार रहा। उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रबल नाग सत्ताएँ, राजतंत्रों अथवा गणतंत्रों के रूप में उदित हो चुकी थीं और लोगों के इष्ट देवता पाश्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। लिच्छवि आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पाश्व का धर्म ही लोकप्रिय था।”⁴⁶

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. जार्ज चारपेण्टर ने भी पाश्वनाथ की सत्ता को स्वीकार किया है, उनके अनुसार “जैन धर्म के मूल सिद्धांतों के प्रमुख तत्त्व महावीर से बहुत पहले पाश्वनाथ के काल से ही व्यवस्थित रहे आए प्रतीत होते हैं”⁴⁷

इसी प्रकार हर्मसवर्थ ने पाश्वनाथ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि “‘गौतम बुद्ध के समय के पूर्व ही पाश्वनाथ द्वारा स्थापित जैन संघ जो कि निग्रन्थ संघ कहलाता था, विधिवत सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय था’”⁴⁸ इसी प्रकार रामप्रसाद चांदा भी पाश्वनाथ के प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखते हैं, ‘यह आमतौर पर स्वीकार किया जाता है कि महावीर से पहले भी जैन साधु विद्यमान थे जो पाश्वनाथ द्वारा स्थापित संघ से संबंधित थे उनके अपने चैत्य भी थे’⁴⁹ डॉ. विमल प्रसाद लाहा इन्हीं तथ्यों की पुष्टि करते हुए एक कदम और आगे जाकर लिखते हैं जैन धर्म के अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी के माता-पिता पाश्वनाथ के द्वारा प्रचारित धर्म के अनुयायी थे आचारांग सूत्र आदि से पता चलता है कि महावीर के माता-पिता पाश्व के उपासक एवं श्रमणों के अनुयायी थे⁵⁰

प्रो. जयचंद विद्यालंकार लिखते हैं कि ‘अथर्ववेद में जिन ब्रात्यों का उल्लेख है वे अहंतों और चैत्यों के उपासक थे ये अहंत और उनके चैत्य बुद्ध के समय के बहुत पहले से विद्यमान थे अभी तक आधुनिक पर्यालोचकों ने केवल तीर्थकर पाश्व की ऐतिहासिकता स्वीकार की है। तथापि इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि महावीर और बुद्ध के पहले भी भारत वर्ष में वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न धर्म (जैन धर्म) विद्यमान थे’⁵¹

मेजर जनरल फलांग 23 वें तीर्थकर पाश्वनाथ के काल पर समसामयिक प्रकाश डालते हुए लिखते हैं “‘ई.पू. लागभग 1500 से 800 पर्यंत बल्कि उसके पूर्व अनिश्चितकाल से संपूर्ण उत्तर पश्चिम तथा मध्य भारत में तूरानियों का जिन्हें सुविधा के लिए द्रविड़ कहा जाता है प्रभुत्व रहा था। उनमे वृक्ष, नाग, लिंग आदि की पूजा प्रचलित थी किन्तु उसके साथ ही उस काल में संपूर्ण उत्तर भारत में ऐसा अति व्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप प्रधान धर्म अर्थात् जैन धर्म अवस्थित था जिसके आधार पर से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्मों के सन्यास मार्ग बाद में विकसित हुए। आर्यों के गंगा तट या सरस्वती तट पर पहुँचने के पूर्व ही लगभग 22 प्रमुख संत अथवा तीर्थकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे उनके उपरांत ई.पू. 8 वी. 9 वी सदी में 23 वें तीर्थकर पाश्व हुए और उन्हें अपने उन समस्त पूर्व तीर्थकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिये हुए पहले ही हो चुके थे, उन्हें उन अनेक धर्मशास्त्रों का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घ काल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा में मौखिक द्वारा से प्रवाहित होते आ रहे थे’⁵²

सबसे सबल प्रमाण महावीर स्वामी के काल में पाश्वनाथ की फण सहित अथवा फड़ राहित प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट होता है कि जैन श्रुत परम्परा में 23 वें तीर्थकर पाश्वनाथ के कथानक सत्यतापूर्ण है।

बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि बुद्ध जब अलार कालम और उद्रक रामपुत्र (दोनों ब्राह्मणों) की शिक्षा से असंतुष्ट होने के बाद बुद्ध राजग्रह पहुँचे वहाँ उहें निर्ग्रन्थ श्रमणों का चातुर्याम धर्म अधिक अनुकूल दिखाई दिया। उनके द्वारा खोजे गए अशृंगिक मार्ग का समावेश चातुर्याम⁵³ धर्म में हो जाता है, यह कथानक स्पष्ट करता है कि बुद्ध महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ के चातुर्याम से प्रभावित थे तथा बुद्ध ने पार्श्वनाथ के अनुयायियों का आश्रय लिया था। जैन ग्रंथों में अनेक प्रसंग हैं जो चातुर्याम का समर्थन करते हैं, पार्श्वनाथ के अनुयायियों को वहाँ “पासाव विच्चव्ज्ज” कहा गया है⁵⁴ आचारांग में महावीर के माता-पिता भी उन्हीं के अनुयायी थे उत्तराध्ययन का कैशी गौतम संवाद इसे स्पष्ट करता है।

पार्श्वनाथ को इतिहास पुरुष सिद्ध करने में करकण्डु चरित्र एवं तेरापुर की गुफाओं में उपलब्ध महत्वपूर्ण पुरातात्त्विक साक्ष्य विद्यमान हैं करकण्डु के बारे में डॉ. ज्योतिप्रसाद जी लिखते हैं “कलिंग के शक्तिशाली नरेश करकण्डु भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ये तीर्थकर पार्श्व के काल में (पश्चात्) उत्पन्न हुए थे और उन्हीं के उपासक थे तथा उस युग के आदर्श नरेश थे। राजपाट को त्यागकर जैन मुनि के रूप में इन्होंने तपस्या की ओर सद्गति प्राप्त की बताई जाती है, तेरापुर आदि की गुफाओं से प्राप्त पुरातात्त्विक चिह्नों से तत्संबंधी जैन श्रुति प्रमाणित होती है”⁵⁵

इन्हीं गुफाओं का उल्लेख बलभद्र ने किया है, भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहामंदिर बनवाये और उनमें पार्श्वनाथ तीर्थकर की पाषाण की प्रतिमा विराजमान करवाई ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान हैं। “करकण्डु चरित्र आदि ग्रंथों के अनुसार तो लयण और पार्श्वनाथ प्रतिमा करकण्डु नरेश से पूर्ववर्ती थे”⁵⁶

पार्श्वनाथ को उनके सार्थक उपदेश के कारण कुछ इतिहासकार प्राचीन भारत से एशिया एवं युनान तक उनका प्रभाव देखते हैं तथा इसके पक्ष में सार्थक पक्ष भी प्रस्तुत करते हैं, डॉ. ज्योतिप्रसाद के अनुसार “ई.पू. 580 में उत्पन्न युनानी दार्शनिक पैथागोरस जो स्वयं महावीर एवं बुद्ध का समकालीन था, वह जीवात्मा के पुर्नजन्म एवं आवागमन तथा कर्मसिद्धांत में विश्वास करता था। सर्वप्रकार की जीवहिंसा तथा मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देता था। यहाँ तक कि वह कतिपय वनस्पतियों को भी अभक्ष्य मानता था, चूंकि यह मान्यताएँ सुदूर, युनान एवं एशिया, साइनर में उस काल में प्रचलित थी जबकि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मों का प्रचार कर ही रहे थे। अतः पैथागोरस आदि पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित रहे प्रतीत होते हैं। वे आगे लिखते हैं इसमें संदेह नहीं है कि पार्श्व की शिष्य परंपरा के साधु महावीर एवं बुद्ध के समय तक विद्यमान थे तथा एक ऐसी अनुश्रुति है कि बौद्ध धर्म के मूल प्रवर्तक बुद्धकीर्ति उनके साथी सारिपुत्र एवं मोदगलायन

आदि प्रारंभ में पार्श्व की परंपरा के ही साधु थे, ये बुद्ध कीर्ति स्वयं गौतम बुद्ध थे अथवा कोई अन्य जैन गुरु यह कहना कठिन है”⁵⁷

उपर्युक्त तथ्यों, साक्ष्यों से स्पष्ट है कि काल के गर्त में मेध से आच्छादित दिनकर सूर्य की तरह 23 वें तीर्थकर पार्श्वनाथ जी हैं जिन्हें किन्हीं कारणों से इतिहास के पृष्ठ भाग पर पहुँचा दिया गया था, जबकि वे ऐसे व्यक्तित्व के धनी थे जो न केवल भारत में बल्कि एशिया युनान आदि देशों में अपनी चर्चा एवं उपदेश के कारण श्रद्धेय, पूज्यनीय रहे। पार्श्वनाथ भारतीय संस्कृति के जाज्वलमान सितारे हैं, वे स्वयं ही संस्कृति हैं, स्वयं ही इतिहास हैं एवं स्वयं ही मोक्ष के पथिक होकर मोक्षवासी हुए। पार्श्वनाथ ने झारखण्ड स्थित पार्श्वनाथ रेल्वे स्टेशन के पास सम्मेदशिखर पर्वत के सुवर्णभद्र नामक स्थान से श्रावण शुक्ला सप्तमी ई.पू. 777 को नश्वर देह को त्यागकर मोक्ष प्राप्त किया। इस स्थान पर आज भी एक विशाल शिखररुक्त जिन मंदिर विद्यमान है, यहाँ लाखों दर्शनार्थी वर्षभर दर्शन करते हैं।

अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी:

24 वें ई.पू. छठवीं शताब्दी में भारतीय संस्कृति के दो महान व्यक्तित्व ने भारत भूमि पर जन्म लिया, इन दोनों का लक्ष्य तो एक ही था, स्वयं को एवं संसार को दुःख से मुक्त करना लेकिन जगत के सर्वमात्य व्यक्तित्व अलग-अलग रास्तों पर चले उनमें से एक थे, श्रमण संस्कृति के 24 वें एवं अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी जो वर्धमान नामधारी थे जिन्होंने वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर जैसी उपाधियाँ प्राप्त की। इनके सम्मुख श्रमण संस्कृति के ज्येष्ठ तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर 23 वें तीर्थकर पार्श्वनाथ के द्वारा प्रशस्त किया गया सरल, स्वच्छ, सुलभ एवं ज्ञात मार्ग था, जिस पर वे बिना अटके-भटके निसंकोच विश्वासपूर्वक चल पड़े। दूसरे थे महात्मा गौतम बुद्ध।

“महावीर स्वामी का जन्म चैत्रशुक्ल त्रयोदशी अर्थात् 30 मार्च 599 ई.पू. में बज्जसंघ के गणतंत्र के अन्तर्गत कुण्डग्राम के ज्ञातृक वंशी काश्यप गोत्री क्षत्रिय नेता सिद्धार्थ एवं उनकी रानी त्रिशला के यहाँ हुआ था।” त्रिशला का अपरनाम प्रियकारिणी विदेहदत्ता भी था। महावीर का मातृपक्ष भी उतना ही ख्याति नाम था, जितना कि पितृपक्ष, महाराज सिद्धार्थ का गौत्र काश्यप था। महारानी त्रिशला का गौत्र वाशिष्ठ था। दिग्म्बर परम्परा में उन्हें नाथवंश उत्पन्न बताया जाता है, संस्कृत ग्रंथों में ‘नाथान्वयन’ एवं प्राकृत ग्रंथों में ‘णाह’ कुलोत्पन्न बताया है किन्तु श्वेताम्बर जैन साहित्य में उन्हें ज्ञातृवंशी कुलोत्पन्न बताया है। बौद्ध साहित्य में तो महावीर के लिए सर्वत्र निंगंठ नातपुत्र शब्द दिया है, जिसका अर्थ निग्रन्थ ज्ञात् पुत्⁵⁸

महावीर स्वामी के जन्म वंश भेद पर बलभद्र जैन का स्पष्टीकरण विचारणीय

है - इस वंश भेद का कारण क्या था ? इस संबंध में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर वस्तुतः नाथवंशीय थे। प्राकृत ग्रंथों में नाथ के लिए 'णाह' शब्द प्रयोग होता आया है किसी भूल या प्रमाद के परिणाम स्वरूप अथवा क्षेत्रगत बोली, भाषा श्वेताम्बर ग्रंथों में 'णाह' शब्द के स्थान पर 'णाय' शब्द प्रयुक्त होने लगा। बौद्ध साहित्य में अनुकरण पर 'नात' का प्रयाग होने लगा। इससे नाथवंश बदलते-बदलते ज्ञातवंश बन गया और महावीर ज्ञातवंशी बन गए।⁵⁹

पितृपक्ष की अपेक्षा से महावीर ज्ञातक पुत्र अथवा नातपुत्र और काश्यप भी कहलाए जबकि मातृकुल की अपेक्षा से वे लिच्छविक और वैशालिय कहलाए। इनकी माता त्रिशला प्रियकारिणी विदेहदत्ता भी कहलाती थी। इस कारण ये विदेह या विदेहदिन भी कहलाये। इनका मूल नाम वर्धमान था। श्रमण संस्कृति के अंतिम तीर्थकर महावीर को बाल्यावस्था काल से ही अपने बलबुद्धि के कारण वीर, अतिवीर, महावीर और सन्मति नाम से उपाधियाँ दी गयीं। जिसमें से वे पाँच नामों से जगत प्रसिद्ध हुए।

1. वर्धमान :

राजा सिद्धार्थ के इस बालक का नाम सौधर्म इन्द्र ने वर्धमान रखा। राजा सिद्धार्थ के बालक का यह नाम सार्थक सिद्ध हुआ, राजा सिद्धार्थ ने कहा जब से बालक प्रियकारिणी (त्रिशला) के गर्भ में आया है तब से हर नगर और राज्य में धन-धान्य की समृद्धि हो गयी।⁶⁰

2. वीर:

सौधर्म इन्द्र में सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक करने के बाद वर्धमान के साथ वीर नाम रखा गया। यह दोनों ही नाम सार्थक थे, उल्लेख आता है अभिषेक में बालक इतने जल प्रवाह को कैसे सहन करेगा ? तब वर्धमान बालक ने इन्द्र की शंका को समझकर पैर के अंगूठे से सुमेरु पर्वत को थोड़ा दबा दिया जिससे इन्द्र को ज्ञात हो गया कि बालक बहुत बलशाली है। अतः इन्द्र ने उनका वीर नाम रखा।

3. सन्मति:

एक बार जब संजय और विजय नाम के चारण ऋद्धि के धारी मुनि को सिद्धांत में कहीं पर शंका हो गयी थी तो वर्धमान को पालने में द्युलता देखकर उन मुनियों की शंका का समाधान हो गया इसलिए उन दोनों मुनियों ने उन्हें सन्मति से सम्बोधित किया। अतः उनका सन्मति नाम रूढ़ हो गया।

4. अतिवीर:

एक बार मदोन्मत हाथी नगर में उत्पात मचा रहा था तब वर्धमान हाथी को वश में करने हेतु हाथी के पास जाने लगे। लोगों के मना करने पर भी वर्धमान हाथी के पास

पहुँच गये, हाथी उन्हें देखकर नतमस्तक हो, सूँड़ उठाकर नमस्कार करने लगा। तब जन समूह ने वर्धमान कुमार की प्रशंसा की और उनका नाम 'अतिवीर' रख दिया।

5. महावीर:

बालक वर्धमान मित्रों के साथ वृक्ष पर क्रीड़ा कर रहे थे तब संगमदेव एक विशाल सर्प का रूप धारण कर वृक्ष से लिपट गया। सब मित्र डर गये तथा वृक्ष से कूद-कंद कर भाग गए, किन्तु वर्धमान सर्प के ऊपर ही चढ़कर उससे क्रीड़ा करने लगे थे। तब संगम देव ने अपने असली रूप में आकर उनकी प्रशंसा कर उन्हें महावीर नाम से संबोधित किया।⁶¹

वर्धमान का ननिहाल:

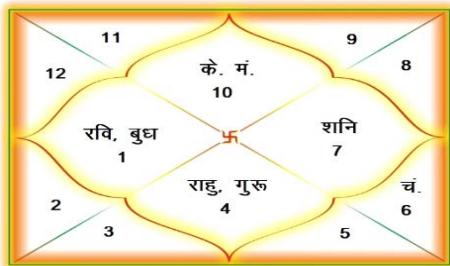
वैशाली के गणपति का नाम चेटक था उनकी रानी का नाम सुभद्रा था, इनके 10 पुत्र धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत, सिंहदत्त, सुकुम्भोज, अकम्पन, पतंगज, प्रभंजन और प्रभास थे तथा 7 पुत्रियाँ त्रिशला, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा और चंदना थी। उनका पुत्र सिंहदत्त वैशाली गण का सेनापति था सात पुत्रियों में सबसे बड़ी त्रिशला कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ को विवाही थी, इन्हीं के पुत्र तीर्थकर महावीर थे। दूसरी मृगावती का विवाह वत्सनरेश शतानीक के साथ, सुप्रभा का विवाह दशार्ण देश के हेमकच्छ के नरेश दशरथ के साथ, प्रभावती का विवाह कच्छदेश की रोरुक नगरी के नरेश उदयन के साथ तथा चेलना का विवाह मगध नरेश श्रेणिक विम्बसार के साथ हुआ था ज्येष्ठा और चंदना ने आर्यिका दीक्षा ले ली थी। चेटक का समस्त परिवार महावीर का भक्त था उनके विभिन्न जमाता भी अपने समय के प्रसिद्ध नरेश थे, वे भी महावीर के भक्त रहे। उनके अतिरिक्त चम्पा के राजा दधिवाहन, कलिंग नरेश जितशत्रु, महावीर के फूफा थे।⁶²

जन्म - कुण्डग्राम के राजा केक तथा रानी यशोमति के पुत्र राजा सिद्धार्थ तथा उनकी रानी त्रिशला के गर्भ में आषाढ़ शुक्ला षष्ठी 'शुक्रवार' (17 जून, ई.पू. 599) में स्वर्गलोक के अन्युत स्वर्ग में पुष्पोत्तर विमान के देव ने अयु पूर्ण कर अवतरण किया। यह वही जीव है जिसने प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के शासन को अहंकारवश नकार दिया था पश्चात् संसार की विभिन्न योनियों में जन्म लेता हुआ पुष्पोत्तर विमान से च्यूट होकर रानी त्रिशला के गर्भ में आया।

गर्भावस्था के समय रानी त्रिशला ने अनेक-अनेक शुभ संकेतों के साथ अत्यंत शुभ फल दायक 16 स्वप्न देखे। कुबेर ने कुण्डलपुर में 15 महीने तक रत्नों की वर्षा की थी चैत्र शुक्ला त्रयोदशी सोमवार 27 मार्च ई.पू. 599 के शुभ लग्न में त्रिशला ने होनहार, कर्मनिष्ठ अत्यंत दयालु, अहिंसा आदि का प्रकाशन करने वाले सर्वश्रेष्ठ पुण्यवान बालक को जन्म दिया। बालक के जन्म के साथ ही रानी त्रिशला

जगत माता के रूप में विख्यात हो गयी, पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के जन्मोत्सव की तरह ही स्वर्ग के देवों ने तीर्थंकर वर्धमान का भी जन्मोत्सव मनाया।

बालक वर्धमान की जन्म कुण्डली



महावीर कालानुसार अपनी वय को प्राप्त हो रहे थे, वे बचपन की अवस्था त्यागकर युवा होने लगे, जितशत्रु अपनी पुत्री यशोदा का विवाह वर्धमान के साथ करना चाहते थे सिद्धार्थ ने वर्धमान से विवाह करने की चर्चा की लेकिन वर्धमान ने अत्यंत शालीनता से कहा 'पूज्यपाद इस नश्वर जीवन के क्षण क्या भोगों के लिए समर्पित करने से सार्थक हो पायेंगे ? मैं इसी जीवन में अमृतत्व की प्राप्ति के लिए साधना करना चाहता हूँ, मैं विवाह नहीं, आपका आर्शीवाद चाहता हूँ, कि मैं अपने लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र कर सकूँ। इस प्रकार अविवाहित रहकर मोक्ष प्राप्त करने के उपक्रम का निश्चय प्रगट कर वे मोक्ष मार्गी हो गए। 'तिलोयपण्णति में वासुपूज्य मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर को कुमार काल में ही दीक्षित बतलाया गया है। समवायांग के सूत्र 19 में भी ऐसा ही लिखा है, टीका कार अभयदेव ने अपनी वृत्ति में भी 'शेषास्तु पञ्च कुमार भाव एवेत्याह' लिखा। स्थानांग में भी पाँच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित लिखा है, आवश्यक निर्युक्ति की गाथा क्र. 243, 244 में पाँचों तीर्थंकरों को कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित लिखा है, पाँचों तीर्थंकरों के कुमार काल में ही दीक्षित होन पर श्वेताम्बर साहित्य (प्राचीन साहित्य) एवं दिग्म्बर साहित्य लगभग एक मत है¹³

मगसिर कृष्ण दसर्वों को वर्धमान इस नश्वर संसार से वैराग्य को प्राप्त हो गये और वे चंद्रप्रभा नामक पालकी में बैठकर ऋजुकूला नदी के किनारे बन में वस्त्राभूषण त्यागकर शालवृक्ष के नीचे कठोर तपस्या में रत होकर आत्मलीन हो गए। लगभग बारह वर्ष तक तप में लीन रहने पर उनके संसार के बंधन चार घातिया कर्म नष्ट हो गए तथा वैशाख शुक्ल दसमी को उनके अंतर से केवलज्ञान प्रगट हो गया फलस्वरूप देवों ने बारह प्रकार के सभास्थल सहित समवशरण की रचना कर दिव्य

ध्वनि (उपदेश) सुनने हेतु तत्पर हो गए। तीस वर्षों तक महावीर स्वामी ने भरत क्षेत्र के अधिकांश क्षेत्र में पहुँचकर भव्यों को उपदेश देते हुए उनकी शंका का समाधान करते हुए मोक्ष मार्ग प्रशस्त करते हुए कार्तिक कृष्ण अमावस्या (विक्रम संवत् 470 से पूर्व, शक संवत् 605 से पूर्व तथा सन् 527 ई. पू.) पावापुर के पद्म सरोवर से संसार के आठों कर्मों से मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लोक के अग्रभाग में सिद्ध शिला पर विराजमान हो गए।

महावीर स्वामी के निर्वाण पश्चात् 21042 वर्ष तक महावीर स्वामी का तीर्थकाल विद्यमान रहेगा ऐसा जैन ग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होता है¹⁴

महावीर का जन्मस्थान:

वर्धमान (महावीर स्वामी) कुण्डपुर में उत्पन्न हुए थे जैन वाड्मय में कुण्डपुर की स्थिति स्पष्ट करने के लिए विदेह कुण्डपुर अथव किंद्रेह जनपद स्थित कुण्डपुर नाम दिये गये हैं, सम्भवतः इसका कारण यह रहा कि उस समय कुण्डपुर नाम के कई नगर थे। यह कुण्डपुर विदेह देश में स्थित था विदेह देश का प्रदेश गण्ड की नदी से लेकर चम्पारण्य तक था। वैशाली, मिथिला, कुण्डपुर आदि नगर इसी विदेह अथवा वीरभुक्त में थे वस्तुतः इसके तीन भाग या जिले थे, वैशाली, कुण्डग्राम और वाणिज्यग्राम। वैशाली और कुण्डग्राम के निकट अवस्थित थे ये दोनों गण्डकी नदी के पूर्वी तट पर थे और वाणिज्य ग्राम गण्डकी नदी के पश्चिमी तट पर स्थित था¹⁵

श्वेताम्बर साहित्य में महावीर को एक विदेहवासी और विदेह के दौहित बताया है तो दूसरी और वैशालिक भी कहा गया है। ये दोनों कथन परस्पर विरोधी नहीं हैं उस समय कुण्डग्राम वैशाली का एक उपनगर था इसलिए उन्हें वैशालिक कहा गया। सारांशः कुण्डग्राम विदेह जनपद में था और वैशाली का उपनगर था¹⁶

वैशाली गणराज्य को वज्जिसंघ अथवा लिङ्छवी गण संघ कहा जाता था इस संबंध में विदेह का वज्जिसंघ और वैशाली का लिङ्छवी संघ सम्मिलित था दोनों की पारस्परिक संधि के कारण विदेह को गण प्रमुख चुना गया। और संघ की राजधानी वैशाली बनी इस संघ में आठ कुल के नो गण थे, भोगवंशी, इच्छावकुवंशी, ज्ञातृवंशी, कौरववंशी, लिङ्छवीवंशी, विदेह कुल और बृजकुल। ये सभी लिङ्छवी थे इनमें ज्ञातृवंशी सर्वप्रमुख थे। लिङ्छवी होने के कारण ही ये अष्टकुल परस्पर संगठित रहे। वैशाली का वैभव अपार था उनमें 7777 प्रासाद 7777 कूटागार, 7777 आराम और 7777 पुष्करिणीयाँ थीं उनमें 7000 सौने के कलश वाले महल, 14000 चांदी के कलश वाले महल, 21000 तांबे के कलश वाले महल थे इन तीनों प्रकार के महलों में क्रमशः उत्तम, मध्यम, जघन्य कुल के लोग रहते थे¹⁷

वीरनिर्वाण सम्बत् एवं दीपावली का प्रचलनः

पावापुर के कमल सरोवर से कार्तिक कृष्णा अमावश्या में निर्वाण हो जाने पर नौमल्ल, नौ लिङ्छवी सहित पावा के तत्कालीन राजा हस्तिपाल ने प्रजा के साथ दीप प्रज्वलित कर महावीर स्वामी का निर्वाणोत्सव तथा गणधर इन्द्रभूति का केवलज्ञान महोत्सव मनाया। इसी दिन से भारत में दीपोत्सव (दीपावली) का शुभारम्भ हुआ। इसी दिन कार्तिक कृष्णा अमावश्या से ही उनकी निर्वाण स्मृति में वीर निर्वाण संवत् का प्रारंभ हुआ जिसका सबसे सटीक और अकाट्य साक्ष्य बड़ली राजस्थान से प्राप्त शिलालेख हैं जो महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् का शिलालेख है जिसमें 'वीर निर्वाण' सम्बत् 84 ब्राह्मी लिपि में अंकित है। यह शिलालेख अजमेर के राजपुताना संग्रहालय में स्थित है, शिलालेख के बारे में डॉ. राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि अशोक के पूर्व के शिलालेख में तिथि अंकित करने की परम्परा नहीं थी, बड़ली का शिलालेख एक अपवाद है⁶⁹ इस शिलालेख में एक और बात यह स्पष्ट हो जाती है कि संसार में कालगणना का प्रारंभ भगवान महावीर के निर्वाण काल से ही प्रारंभ हो गया था जो कि अब तक कि सर्वप्राचीन काल गणना का ऐतिहासिक ठोस साक्ष्य है।

महावीर स्वामी की पूज्यताः

श्रमण संस्कृति के तीर्थकरों में से गर्भ में आने के 6 माह पूर्व से ही देवों द्वारा कुण्डलपुर ग्राम में रत्नों की वर्षा की जाने लगी इस प्रकार वर्धमान के जन्म पर 15 माह पूर्व तक रत्नों की वर्षा होने लगी। सौधर्म इन्द्र ने देवों एवं देवियों सहित उनका जन्म कल्याणक बहुत हर्ष उल्लास से मनाया नगर में अनेक उत्सव हुए इस प्रकार महावीर जन्म के साथ ही वे लोगों की श्रद्धा सम्मान और पूज्यता के पात्र हो गये थे। बचपन से ही वे बलशाली, वीर्यवान, साहसी और तीक्ष्णबुद्धि सम्पन्न थे।

महावीर स्वामी यौवनास्था से ही वैरागी थे इस कारण महावीर स्वामी के प्रति उस काल के लोगों में अगाध श्रद्धा हो गयी थी। उन्हें दीक्षा ग्रहण कर निश्चिरिय हेतु एवं दिग्म्बर होकर कठोर तपक रने से केवलज्ञान प्राप्त हो गया तथा इन्द्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति जैसे कर्मकाण्डी ब्राह्मण अपने 500-500 शिष्यों के साथ उनके प्रधान शिष्य बन गये जिससे महावीर स्वामी की विशेष ख्याति जगत में फैल गयी। श्रद्धातिरेक में अनेक लोगों ने उनके जीवन काल में ही उनकी मूर्तियाँ बनाकर पूजा प्रारंभ कर दी। इन मूर्तियों को जीवंत स्वामी की मूर्ति कहा जाता था। इसी संदर्भ में एक ऐतिहासिक कथानक उल्लेखनीय है - सौवीर नरेश राजा उदयन की महारानी प्रभावती (जो महावीर स्वामी की मासी थी) के पास एक चंदन की जीवन्त स्वामी की मूर्ति थी। अपना मृत्युकाल निकट जानकर महारानी ने वह मूर्ति अपनी प्रियदासी को दे दी जिससे उसकी पूजा होती रहे और स्वयं दीक्षा लेली।

अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत इस मूर्ति को प्राप्त करने के लिए उत्सुक था अतः वह महाराज उदयन की अनुपस्थिति में सिन्धु सौवीर की राजधानी पहुँचा और दासी से गुप्त विवाह करके उस मूर्ति को ले आया, किन्तु इस घटना की सूचना मिलते ही महाराज उदयन ने चण्डप्रद्योत पर आक्रमण कर बंदी बना लिया। उल्लेख मिलता है 'मूर्ति को भद्रिलपुर (विदिशा) में लाकर स्थापित किया गया जिकी अनेक वर्षों तक पूजा होती रही। जब उदयन को यह ज्ञात हुआ कि वह जैन धर्मावलंबी है तो उसे मुक्त कर दिया।⁷⁰

महावीर स्वामी की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा:

महावीर स्वामी के उपदेश से अनेक-अनेक पुरुषों एवं, महिलाओं ने अपनी-अपनी योग्यतानुसार संयम धारणकर मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के रूप में चतुर्विध संघ के रूप अपनी पहचान बनायी। उन्होंने बिना किसी वर्ग, वर्ण जाति लिंग के भेदभाव के बिना मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। जन सामान्य उनके उपदेश से प्रभावित होता। तत्कालीन प्रसिद्ध राजा महाराजाओं ने भी प्रभावित होकर दिग्म्बर मुनि बनकर अपना आत्मकल्याण किया।⁷⁰

महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही लगभग पाँच लाख शिष्य उनके अनुगामी हो गये थे। श्रावक, श्राविकाओं में सभी वर्गों, जातियों के स्त्री पुरुष सम्मिलित थे। भारत वर्ष के प्रायः प्रत्येक भाग में उनके अनुयायी भक्त थे।⁷¹ अतिप्राचीन शिलालेख उड़ीसा की हाथी गुफा के शिलालेख में महावीर स्वामी के समवशरण के आने का उल्लेख है जहाँ पर कतिंग के अधिपति जितशत्रु ने महावीर के समवशरण में मुनि दीक्षा ग्रहण की थी।⁷²

प्रथम गणधर इन्द्रभूति

इन्द्रभूति का जन्म मगधदेश के गोर्बरग्राम/ब्राह्मणपुरी/गौतमपुरा में ब्राह्मण जाति के गौतम गौत्रिय परिवार में लगभग 625 ई.पू. में हुआ था। इनके पिता का नाम वसुभूति तथा माता का नाम पृथ्वी थी। इनकी माता बहुत सुलक्षणा थी। इन्द्रभूति महान वेदान्ती कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। यह व्याकरण, छंद, अलंकार, तर्क, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, वेद वेदांग के महान ज्ञाता थे। विद्वता तथा बुद्धिमता के कारण इनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी इसी कारण दूर-दूर से विद्यार्थी विद्याध्यन हेतु इनके पास आते थे।⁷³

महावीर को केवलज्ञान होने के 66 दिन तक जब उनकी वाणी नहीं खिरी अर्थात जनसामान्य को उनके उपदेश का लाभ प्राप्त नहीं हुआ तो इन्द्र को चिन्ता हुई और उन्होंने अपने कौशल से गौतम के पास जाकर एक शंका प्रस्तुत की। गौतम

शंका का समाधान करने में असमर्थ रहने के कारण अपनी असमर्थता को छिपाते हुए इन्द्र के साथ महावीर स्वामी के पास शास्त्रार्थ हेतु अपने शिष्यों के साथ उद्यत हुए जब वे महावीर स्वामी (वर्धमान) के समवशरण में पहुँचे। महावीर स्वामी के समवशरण को देखते ही उनका शास्त्रार्थ करने का मान गलित हो गया उनके परिणाम अत्यंत निर्मल हो गए और श्रावण कृष्ण प्रतिपदा (557 ई.पू.) को वे वेदान्ती, कर्मकाण्डी ब्राह्मण से श्रमण संस्कृति के अन्तिम तीर्थेश महावीर स्वामी के प्रथम गणधर के रूप में प्रतिष्ठित हो गए इनके 500 शिष्यों को भी सम्यक दर्शन की प्राप्ति हो गयी तथा वे भी अपने गुरु के समान दिगम्बर मुनि मुद्रा को धारण कर महावीर के शिष्य बन गए।

महावीर स्वामी के समवशरण के काल में 30 वर्ष तक वे प्रधान गणधर पद पर प्रतिष्ठित रहे पश्चात् कार्तिक कृष्णा अमावश्या (557 ई.पू.) को महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर 12 वर्ष तक श्रमण संस्कृति का उपदेश देते रहे तथा लोगों की शंका का समाधान करते रहे। लगभग 100 वर्ष की आयु पूर्ण कर वे वीर निर्वाण सम्बत 12 में देह को त्याग कर महावीर स्वामी की तरह अनन्तकाल के लिए मोक्ष महल में विराजमान हो गए।

द्वितीय गणधर अग्निभूति:

अग्निभूति इन्द्रभूति के सहोदर अनुज थे, यह इन्द्रभूति को अपना आदर्श मानते थे तथा इन्द्रभूति के समान ही प्रकाण्ड विद्वान् कर्मकाण्डी वेदान्ती ब्राह्मण थे। अग्निभूति ने भी इन्द्रभूति के समान यश प्राप्त किया था। इसलिए इनके पास भी इन्द्रभूति के समान 500 शिष्य थे।

इन्द्रभूति को महावीर स्वामी के प्रथम गणधर बनने के पश्चात् ही अग्निभूति महावीर के समवरण में पहुँचे तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता के समान सभी शिष्यों के साथ सम्यक् दर्शन को प्राप्त करते हुए सम्यक् चरित्र को ग्रहण कर अपनी शुद्ध आत्मा की पहचान प्राप्त कर ली इस प्रकार वे महावीर स्वामी के द्वितीय गणधर के रूप म प्रतिष्ठित हुए तथा महावीर स्वामी के काल में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

तृतीय गणधर वायुभूति:

वायुभूति, इन्द्रभूति एवं अग्निभूति के सहोदर थे तीनों भाइयों में वे सबसे छोटे थे, इनका जन्म लगभग 595 ई.पू. में हुआ था दोनों ज्येष्ठ भ्रताओं के समान ही यह सभी महान् विद्वान् तथा कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे इनके भी 500 शिष्य थे। अपने दोनों अग्रज भ्रताओं का अनुशरण करते हुए वायुभूति ने भी अपने सभी शिष्यों के साथ समस्त परिग्रह को त्यागकर श्रमण संस्कृति की महान् मुद्रा मुनिमुद्रा को धारण

कर रत्नात्रय का पालन करते हुए वायुभूति ने महावीर स्वामी के तृतीय गणधर के रूप में प्रतिष्ठित हुए तथा महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही लगभग 70 वर्ष की आयु में मोक्ष प्राप्त कर लिया।

चतुर्थगणधर व्यक्त:

इनका अव्यक्त और शुचिदत्त भी नाम आता है। इनका जन्म ब्राह्मण कुल में भारद्वाज गौत्र के धनमित्र के यहाँ हुआ था इनकी माता का नाम बाहिणी था यह कुण्ड ग्राम के पाश्वर में स्थित कोल्लाग नामक ग्राम में उत्पन्न हुये थे। इन्होंने दिगम्बरी जैनदीक्षा धारणकर महावीर के समवशरण में चतुर्थगणधर का पद प्राप्त किया था तथा 80 वर्ष की आयु पूर्णकर महावीर स्वामी के जीवन काल में ही निर्वाण को प्राप्त किया था।⁷⁴

पंचमगणधर सुधर्माचार्य:

महावीर स्वामी के पंचमगणधर सुधर्माचार्य थे इनका जन्म कोल्लाग सन्निवेश में निवास करने वाले ब्राह्मण कुल के अग्निवेश्यायन गौत्र में धम्मिल और भद्रिला के यहाँ हुआ था। यह 'लौहार्य' नाम से भी विख्यात थे। इन्होंने 100 वर्ष की आयु प्राप्त की थी। इन्द्रभूतिगणधर के निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। मुनि जीवन में इन्होंने संपूर्ण भारत वर्ष में बिहार कर जैन धर्म की प्रभावना की। इनके प्रभावशाली गौत्र के नाम से बौद्ध ग्रंथों में अनेक स्थानों पर महावीर स्वामी को अग्निवैश्यायन के रूप में उल्लेखित किया गया।⁷⁵ बंगाल (पुंडवर्द्धन) और बिहार में इन्होंने जैन धर्म की विशेष प्रभावना की।

षष्ठम् गणधर मणिङ्कपुत्रः:

मणिङ्कपुत्र ब्राह्मण कुल के वशिष्ठ गौत्र में उत्पन्न हुए थे, इनकी माता का नाम विजया तथा पिता का नाम धनदेव था। 83 वर्ष की आयु पूर्ण कर महावीर स्वामी के काल में ही इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था।

सप्तम् गणधर - मौर्यपुत्रः:

इनका जन्म मौर्यार्थ्य देश के काश्यप गौत्र में हुआ था इनके पिता मौर्य के नाम से प्रसिद्ध थे, यद्यपि वृहद जैन शब्दार्थव में इनको ब्राह्मण कुलीन कहा गया है,⁷⁶ किन्तु इनके पिता का नाम 'मौर्य' बाची है जो कुल प्रत्यय नाम प्रकट होता है। उधर मौर्य देश की अपेक्षा सम्राट् चन्द्रगुप्त का मौर्यक्षत्री होना प्रकट है। अतः यह सम्भव है कि यह मौर्य पुत्र क्षत्री रहे हों। इनका काश्यप गौत्र भी इसी बात का द्योतक है क्योंकि उपरान्त के जैन लेखकों ने मौर्यों को सूर्यवंशी लिखा है जिसमें काश्यप गौत्र मिलता है।⁷⁷ इन्होंने महावीर स्वामी के जीवनकाल में 95 वर्ष की आयु पूर्ण कर

निर्वाण पद किया।⁷⁸

अष्टम् गणधर अकम्पितः

अकम्पित मिथिलापुरी निवासी ब्राह्मण कुल के गौतम गौत्र में उत्पन्न हुए थे, इनके पिता का नाम विप्रदेव तथा माता का नाम जयंती था। वे 78 वर्ष की आयु पूर्ण कर महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही निर्वाण को प्राप्त हो गए।⁷⁹ लेकिन किन्हीं लोगों का अनुमान है कि अकम्पित चेटकराजा के पुत्र ही गणधर थे।

नवम् गणधर अचलवृत्तः

यह ध्वल और अचलभ्रत नाम से भी जाने जाते हैं, यह कौशलापुरी निवासी ब्राह्मण कुल के हरितापन गौत्र में उत्पन्न हुए थे इनकी माता का नाम नन्दा तथा पिता का नाम बसु था। 72 वर्ष की आयु पूर्ण कर महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया था। अकम्पित गणधर के साथ-साथ 625 शिष्यों के नायक भी थे।

दशम् गणधर मैत्रेयः

मेतार्य अथवा मेदार्य नाम से जाने जाते थे। यह वत्सदेश के तुंगिकाव्य ग्राम के निवासी दत्त के सुपुत्र थे इनकी माता का नाम करूणा था। इन्होंने 60 वर्ष की आयु पूर्ण कर महावीर स्वामी के जीवनकाल में मोक्ष पद प्राप्त किया।⁸⁰

ग्यारहवें एवं अन्तिम गणधर प्रभासः

महावीर स्वामी की गणधर श्रृंखला के अंतिम गणधर प्रभास मुनिराज थे। यह राजग्रह निवासी ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे इनकी माता का नाम भद्रा तथा पिता का नाम बल था। इन्होंने 40 वर्ष की आयु में महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही शिवलक्ष्मी का वरण कर लिया था।

मैत्रेय और प्रभास दोनों ही गणधर संयुक्त गण के नायक थे। इस प्रकार भगवान महावीर के शिष्य अथवा अनुयायी जन्म से जैनी नहीं थे, प्रत्युत वे वैदिक धर्म से जैन धर्म में दीक्षित हुए थे।⁸¹

चन्दना आदि आर्थिकायेः

श्रमण संस्कृति में चतुर्विधि संघ का उल्लेख बहुतायत से मिलता है इस चतुर्विधि संघ में पुरुष वर्ग जहाँ महावीर स्वामी के पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती मुनि दिगम्बरी मुद्रा धारण कर स्व-पर के कल्याण हेतु तत्पर दृष्टव्य होते हैं वर्ही महिलायें एक साड़ी ही पहनकर अपनी साधना में रत रहकर मुक्ति पथ पर चलती हैं इनको आर्थिका के नाम से पहचाना जाता है। यह स्त्रीलिंग में उत्कृष्ट तप धारण कर अपने ब्रतों का निरतिचार पालन करती हैं, महावीर स्वामी के समवशरण में आर्थिकाओं की

संख्या 36000 बताई जाती है।⁸²

यह विदुषी महिलाएँ एक मात्र सफेद साड़ी को ग्रहण कर ग्रीष्म और शीतऋतु में घोर परिषह सहन करती हुई अपना आत्म कल्याण करती हुयी लोगों को सन्मार्ग पर लगाती थीं। वह भी मुनियों के समान ही कठिन ब्रत संयम और आत्मसमाधि का अभ्यास करती थीं। सांसारिक प्रलोभन उनके लिये तुच्छ थे। आज भी आर्थिकाएँ इसी प्रकार अपने कर्तव्य का पालन करती हैं।

इन आर्थिकाओं में प्रमुख थी राजा चेटक की पुत्री, जो कि महावीर स्वामी की गृहस्थ अवस्था की मासी राजकुमारी चंदना थी तथा चंदना की मामी यशस्वती चंदना की बहिन ज्येष्ठा आदि थी। ये आर्थिकाएँ बड़ी विदुषी थीं। बौद्ध शास्त्रों में भी कई जैन साधिक्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें राजग्रही के राजकोटारी की पुत्री भद्रा कुन्दल आदि का उल्लेख आता है, कुन्दल के साथ श्रावस्ती में महात्मा बुद्ध के श्रेष्ठ धर्माचार्य सारिपुत्र से भी वाद का उल्लेख आता है।⁸³

अभय कुमारः

राजकुमार अभय अथवा महामंत्री अभय निश्चित रूप से इतिहास पुरुष हैं, बिम्बसार (श्रेणिक) की राज्य व्यवस्था के प्रमुख सूत्रधार थे। डॉ. ज्योति प्रसाद ने उन्हें 'महावीर के परम भक्त, एक धर्मात्मा, शीलवान, संयमी श्रावक होने के अतिरिक्त एक अत्यंत मेधावी, अद्भुत प्रत्युत्पन्नमति, न्यायशासन दक्ष विलक्षण बुद्धि, कूटनीतिज्ञ, राजनीति पटु, प्रजावत्सल, अति कुशल विशारद एवं आदर्श राज्यमंत्री के रूप में ख्याति सम्पन्न माना है। वे लिखते हैं जब-जब राज्य पर संकट आया, चाहे वह अवन्ति के चण्डप्रद्योत जैसे प्रतिद्वन्द्वी का प्रचण्ड आक्रमण हो अथवा अन्य कोई बाह्य या आन्तरिक दुर्घटना अभय कुमार ने अपने बुद्धि बल से अपने राज्य के धन, जन और प्रतिष्ठा की तुरन्त और सफल रक्षा की।⁸⁴

वे भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमी अंतिम छोर तक अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ते थे। ईरानी सम्प्राट पुरुष (558 ई.पू. से 530 ई.पू.) के पुत्र आर्द्रकुमार राजकुमार अभय के अच्छे मित्र थे, पुरुष के पुत्र आर्द्रकुमार ने राजकुमार अभय के निमंत्रण पर मगध में आकर आतिथ्य स्वीकार किया था तथा भगवान महावीर स्वामी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर महावीर स्वामी के शिष्य हो गए थे।⁸⁵ अर्थात् मुनि दीक्षा लेकर अपना जीवन सफल किया।

राजकुमार अभय का जन्म श्रेणिक (बिम्बसार) की प्रथम पत्नी महान विदुषी, तार्किक, धैर्यवान, नंदश्री की कोख से ६०२ के लगभग वेणपट्ट नगर (वेण्यातट) नामक नगर (दक्षिण भारत) में हुआ था। विवाहोपरान्त निर्वासित श्रेणिक अपनी ससुराल में ही कुछ वर्ष के लिए रहे थे पश्चात मगध में आकर उन्होंने अपने भाई से राज्य प्राप्त कर मगध की शासन सत्ता सम्भाली। राजकुमार अभय का

पालन पोषण एवं शिक्षा ननिहाल में ही महान विदुषी माँ नन्द श्री (नन्दा) की देखेरेख में हुई यही कारण हैं कि बालक अभय तार्किक एवं बुद्धिमान होते गए तथा अनेक प्रसंगों में राजा श्रेणिक को बालक अभय कुमार की विद्वता स्वीकार करना पड़ी, पश्चात् श्रेणिक ने अभय कुमार की विद्वता प्रत्युत्पन्नमति से प्रभावित होकर मगध राज्य का मंत्री नियुक्त किया था। अनेक प्रसंगों में अभय कुमार ने राजा श्रेणिक की व्यक्तिगत सहायता भी की थी।

राजकुमार अभय के अनेक दुर्लभ कार्यों के प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं, अपने पिता श्रेणिक का विवाह चेलना से करवाने में उन्होंने जो कूटनीतिक चालें चली वे इतिहास में अन्य दृष्टिगोचर नहीं होती।

राजकुमार अभय का कथन न केवल दिग्म्बर श्वेताम्बर आम्नाय के ग्रन्थों में मिलता है बल्कि प्राचीन बुद्ध आगम ग्रन्थ मञ्ज्ञम निकाय में भी उन्हें निर्गंठनात पुत्र (निग्रन्थ ज्ञातु पुत्र महावीर स्वामी) के परम भक्त के रूप में स्वीकार किया है और यह भी उन्होंने एक बार शाक्य पुत्र महात्मा गौतम बुद्ध का आदर सत्कार किया था। इस तथ्य से राजकुमार अभय की उदारता, सौजन्यपना और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय मिलता है।

इतने विशाल राज्य वैभव में रहते हुए भी राजकुमार अभय को लिप्सा लेश मात्र भी नहीं थी, वे राज्य के समस्त कार्य अपना कर्तव्य समझकर किया करते थे। उनका वैराग्य धीरे-धीरे अंकुरित होने लगा अतः वे महावीर स्वामी के चरण सानिध्य में पहुँचे तथा मनुष्य जन्म को सफल करने वाली जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर कठिन तपस्या करके केवलज्ञान को प्राप्त कर महावीर स्वामी के ही जीवनकाल में सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया। जैन परम्परा में आज भी दीपावली के दिन अपनी खाता बही में अंकित करते हैं श्री गौतम स्वामी तणी लब्धि होय जो श्री धन्ना शालिभद्र जी तणी ऋद्धि होय जो श्री अभय कुमार जीतणीबुद्धि होय जो।⁸⁶

जम्बू स्वामी:

जम्बू स्वामी के नाम से ख्याति प्राप्त केवलज्ञान प्राप्त करने वाले अंतिम व्यक्ति हुए जिन्होंने इस पंचम काल (कलियुग) में निर्वाण प्राप्त किया इनके पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त करने तथा मोक्ष जाने की परम्परा को विराम लग गया। इसलिए इन्हें अंतिम केवली कहा जाता है। इनका जन्म (दिग्म्बर) जैन श्रमण संस्कृति के अंतिम एवं चौबीसवें तीर्थकर महावीर तथा महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ई.पू. 537 को एक प्रसिद्ध तथा धनवान वर्णिक सेठ अर्हदास की पत्नी जिनमती (जिनदासी भी कथन आता है) की कोख से हुआ था। वर्णिक पुत्र होते हुए भी इन्होंने अस्त्र-शस्त्र चलाने एवं घुड़सवारी करने में श्रेष्ठता प्राप्त की थी।⁸⁷

अत्यंत धीर वीर होने पर यह महाराजा श्रेणिक के विश्वास पात्र थे, यौवन

काल की प्रारंभिक अवस्था में ही श्रेणिक ने इनको केरल के राजा मृगा की सहायता करने के लिए सेनापति बनाकर भेजा कथानक इस प्रकार आता है – ‘केरल के राजा मृगा ने श्रेणिक के पास एक दूत भेजा था कि हंसद्वीप (श्रीलंका) का राजा रत्नचूल केरल पर आक्रमण कर बलात राजकुमारी विलासवती से विवाह करना चाहता है जबकि केरल के राजा मृगांक अपनी पुत्री राजकुमारी का विवाह राजा श्रेणिक के साथ करना चाहता है, इस कारण राजा श्रेणिक ने पराक्रम और शौर्य के धनी जम्बू कुमार के नेतृत्व में एक विशाल सेना मृगांक राजा की सहायतार्थ भेजी। जम्बू कुमार ने हंसद्वीप के राजा रत्नचूल को परास्त कर दिया फलस्वरूप केरल के राजा ने अपनी पुत्री राजकुमारी विलासवती का विवाह राजा श्रेणिक के साथ कर दिया।

राजाज्ञा के पालन में जम्बू कुमार उत्तर से दक्षिण तक गये तथा युद्ध में विजय प्राप्त की पश्चात् जम्बू कुमार ने धर्म का पालन कर संसार से विरक्त होकर निर्ग्रन्थ मुद्रा को अंगीकार मोक्ष मार्ग पर चल पड़े। कथानक इस प्रकार प्राप्त होता है – एक दिन विपुलाचल पर्वत पर महावीर स्वामी के पाँचवें गणधर सुधर्मा स्वामी संघसहित पथधरे⁸⁸ तो राजा अजातशत्रु रनिवास एवं पुरजन सहित उनकी वन्दना करने के लिये गये। साथ में जम्बूकुमार भी सुधर्मा स्वामी सहित संघस्थ मुनिराजों के दर्शन वंदना हेतु गये। जम्बू कुमार को मुनिराजों के दर्शन करने से मुनि दीक्षा के भाव हुए लेकिन परिजनों के विशेष आग्रह के कारण वें घर वापिस आ गये।

घर आने पर परिवार जनों ने तय किया कि जम्बू कुमार का विवाह कर देना चाहिए, जिससे वे भोग उपभोग की सामग्री एवं सुन्दर रमणियों को पाकर वह संसार में रत हो जाएँगे। इस विचार से अष्ट सुन्दर रमणियों से जम्बू कुमार का विवाह तय कर दिया। माता-पिता के विशेष आग्रह से जम्बू कुमार ने विवाह तो कर लिया। लेकिन जम्बू कुमार के अंदर वैराग्य का दीपक जल रहा था, इसलिए उनके दाम्पत्य जीवन में प्रेमरूपी स्त्रीह का दीपक न जल सका। फलस्वरूप वह विवाह के दूसरे ही दिन तपोभूमि की ओर जाने को उद्यत हो गए। नव विवाहिताओं ने अपने हाव-भाव, विलासमयी वार्ता से जम्बू कुमार को अनेक प्रलोभन दिए, तर्क दिए समझाया लेकिन जम्बू कुमार के वैराग्य दीपक की लौ किंचित भी चलाय मान नहीं हुई। इसी समय में सुरम्य देश के पोदनपुर नगर का विद्युत चोर अपने 500 साथियों के साथ इनके घर चौरी करने आया चूंकि गृह स्वामियों के रात्रि जागरण के कारण वह अपने साथियों सहित छुपकर पति-पत्नियों का वार्तालाप सुनने लगा।

विद्युत चोर जम्बू कुमार के वैराग्यमयी वचनों को सुनकर चौरी करना भूल कर जम्बू कुमार के वचनों से प्रभावित होकर जम्बू कुमार के साथ हो गया। जम्बू कुमार के सत्य वचनों से प्रभावित होकर तथा संसार की असारता का भान होने पर आठों नव विवाहिताओं ने जम्बू कुमार के साथ जिन दीक्षा का मन बना लिया। जम्बू

कुमार की माँ ने यह सब समाचार सुना तो उन्हें भी संसार से विरक्ति हो गयी वे भी जिन दीक्षा हेतु तत्पर हो गयीं। इस प्रकार जम्बू कुमार ने विवाह के दूसरे दिवस शिव रमणी का वरण करने के लिए कदम आगे बढ़ा दिए। जम्बू कुमार के साथ विद्युत चोर ने भी अपने 500 साथियों के साथ दीक्षा ले ली। उस दिन कुल 527 भव्य जीवों ने जिन दीक्षा ग्रहण की।⁹

जैन श्वेताम्बर संस्कृति में जम्बू कुमार को 16 वर्ष की उम्र में मुनि दीक्षा लेने का उल्लेख प्राप्त होता है तथा चोर जयपुर के राजा का पुत्र प्रभव कहा गया है जबकि दिगम्बर जैन ग्रंथों में उन्हें युवावस्था में मुनि मुद्रा स्वीकार करना माना गया है, जम्बू स्वामी को ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी के दिन केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तथा वे 40 वर्षों तक सर्वज्ञ के रूप में जैन धर्म की प्रभावना करते रहे।¹⁰

जम्बू स्वामी का बिहार समग्र भारत देश में हुआ किन्तु बंगाल और बिहार से उनका संपर्क विशेष रहा। सुधर्मा स्वामी एवं जम्बू स्वामी पुण्ड्रवर्द्धन (पश्चिम बंगाल) के क्षेत्र में विशेष प्रभाव रहा। केवलज्ञान से परिपूर्ण अंतिम केवली के रूप में जम्बू स्वामी का निर्वाणकाल वीर निर्वाण संवत् 62 माना जाता है।

जम्बू कुमार का जन्म	-वीर निर्वाण संवत् 27 वर्ष पूर्व लगभग
जम्बू कुमार का हंसादीप (श्रीलंका)	-वीर निर्वाण संवत् 13 --"-
के राजा को पराजित करना	
श्रेणिक का विलासवती से विवाह	- वीर निर्वाण संवत् 14 ----
अजातशत्रु का राज्यारोहण	- वीर निर्वाण संवत् 8 -----
सुधर्मचार्य के दर्शन हेतु जाना	- वीर निर्वाण संवत् 9 -----
जम्बू कुमार का पाणिग्रहणकाल	- वीर निर्वाण संवत् 6 -----
जम्बू कुमार का दीक्षा लेना	- वीर निर्वाण संवत् 6 -----
जम्बू कुमार को केवलज्ञान प्राप्त होना	- वीर निर्वाण संवत् 22 में
जम्बू स्वामी का मोक्ष प्राप्त होना	-(वीर निर्वाण संवत् 62)में

श्रुत केवली परम्परा-

जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् जैन श्रमण संस्कृति के इतिहास में आगम के परिपेक्ष्य में अपनी धरोहर समेटे हुए श्रुत परम्परा नाम से परम्परा स्थापित हुई, इसमें केवली का स्थान श्रुत केवली ने प्राप्त किया।

‘तिल्लोय पण्णति’ में कहा गया है कि ‘जो महर्षि सम्पूर्ण आगम (श्रुत) के पारंगत होते हैं, वे श्रुत केवली के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनके चौदहपूर्वी नामक बुद्धि त्रद्धि होती है।’ इसी प्रकार ‘धरवला’ और ‘राजवार्तिक’ में भी उल्लिखित है कि ‘श्रुत केवली हो जाना चतुर्दश पूर्वित्व है।’ जिनेन्द्रवर्णों ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में लिखा है ‘जो जीव सर्व श्रुत ज्ञान को जानता है उसे जिनदेव श्रुत केवली कहते हैं, क्योंकि

सब ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह श्रुत केवली है।’

इस प्रकार जो व्यक्ति संपूर्ण ज्ञान को परोक्ष रूप में निष्पादित श्रुत के माध्यम से जानते हैं वह श्रुत केवली कहे जाते हैं। संपूर्ण श्रुत (द्वादशांग) के ज्ञाता अंतिम केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्य विष्णुनंदि को आदि लेकर पाँच महापुरुष हुये जो संपूर्ण श्रुत ज्ञान में पारंगत थे।

आचार्य विष्णुनंदि: अंतिम केवली जम्बू स्वामी ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पूर्व विष्णुनंदि आदि को द्वादशांग का अध्ययन कराया और केवली होकर (केवलज्ञान प्राप्त कर) 38 वर्षों पर्यंत जिन शासन को उद्योग (प्रकाशित) किया। 20 वर्षों तक विष्णुनंदि ने विभिन्न देशों में बिहार किया और अंत में नंदिमित्र को द्वादशांग श्रुत और संघ का सब भार समर्पण कर देवलोक को प्राप्त किया।

आचार्य नंदिमित्र: नंदिमित्र कठोर साधना, ध्यान और अध्ययन दोनों कार्यों में अपना समय लगाते थे, उपर्सग आदि आने पर अपने आत्मध्यान में लीन हो जाते थे, वे संघ में संपादित गुणों के कारण महत्व को प्राप्त थे। 20 वर्ष तक संघ सहित विविध देशों तथा नगरों में बिहार कर वीर शासन की महती प्रभावना की अन्त में अपना संघ आचार्य अपराजित को सौंपकर देव लोक गमन किया।

आचार्य अपराजित: आचार्य नंदिमित्र के शिष्य आचार्य अपराजित ने तपष्चरण कर आत्मघोधर अपने कथाय मल को उपशम करते हुये निरंतर आत्मकल्याण में रहते हुए अपनी सौम्य प्रकृति और मिष्ठ संभाषण से संघ के श्रेष्ठ पद को धारण करने वाले द्वादशांग वेत्तावाद में प्रधान रहने वाले श्रुत केवली रहे। आयु के अंतिम समय में अपने शिष्य गोवर्धन को पद देकर उन्होंने देवलोक गमन किया।

आचार्य गोवर्धन: अन्तरबाह्य ग्रंथियों को त्याग करने वाले, प्रकाण्ड विद्वान्, विशिष्ट सामुद्रिक शास्त्र एवं निमित शास्त्र के ज्ञाता थे अंतिम श्रुत केवली भद्रबाहु की बाल्यावस्था में पहचान करने वाले अत्यंत तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाले चौदह पूर्व सहित द्वादशांग के ज्ञाता थे, अपना आचार्य पद अपने शिष्य भद्रबाहु को प्रदान कर देवलोक गमन किया।

आचार्य भद्रबाहु: ब्राह्मण कुल में उत्पन्न सोम शर्मा के पुत्र थे, गोवर्धन आचार्य के शिष्य आचार्य भद्रबाहु थे, यह अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धि और महान धैर्य के धारक थे, गोवर्धन आचार्य ने उनको अनेक विद्याएँ सिखाकर निपुण बनाकर वापिस माता-पिता के पास भेज दिया लेकिन उनका घर में मन नहीं लगा तथा गुरु चरणों में जाकर दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर पुनः विद्याध्ययन करके द्वादशांग के ज्ञाता हो गए तथा अंतिम श्रुत केवली हुए, इनके पश्चात् कोई भी आचार्य संपूर्ण श्रुतांगों का ज्ञाता नहीं हुआ। इनके काल में ही दिगम्बर परम्परा में से श्वेताम्बर संस्कृति का मत प्रारंभ हो गया।

महावीर की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा :

क्रं.	नाम	गुरु का नाम	काल	वीर नि. सं.	विशेषता
1	गौतम गणधर	महावीर स्वामी	527-515 ई.पू.	1-12	केवली
2	सुधर्मचार्य	महावीर स्वामी	515-503 ई.पू.	12-24	केवली
3	जम्बू स्वामी	महावीर स्वामी	503-465 ई.पू.	24-62	केवली
4	विष्णु	जम्बू स्वामी	465-451 ई.पू.	62-77	12 अंगधारी श्रुत केवली
5	नन्दिमित्र	विष्णु	451-435 ई.पू.	77-93	12 अंगधारी श्रुत केवली
6	अपराजित	नन्दिमित्र	435-413 ई.पू.	93-115	12 अंगधारी श्रुत केवली
7	गोवर्धन	अपराजित	413-394 ई.पू.	115-134	12 अंगधारी श्रुत केवली
8	भद्रबाहु (प्रथम)	गोवर्धन	394-365 ई.पू.	134-163	12 अंगधारी श्रुत केवली
9	स्थूलभद्र	भद्रबाहु (प्रथम)	394-360 ई.पू.	134-160	श्वेताम्बर संघ प्रवर्तक
10	विशाखाचार्य	स्थूलभद्र	365-355 ई.पू.	163-173	11 अंग 10 पूर्व
11	प्रोष्ठिल	विशाखाचार्य	355-336 ई.पू.	173-192	पूर्ववत्
12	क्षत्रिय	प्रोष्ठिल	336-319 ई.पू.	192-209	पूर्ववत्
13	जयसेन	क्षत्रिय (प्रथम)	319-298 ई.पू.	209-230	पूर्ववत्
14	नागसेन	जयसेन (प्रथम)	298-280 ई.पू.	230-248	पूर्ववत्
15	सिद्धार्थ	नागसेन	280-263 ई.पू.	248-265	पूर्ववत्
16	घृतिषेण	सिद्धार्थ	263-245 ई.पू.	265-283	पूर्ववत्
17	विजय	घृतिषेण	245-232 ई.पू.	283-296	पूर्ववत्
18	बुद्धिलिंग	विजय	232-212 ई.पू.	296-316	पूर्ववत्
19	गंगदेव	बुद्धिलिंग	212-198 ई.पू.	316-330	पूर्ववत्
20	धर्मसेन (प्रथम)	गंगदेव	198-182 ई.पू.	330-346	पूर्ववत्
21	नक्षत्र	धर्मसेन (प्रथम)	182-164 ई.पू.	346-364	पूर्ववत्
22	जयपाल	धर्मसेन (प्रथम)	164-144 ई.पू.	364-384	11 अंग

23	पाण्डु	जयपाल	144-105 ई.पू.	383-423	11 अंग
24	ध्रुवसेन	पाण्डु	105-91 ई.पू.	423-437	11 अंग
25	कंस	ध्रुवसेन	91-59 ई.पू.	437-479	11 अंग
26	सुभद्राचार्य	कंस	59-53 ई.पू.	469-475	10 अंग
27	यशोभद्र (प्रथम)	सुभद्राचार्य	53-35 ई.पू.	475-492	9 अंग
28	भद्रबाहु (द्वितीय)	यशोभद्र (प्रथम)	ई.पू. 35 सन् 12	492-516	8 अंग
29	लोहाचार्य (द्वितीय)	भद्रबाहु (द्वितीय)	ई.पू. 12 सन् 03,	516-585	8 अंग

महावीर स्वामी का काल निर्धारण

दिग्म्बर जैनों के त्रिलोक प्रज्ञसि, धवला, जय धवला आदि ग्रंथों और पट्टा वलियों में तथा श्वेताम्बर स्थाविरावली और पट्टावलियों में कालगणना का वर्णन पाया जाता है।

दिग्म्बर जैन संस्कृति के प्राचीन ग्रंथ ‘धवला’ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने महावीर स्वामी के जन्म एवं निर्वाण से संबंधित लोक में प्रचलित तीन मतों का उल्लेख किया है जिनमें से दो मत त्रिलोक प्रज्ञसि के अनुरूप हैं तथा एकमत धवला के अनुरूप है। धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने स्पष्ट लिखा है कि 683 वर्ष में से 77 वर्ष 7 माह कम करने पर 605 वर्ष 7 माह होते हैं वह वीर जिनेन्द्र के निर्वाण प्राप्ति के दिन से लेकर शक काल प्रारंभ होने तक का काल है इस काल में शक राजा का काल जोड़ देने पर वर्धमान जिन के मुक्त होने का काल आता है। अपने इस कथन के समर्थन में वीरसेन स्वामी ने एक प्राचीन ग्रंथ ‘षटखण्डागम’ पुस्तक 9 की गाथा 41 भी उद्धृत की है।

त्रिलोक प्रज्ञसि के अनुसार वीर निर्वाण के 605 वर्ष 5 माह पश्चात् शक राजा हुआ। श्वेताम्बर आचार्य मेरुरुंग ‘विचार श्रेणी’ में शकराजा का 605 वर्ष का होना पाया जाता है। लेकिन आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार महावीर निर्वाण 410 विक्रम संवत् बनता है, डॉ. हर्मन जेकोबी भी इसी मत का समर्थन करते हैं। इन लोगों के मतानुसार वीर का काल 527 ई.पू. के स्थान पर 448 ई.पू. आ जाता है। डॉ. जयसवाल जैसे अनेक विद्वान आचार्य हेमन्त एवं डॉ. हर्मन जेकोबी की इस गणना पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए इसे भूल भरी गणना मानते हैं, वे लिखते हैं ‘हेमचन्द्राचार्य ने अपनी कालगणना में पालक के 60 वर्ष छोड़ दिए हैं, यह उनकी मोटी भूल है, क्योंकि यदि पालक के 60 वर्ष छोड़ देते हैं, तो चन्द्रगुप्त, स्थूलभद्र, सुबाहु और भद्रबाहु की समकालीनता में विरोध आता है। महावीर के निर्वाण के तुरन्त पश्चात् ही नंद वंश का साम्राज्य शुरू हुआ, यह मान्यता एकदम भूल भरी और अप्रमाणिक है।

अवन्ती का राजा पालक जो अज्ञातशत्रु का समकालीन था महावीर के

निर्वाण के दिन (कार्तिक कृष्ण अमावस्या) गही पर बैठा, यह मानना स्वाभाविक और सप्रमाण है।

डॉ. हीरालाल ने भी वीर निर्वाण से राजाओं की कालगणना करते हुए श्वेताम्बर परम्परानुसार आचार्यों का उल्लेख करते हुए वीर निर्वाण संवत् से 605 वर्ष पश्चात् शक संवत् का प्रारंभ माना है।

धर्मघोषसूरकृत दुष्मकाल - श्रमणसंघ - स्तव नामक प्राकृत पट्टावनी की अबचूरि में कुछ महत्वपूर्ण काल संबंधी निर्देश पाये जाते हैं, यहाँ कहा गया है कि जिस रात्रि भगवान महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि को उज्जैनी में चण्डप्रद्योत नरेश की मृत्यु हुई व पालक राजा का अभिषेक हुआ। इस पालक राजा ने उदायी के निसंतान मरने पर कुणिक के राज्य पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया और 60 वर्ष तक राज्य किया इसी काल में गौतम ने 12 वर्ष, सुधर्मा ने 8 वर्ष और श्वेताम्बर श्रमण परम्परा में सुधर्मा के 20 वर्ष का उल्लेख है। और जम्बू स्वामी ने 44 वर्ष तक (64 वर्ष) युगप्रधान रूप से संघ का नायकत्व किया।

पालक के राज्य के 60 वर्ष के पश्चात् पाटलिपुत्र में नव नंदों ने 155 वर्ष साम्राज्य किया, इसी काल में जैन संघ का नायकत्व (श्वेताम्बर परम्परानुसार) प्रभव ने 11 वर्ष स्वयंभू ने 23 वर्ष, यशोभद्र ने 50 वर्ष, संभूतिविजय ने 8 वर्ष, भद्रबाहु ने 14 वर्ष और स्थूलभद्र ने 45 वर्ष किया। इस प्रकार यहाँ वीर निर्वाण के 215 वर्ष व्यतीत हुए।

इसके पश्चात् मौर्य वंश का राज्य 108 वर्ष रहा, जिसके भीतर महागिरि ने 30 वर्ष, सुहस्ति ने 46 वर्ष, गुण सुन्दर ने 32 वर्ष, इस प्रकार मौर्य शासन काल में 108 वर्ष जैन संघ का नायकत्व किया।

मौर्यों के पश्चात् राजा पुष्यमित्र ने 30 वर्ष, बलमित्र और भानुमित्र ने 60 वर्ष राज्य किया। इस बीच गुणसुन्दर ने अपनी आयु के शेष 12 वर्ष, कालिक ने 40 वर्ष, स्कंदिल ने 38 वर्ष (कुल 90 वर्ष) जैन संघ का नायकत्व किया। इस प्रकार भगवान महावीर निर्वाण के 413 वर्ष व्यतीत हुए। भानुमित्र के पश्चात् नरवाहन ने 40 वर्ष, गर्दभिल्ल ने 13 वर्ष और शक ने 4 वर्ष पर्यन्त राज्य किया। इस बीच रेवती मित्र द्वारा 36 वर्ष, आर्य मुंग द्वारा 20 वर्ष, जैन संघ का नायकत्व किया गया। इस प्रकार महावीर निर्वाण से लेकर 470 वर्ष समाप्त हुए।

गर्दभिल्ल के राज्यनेतृत्व का परिवर्तन कालकाचार्य द्वारा कराया गया था पश्चात् शकों को परास्तकर विक्रमादित्य ने राज्यारूढ़ होकर 60 वर्ष पर्यन्त राज्य किया। इस बीच जैन संघ में बहुल, श्रीब्रत, स्वाति, हारि, श्यामार्थ एवं शाणिल्य आदि हुए। तथा प्रत्येक बुद्ध एवं स्वयं बुद्ध परम्परा का विच्छेद हुआ। बुद्ध बौद्धितों की अल्पता तथा भद्रगुप्त, श्रीगुप्त और वज्रस्वामी ये आचार्य हुये।

विक्रमादित्य के पश्चात् धर्मादित्य ने 40 वर्ष और माइल्ल ने 11 वर्ष राज्य

किया और इस प्रकार वीर निर्वाण के 581 वर्ष व्यतीत हुए तत्पश्चात् दुर्बलिका पुष्य मित्र के 20 वर्ष तथा राजा नाह के 4 वर्ष व्यतीत होने पर वीर निर्वाण से 605 वर्ष पश्चात् शक संवत् प्रारंभ हुआ। वीर-निर्वाण के 993 वर्ष व्यतीत होने पर आर्य महागिरि की संतान में उत्पन्न श्री देवार्दिध गणि क्षमा श्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की एवं इसी वर्ष आनन्दपुर में राजा ध्रुवसेन के पुत्र मरण से शोकार्त होने पर उनके समाधान हेतु सभा के समक्ष 'कल्पसूत्र' की वाचना हुई। यह बहुश्रूतों की परम्परा से ज्ञात हुआ। इतनी वार्ता के पश्चात् यह दुष्मकाल श्रमण संघस्तव की अबचूरि इस समाचार के साथ समाप्त होती है कि वीर निर्वाण के 1300 वर्ष समाप्त होने पर विद्वानों के शिरोमणि श्री बप्प भट्टसूरी हुए।¹¹

पं. कैलाशचन्द्र जी इस काल गणना का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं, इस काल गणना की विशेषता यह है कि जिस प्रकार महावीर के निर्वाण के पश्चात् होने वाले राजवंशों की कालगणना के 215 वर्ष (पालक से लेकर नन्दवंश के अन्त तक) गिनाये हैं उसी प्रकार महावीर निर्वाण के पश्चात् होने वाले युग प्रधान आचार्यों का काल भी 215 वर्ष के हिसाब से गिनाया है, अर्थात् उधर नन्दवंश के अन्त के साथ और स्थूल भद्र के स्वर्गवास के साथ महावीर निर्वाण के 215 वर्ष पूरे होते हैं। इसके अनुसार वीर निर्वाण के 170 वर्ष बीतने पर भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हुआ। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने परिशिष्ट पर्व में लिखा है श्वेताम्बर स्थिविरावली में गौतमगणधर को जो महावीर के प्रधान शिष्य थे, महावीर के निर्वाण के पश्चात् युगप्रधान पट्ट पर आसीन न कराकर सुधर्मा स्वामी को आसीन कराया है। किन्तु 'कल्पसूत्र' के अनुसार महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् गौतम को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे 12 वर्ष तक प्रधान पद पर प्रतिष्ठित रहे। तत्पश्चात् उन्होंने अपना पद सुधर्मा स्वामी को दिया और वे 8 वर्ष तक उस पद पर आसीन रहे। इस तरह स्थिविरावली में जो सुधर्मा के 20 वर्ष गिनाये हैं उनमें 12 वर्ष गौतम के और 8 वर्ष सुधर्मा के हैं, किन्तु दोनों का अलग-अलग उल्लेख न करके सुधर्मा के 20 वर्ष बतलाने का क्या हेतु है? यह हम नहीं कह सकते।¹²

जम्बू स्वामी के बली के पश्चात् होने वाले युगप्रधान आचार्यों में भद्रबाहु ही एक ऐसे हैं जिन्हें दोनों सम्प्रदायों ने माना है, जम्बूस्वामी के पश्चात् और भद्रबाहु से पहले होने वाले 4 आचार्यों के नाम दोनों सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न हैं और उनका काल भी समान नहीं है इसलिये यह स्पष्ट है कि वे दूसरे से बिल्कुल भिन्न व्यक्ति हैं, किन्तु भद्रबाहु का युग प्रधानत्व दोनों सम्प्रदायों को स्वीकार्य हैं। इन्हीं के समय संघभेद हुआ इसलिये भी भद्रबाहु का स्थान अखण्ड जैन परम्परा की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। दिग्म्बर जैन ग्रंथ तथा शिलालेख इन्हें मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का समकालीन सिद्ध करते हैं, विदेशी तथा एतदेशीय इतिहासज्ञों ने भी उनकी सत्यता

को स्वीकार किया है।

किन्तु उक्त कालगणना को देखते हुए चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की समकालीनता सिद्ध नहीं होती और उन दोनों के बीच में वही प्रसिद्ध 60 वर्ष का अन्तर पड़ता है, अर्थात् यदि भद्रबाहु के समय वी.नि. 162 में 60 वर्ष बड़ा दिये जाये तो चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की समकालीनता ठीक बन जाती है, अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में से 60 वर्ष पीछे हटा दिये जायें जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने महावीर निर्वाण से 215 वर्ष की परम्परा के स्थान में 155 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त का राजा होना लिखा है तो दोनों की समकालीनता बन सकती है। आचार्य हेमचन्द्र ने ऐसा विचार पूर्वक ही किया है और इसलिये उनके समय में दोनों की समकालीनता को एक वास्तविक तथ्य के रूप में माना जाता था। यह स्पष्ट है क्योंकि यदि उसमें उन्हें थोड़ा सा भी संदेह होता तो हेमचन्द्र 215 वर्ष की चली आ रही प्राचीन जैन गणना में संशोधन करने का साहस न करते।¹⁹³

वीर निर्वाण संवत् 145 में चन्द्रगुप्त ने राज्यसिंहासन प्राप्त किया। श्वेताम्बर परम्परा के हेमचन्द्र सूरी ने चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का काल वी.नि. संवत् 155 माना है। बौद्ध ग्रंथों में चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनकाल 22 वर्ष ओर माना गया है, यह 22 वर्ष जोड़ देने पर वीर निर्वाण संवत् 167 हो जाता जो कि भद्रबाहु के काल के समीप फूँचता हुआ प्रतीत होता है।

हेमचन्द्र सूरी ने चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण काल वी.नि.सं. 155 माना है उसमें चन्द्रगुप्त के राज्यकाल का समय 24 वर्ष जोड़ देते हैं तो वी.नि.सं. 179 हो जाता है यह भी चन्द्रगुप्त और आचार्य भद्रबाहु की समाकलीनता सिद्ध करने में सहकारी कारण बनता है।¹⁹⁴

लेकिन डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने उपर्युक्त काल गणना से भिन्न मत प्रस्तुत किया है, उन्होंने बुद्ध परिनिर्वाण से चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक काल का अन्तर 218 वर्ष माना है, वही 'विचार श्रेणी' में वीर निर्वाण सं. के साथ पालक का राज्यकाल 60 वर्ष तथा नंदों का राज्यकाल 155 वर्ष माना है। वही तिथोगाली पद्मन्य तीर्थोद्घार प्रकरण तिल्लोय पण्णिति एवं हरिवंश पुराण में पालक का राज्यकाल 60 वर्ष पश्चात् नंदी का काल 155 वर्ष राज्यकाल माना है अर्थात् वीर निर्वाण संवत् 215 के समय चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक काल माना है। इस प्रकार भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के काल में लगभग 53 वर्ष का अन्तर बनता है।

वैदिक संस्कृति के हिन्दुपुराणों में यह कालगणना शिशुनागवंशी राजाओं की नामावली के नाम से प्राप्त होती है।

विष्णुपुराण

भागवत

राज्यकाल

बिम्बसार	विधिसार	28 वर्ष
अजातशत्रु	अजातशत्रु	9 वर्ष
अर्भक	दर्भक	27 वर्ष
उदयन	अजय	33 वर्ष
नन्दिवर्धन	-	40 वर्ष
महानन्दि	-	43 वर्ष (183 वर्ष)
महापद्यनन्द	-	88 वर्ष
महानन्द के 8 पुत्र नौ नन्द-		12 वर्ष

इस काल गणना में नन्दवंश के राज्यकाल के 183 वर्ष बताए जाते हैं, जो अन्य काल गणना से बहुत अधिक हैं, बिम्बसार के शासनकाल के यदि 28 वर्ष कम हो जाएँ तो भी वीर निर्वाण से लगभग 252 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक हुआ माना जा सकता है।

यह इतिहास सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त, चाणक्य और भद्रबाहु समकालीन थे, चन्द्रगुप्त ने अपना राज्यभार अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंपकर आचार्य भद्रबाहु को गुरु मानकर मुनि दीक्षा लेकर तप करते हुए परिषह सहते हुए समाधिमरण किया।

दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की समकालीनता में लगभग 62 वर्ष अर्थात् 53 वर्ष अन्तर आ रहा है, श्वेताम्बर परम्परा में 'विचार श्रेणी' के अनुसार वीर निर्वाण से चन्द्रगुप्त के काल में 215 वर्ष का अन्तर दृष्टव्य होता है। आचार्य हेमचन्द्र सूरी अपने ग्रंथ परिशिष्ट पर्व में लिखते हैं वीर निर्वाण के 170 वर्ष बीतने पर भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ, अतः आगम के अनुसार भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों के काल में भिन्नता होते हुए भी डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार महावीर निर्वाण पश्चात् अजातशत्रु का पुत्र उदायी (मगध का शासक) का राज्यान्त 60 वर्ष पश्चात् का है, जैन काल गणना भी यही स्वीकार करती है।¹⁹⁵ अतः 527 ई.पू. में 60 वर्ष कम कर देने पर 467 ई.पू. की कालगणना होती है जो उदायी के पुत्र अनुरूद्ध का राज्यारम्भकाल होता है, अतः उदायी के पश्चात् की वंश परम्परा से चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक का काल निम्नानुसार होता है।

राजा	राज्यकाल	ई.पूर्व सन्
अनुरूद्ध	9 वर्ष	467-458 ई.पू.
नन्दिवर्धन	40 वर्ष	458-418 ई.पू.
मुण्ड	8 वर्ष	418-410 ई.पू.
महानन्दी	35 वर्ष	409-374 ई.पू.
महानन्दी के दो पुत्र 8 वर्ष		374-366 ई.पू.
महापद्यनन्द	28 वर्ष	366-338 ई.पू.

घननंद 12 वर्ष
कुल 142 वर्ष

इसमें अवन्ती के राजा पालक अथवा मगध के राजा उदायी के 60 वर्ष जोड़ने पर 202 वर्ष का अन्तर महावीर स्वामी के निर्वाण काल और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के मध्य होना चाहिए¹⁶

प. कैलाशचन्द्र जी लिखते हैं कि इतिहास प्रेमियों से यह बात छिपी नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक काल को लेकर इतिहासज्ञों में मतभेद है और वह मतभेद 13-14 वर्ष का है। अर्थात् 326-325 ई.पू. से लेकर 312 ई.पू. तक के बीच में चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा, यह सुनिश्चित रीति से माना जा सकता है¹⁷

पौराणिक जैन अनुश्रुतियाँ मगध में उदायी के पश्चात् नन्दों का राज्य हुआ दर्शाती हैं यदि अनुरूद्ध और मुण्ड दोनों को नन्दिवर्धन के पश्चात् रख दें तो जैन और पौराणिक अनुश्रुतियाँ आपस में मिल जाती हैं जो उदायी के पश्चात् नन्दों का राज्य बतलाती हैं, किन्तु ऐसा करने में नन्दिवर्धन के राज्य का नौवा वर्ष होता है। अतः अनुरूद्ध और मुण्ड दोनों का राज्य नन्दिवर्धन के पश्चात् न रख कर किसी एक को ही रखना पर्याप्त है। इस तरह श्री जायसवाल ने उदायी के बाद अनुरूद्ध या मुण्ड में से एक को रखकर तथा उसके पश्चात् नन्दिवर्धन को रखकर ई.पू. 458 में नन्दिवर्धन का राज्याभिषेक माना और उसे ही नन्द संवत् का प्रवर्तक बतलाया। इसी नन्द संवत् का प्रयोग राजा खारवेल ने अपने हस्तिगुफा लेख में किया है¹⁸

जैन ग्रंथों में महावीर के निर्वाण के पश्चात् होने वाली राजवंशों की काल गणना तो दी है लेकिन राजवंशों के राजाओं के नाम का उल्लेख नहीं किया है और न ही प्रत्येक का राज्यकाल दिया है अतः पुराणों और बौद्ध ग्रंथों से दी गयी राजकाल गणना के साथ उनका समीकरण कर सकना शक्य नहीं है¹⁹

महावंश के अनुसार राज कालगणना

क्रं.	राजा का शासनकाल	कालगणना	महत्त्वपूर्ण घटना
1.	अजातशत्रु	32 वर्ष (8+24)	बुद्ध परिनिर्वाण के 8 वर्ष पूर्व राज्याभिषेक एवं बुद्ध परिनिर्वाण के 24 वर्ष पश्चात् तक राज्य किया।
2.	उदयन (उदयभट्ट)	16 वर्ष	
3.	अनुरूद्ध और मुण्डक	8 वर्ष	
4.	नागदासक	24 वर्ष	
5.	सुसुनाग (शिशुनाग)	18 वर्ष	

338-326 ई.पू.

6. कालाशोक

28 वर्ष (10+18) कालाशोक के शासन काल के 10 वर्ष पूर्ण होने पर गौतम बुद्ध का 100 वाँ परिनिर्वाण दिवस

7.	कालाशोक के पुत्रों का शासन	22 वर्ष
8.	नन्दों का शासन	22 वर्ष
9.	चन्द्रगुप्त मौर्य	24 वर्ष
10.	बिन्दुसार	32 वर्ष
11.	अशोक का शासन	बुद्ध परिनिर्वाण के 218 वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक ने राज्य शासन प्रारंभ किया।

उपर्युक्त राजाओं की कालगणना को वीर निर्वाण संवत् से जोड़कर कालगणना करने पर हम सत्य के अधिक समीप पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण 544 ई.पू. एवं महावीर स्वामी के निर्वाण 527 ई.पू. दोनों के मध्य 17 वर्ष का अन्तर आता है, क्योंकि गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण महावीर स्वामी के निर्वाण से 17 वर्ष पूर्व हुआ।

क्रं.	राजा का कालगणना	बुद्ध का परिनिर्वाण काल संवत्	वीर निर्वाण संवत्
1.	बिम्बसार	शासनकाल	परिनिर्वाण काल संवत् अनुसार कालगणना
2.	अजातशत्रु (8+24)	8+24 = 32	1 से 24 तक वीर निर्वाण 17पूर्व से 24 वर्ष पर्यन्त
3.	उदयन (उदयभट्ट)	16 वर्ष	40 23 वीरनिर्वाण संवत्
4.	अनुरूद्ध और मुण्डक	8 वर्ष	48 31 वीर निर्वाण संवत्
5.	नागदासक	24 वर्ष	72 55 वीर निर्वाण संवत्
6.	सुसुनाग (शिशुनाग)	18 वर्ष	90 73 वीर निर्वाण संवत्
7.	कालाशोक	28 वर्ष (10+18)	101 101 वीरनिर्वाण संवत्
8.	कालाशोक के पुत्रों का शासन	22 वर्ष	140 123 वीर निर्वाण संवत्
9.	नन्दों का शासन	22 वर्ष	162 145 वीर निर्वाण संवत्
10.	चन्द्रगुप्त मौर्य	24 वर्ष	186 169 वीर निर्वाण संवत्
11.	बिन्दुसार	32 वर्ष	218 201 वीर निर्वाण संवत्
12.	अशोक का शासन	प्रारम्भ	218 201 वीर निर्वाण संवत्

महावंश के अनुसार बुद्ध परिनिर्वाण से लेकर अशोक के काल तक जो 218 वर्ष का कालान्तर बताया गया है वह सत्य के अत्याधिक समीप है, यह काल गणना स्वीकार करने योग्य है। इस काल गणना में चन्द्रगुप्त का राज्य काल बुद्ध के परिनिर्वाण के काल से 186 वर्ष तक माना जाता है, जो कि वीर निर्वाण संवत् 169 होता है। यदि इस काल में चन्द्रगुप्त का राज्यकाल 24 वर्ष कम कर दें तो 169-24=145 वीर निर्वाण संवत् में चन्द्रगुप्त ने राज्यसिंहासन सम्भाला और यही काल चन्द्रगुप्त के आध्यात्मिक गुरु भद्रबाहु को माना जाता है। अतः वीर निर्वाण के 162 वर्ष पश्चात् तक आचार्य भद्रबाहु का काल एवं वीर निर्वाण संवत् 145 से 169 चन्द्रगुप्त का राज्यकाल का समय सही बनता है।

चूंकि गौतम बुद्ध महावीर से उम्र में वरिष्ठ थे उनका जन्मकाल समकालीन महापुरुषों के घटनाक्रम के आधार एवं श्रीलंका में प्रचलित जन्मतिथि के आधार पर 624 ई.पू. एवं परिनिर्वाण 544 ई.पू. मानना ही न्याय संगत है, अतः गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण महावीर स्वामी के निर्वाण से 527-544 = 17 वर्ष पूर्व होना सही माना जाना चाहिए।

इस कालगणना के अनुसार उपर्युक्त काल गणना सत्य के समीप पहुँचती है। इस प्रकार उपर्युक्त कालगणना के पश्चात् कालान्तर चिन्तनीय नहीं है।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वारा महान यशस्वी भद्रबाहु को अपना गुरु स्वीकार कर मुनि मुद्राधारण कर भद्रबाहु की समाधि पश्चात् सल्लेखना ग्रहण करना, जैसा कि शिलालेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं। अतः दोनों को समकालीन स्वीकार करना ही पड़ेगा। चन्द्रगुप्त मौर्य धर्मात्मा एवं साधुओं का विशेष आदर करने वाला था ‘तिल्लोयपण्णति’ में उन्हें मुकुट बद्ध माण्डलिक सम्प्राटों में अंतिम शासक कहा गया है जिन्होंने दीक्षा लेकर जीवन के अंत में मुनि बनकर परिषह सहन किया वह आचार्य भद्रबाहु की दिगम्बर परम्परा के अनुयायी थे वह अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्य साँपकर दिगम्बर मुनि हो गये संभवतः सुराष्ट्र के गिरनार की गुफा में चन्द्रगुप्त ने कुछ दिन निवास किया था जिससे उस गुफा को चन्द्रगुप्त गुफा कहा जाने लगा।

गुजरात के उर्जयन्तरगिरि की चन्द्रगुप्त गुफा से उन्होंने दक्षिण की ओर विहार करते हुए श्रवणबेल्लोल (कर्णाटक प्रान्त) पहुँचे। इस स्थान के एक पर्वत पर चन्द्रगुप्त मुनि ने तपस्या की और सल्लेखना पूर्वक देह त्याग किया जिससे उनकी स्मृति में वह पर्वत चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऊपर जिस गुफा में उन्होंने समाधिमरण किया था उस स्थान (चन्द्रगुप्तवस्ति) पर उनके चरण बने हुए हैं, वहाँ लगभग 1500 वर्ष प्राचीन शिलालेख भी अंकित हैं जो इस महान सम्राट के जीवन

की घटना का उल्लेख करते हैं।

चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के नाम से अंकित शिलालेखों के आधार पर प्रसिद्ध पुरातत्ववेता एवं इतिहासज्ञ टी.एन. रामचन्द्रन (पूर्व डिप्टी डायरेक्टर ऑफ जनरल पुरातत्व विभाग) लिखते हैं ‘श्रवणबेलगोल में उत्कीर्ण शिलालेखों के आधार पर इस बात का पता चलता है कि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के समय में अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु 12000 मुनियों के साथ उत्तरापथ से दक्षिणापथ को गये थे उनके साथ चन्द्रगुप्त भी थे। प्रो. जेकोबी का अनुमान है कि यह देशाटन 297 ई.पू. में हुआ था। भद्रबाहु ने अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के पूर्व ही मार्ग में चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधि पूर्वक देह का विसर्जन किया। इस देशाटन की महत्ता इस बात की सूचक है कि दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रारंभ इसी समय हुआ। भद्रबाहु के संघ को देखकर कालाकाचार्य और विशाखाचार्य के संघ ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। विशाखाचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय के महान आचार्य थे जो दक्षिण भारत के चोल और पाण्ड्य देश में गये।¹⁰⁰

होमगड़ी, जमखड़ी तालुक ‘जिलाबागल कोट के तीन शिलालेखों में शिलालेख क्रमांक 1123, 1181 एवं 1186 में भद्रबाहु के ससंघ चातुर्मास का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ-साथ 24000 मुनिगण ने वास्तव किया था (निवास किया था)। ऋषिगिरि पर लगभग 700 मुनियों के समाधिमरण के पुण्य स्थान का उल्लेख मिलता है। भद्रबाहु श्रुतकेवली गोकाक के पास कोनूर गुफा की ओर बिहार कर उस गुफा में थोड़े दिन रुके थे, वहाँ से श्रवणबेलगोला की ओर विहार किया।

अतः प्रमुखतः प्रमाण इस तथ्य में है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों समकालीन रहे विद्वानों के, समय निर्धारण में मतभेद भले ही हो लेकिन दोनों की समकालीनता निश्चित रूप में सिद्ध होती है। इस प्रकार महावीर स्वामी से लेकर अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु तक का सही काल निर्धारण स्वीकार करने योग्य है।

महावीर के समकालीन महापुरुषः

पाँचवीं ईसा पूर्व जब जैन धर्म के 24 वें तीर्थकर महावीर स्वामी हुए उसी काल में दो और महान व्यक्तित्व अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी कार्यप्रणाली से अपना परचम फहरा रहे थे। उनमें एक राजनैतिक क्षेत्र के पुरोहा महाराजा श्रेणिक, जो बिम्बसार के नाम से विख्यात हैं। दूसरे धर्म एवं अहिंसा के क्षेत्र में विश्व के मानचित्र पर प्रसिद्ध हुए गौतम बुद्ध, जो बौद्ध धर्म के एक मात्र प्रवर्तक हुए।

श्रेणिक (बिम्बसार)-नवीन-नवीन शोधों के आधार पर भारत वर्ष का व्यवस्थित राजनैतिक इतिहास मगध की राजनैतिक क्रान्ति राज्य क्रान्ति के पश्चात् से मिलना प्रारंभ होता है। जिसमें वहाँ के अंतिम राजा बृहदृथ वंशी नरेश को गढ़ी

से उतारकर उसके स्थान पर काशी के नागवंशी राजा को मगध के सिंहासन पर बैठाया गया था। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार काशी से आने वाला मगध का उपर्युक्त प्रथम नरेश शिशुनाग था इसी कारण मगध का ऐतिहासिक राजवंश शिशुनागवंशी कहलाता है।¹⁰¹ यह राजवंश जैन धर्म के तेईसवें तीर्थकर पाश्वर्नाथ के कुलोत्पन्न माने जाते हैं। डॉ. ज्योति प्रसाद के अनुसार ‘अतः मगध के इस ब्रात्य क्षत्रिय नागवंश का कुल धर्म प्रारंभ से ही जैन धर्म रहा प्रतीत होता है।’¹⁰²

वंश का सर्वप्रसिद्ध राजा श्रेणिक (बिम्बसार) था। हिन्दुओं में इस वंश के संस्थापक का नाम शिशुनाग या शेशुनाग तथा बौद्ध साहित्य में भट्टि, जैन शास्त्रों की अनुश्रुतियों में श्रेणिक, उपश्रेणिक मिलता है। श्रेणिक के कुमारकाल में ही उसके पिता ने कुपित होकर राज्य से निर्वासित कर दिया और अपने दूसरे पुत्र चिलति को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। पिताकी मृत्यु के बाद चिलति मगध का राजा हुआ लेकिन वह राज्यभार को न सम्भाल सका फलस्वरूप श्रेणिक के ही हाथ में राजतंत्र आ गया।

पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने श्रेणिक का जन्म 619 ई.पू. तथा राज्यकाल 600 ई.पू. से 552 ई.पू. तक माना है, जबकि डॉ. जायसवाल ने श्रेणिक (बिम्बसार) का राज्यकाल 601 ई.पू. से 552 ई.पू. तक माना है¹⁰³, पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री एवं डॉ. जायसवाल का मत सत्य के अधिक समीप दृष्ट्य होता है, क्योंकि महावीर और श्रेणिक (बिम्बसार) के जीवन काल में घटित घटनाक्रम इतिहास और काल की दृष्टि से सटीक बैठता है।

इन दोनों विद्वानों के अनुसार श्रेणिक (बिम्बसार) का राज्यकाल 48 वर्ष अथवा 47 वर्ष माना जा सकता है, जबकि बौद्ध ग्रंथ के अनुसार बिम्बसार का राज्यकाल 52 वर्ष तथा हिन्दु पुराणों के अनुसार बिम्बसार राज्यकाल 28 वर्ष माना जाता है।¹⁰⁴

पंडित कैलाशचन्द्र के अनुसार बौद्ध ग्रंथ महावंश में एक स्थान पर उल्लेख आता है कि सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) बिम्बसार परस्पर में मित्र थे तथा बुद्ध बिम्बसार से 5 वर्ष बड़े थे, सम्भवतः इस कारण ही श्रेणिक जीवन के पूर्वार्द्ध काल में गौतम बुद्ध से प्रभावित हो बौद्ध धर्मावलम्बी रहा। यही नहीं गौतम बुद्ध भी श्रेणिक के राज्य मगध में अनेक बार आए थे। बौद्ध ग्रंथ महावंश के अनुसार बिम्बसार के पिता का नाम भातिय या भाति था। भाति ने वृहदृथ वंश के अंतिम शासक रिपुंजय के हत्यारे (पिता के हत्यारे पुत्र को) जो कि राजसिंहासन पर बैठ गया था उसकी हत्या करके अपने पुत्र बिम्बसार को मगध के सिंहासन पर आसीन किया। कुछ इतिहासकार बिम्बसार को हर्यकवंश का वंशज मानते हैं, डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी लिखते हैं मगध का प्रारंभिक

इतिहास हर्यक कुल के प्रसिद्ध राजा बिम्बसार से प्रारंभ होता है, बिम्बसार के पिता का नाम शिशुनाग या शेषुनाग था¹⁰⁵ श्रेणिक को (बिम्बसार) पुत्र कुड़क (अजातशत्रु) ने जेल में कैद कर दिया तथा स्वयं मगध का शासक बन गया।

जीवन के पूर्वार्द्ध में श्रेणिक बौद्ध धर्मावलम्बी था लेकिन जैन धर्मावलम्बी चेटक की पुत्री चेलना से विवाहोपरान्त चेलना के अथक प्रयास एवं अभूतपूर्व परिस्थितियों के कारण श्रेणिक जैन धर्मावलम्बी होकर भगवान महावीर की देशना का प्रमुख श्रोता बना।

हेमचन्द्र चौधरी ने बिम्बसार का राज्यकाल 544 ई.पू. से 492 ई.पू. तक माना है जो कि उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस मत के अनुसार श्रेणिक गौतम बुद्ध और महावीर के मध्य उल्लेखित ऐतिहासिक प्रसिद्ध घटनाओं में तालमेल नहीं हो सकता। यह तो तय है कि बिम्बसार (श्रेणिक) ने 52 वर्ष शासन किया है पश्चात् उसके पुत्र अजातशत्रु (कुड़क) ने श्रेणिक को जेल में कैद कर द्वयं मगध का शासक बना। बिम्बसार ने अपने शासनकाल में मगध की राजधानी गिरिव्रज से स्थानांतरित कर राजगृह कर ली थी। प्रसिद्ध चीनी यात्री हवेनशांग ने राजधानी परिवर्तन की घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ‘गिरिव्रज में बहुधा अग्निकाण्ड की घटनाएँ होती रहती थीं अतः बिम्बसार ने एक नवीन नगर की स्थापना की जिसे राजगृह (राजगिरि/राजगृही) कहा गया।’ यद्यपि राजग्रह का उल्लेख श्रेणिक के पूर्व से भी प्राप्त होता है 20 वें तीर्थकर मुनिसुव्रतनाथ का जन्म राजग्रही में होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

बिम्बसार ने अनेक विवाह किये थे इन वैवाहिक संबंधों के कारण उसके राज्य का विस्तार तो हुआ ही, उसकी शक्ति में भी वृद्धि हुई। ‘महावग्ग’ के अनुसार ‘राजा श्रेणिक की 500 रानियाँ थीं। श्रेणिक का विशेष उल्लेख 16 वीं शताब्दी में आचार्य शुभचन्द द्वारा लिखित ग्रन्थ ‘श्रेणिक चरित्र’ में उपलब्ध है, आचार्य शुभचन्द द्वारा लिखित श्रेणिक चरित्र विक्रम सम्वत् 1608 के लगभग लिखा गया ग्रंथ है। इस ग्रंथ के प्रारंभ में श्रेणिक के पिता उपश्रेणिक के राज्यकाल का वर्णन किया गया है जिससे श्रेणिक का परिस्थिति जन्य संपूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। हिन्दु पुराणों में उसके पिता का नाम शिशुनाग या शेषुनाग बौद्ध साहित्य में भट्टि और जैन अनुश्रुति में उपश्रेणिक मिलता है। श्रेणिक राजग्रह नगर स्वामी का जन्म उपश्रेणिक की महारानी इन्द्राणी से हुआ था, उपश्रेणिक के अन्य दूसरी रानियों से चिलति आदि पुत्रों का जन्म हुआ था। उपश्रेणिक ने अपने पुत्रों में से राज्य का योग्य अधिकारी चुनने के लिए निमित्त ज्ञानी द्वारा बताई गयीं पाँच परीक्षाएँ अपने पुत्रों से ली। इन पाँचों परीक्षाओं में जो राजकुमार सफल होगा वही मगध का सप्राट होगा।

प्रथम परीक्षा में राजकुमारों को शर्करा से भरा घट दूसरे मनुष्य के ऊपर

रखकर निर्भय सिंहद्वारा से प्रवेश करे और खेलता हुआ घर आ जावे, द्वितीय परीक्षा में राजकुमारों को ओस की बूदों से पानी का घट भरकर लाना, तृतीय परीक्षा में राजकुमारों के भोजन करते समय कुत्तों को छोड़ देना, कुत्तों से बिना डरे अपना भोजन पूर्ण कर क्षुधाशांत करना, चतुर्थ परीक्षा में नगर में आग लगने पर राजकुमार छत्र सिंहासन सिर पर रखकर नगर के बाहर निकल जावे तथा पाँचवीं परीक्षा में मिष्ठान से भरे मुँह बँधे टोकने (टोकरी) को बिना मुँह खोले अपनी क्षुधाशांत कर ले तथा जल से भरे मुँह बन्द मिट्टी के घर से बिना मुँह खोले तृष्णा शान्त कर ले।

राजकुमार श्रेणिक इन सभी पाँचों परीक्षा में उत्तीर्ण रहे तो महाराज उपश्रेणिक बहुत चिंतित हो गए क्योंकि महाराज उप श्रेणिक महारानी तिलकवती के पिता यमदण्ड को पूर्व से ही 'तिलकवती' के पुत्र को राजा बनाने का वचन दे चुके थे। इस कारण महाराज उप श्रेणिक अपने वचन भंग होने के भय से बहुत चिंतित रहने लगे। मंत्रियों से मंत्रणा करके एक मंत्री के सहयोग से राजकुमार श्रेणिक को राज्य से निष्कासित कर दिया तथा उपयुक्त समय पर तिलकवती के पुत्र चिलाति को मगध का सम्प्राट घोषित कर दिया।

राज्य से निर्वासित जीवन जीते हुए श्रेणिक ने बुद्ध धर्म धारण कर लिया तथा बेण पद्यनगर के ब्राह्मण की पुत्री नन्द श्री से विवाह किया जिससे अभय कुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।¹⁰⁶

चिलाति राज्य शासन का भार सहन नहीं कर सके फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् श्रेणिक ही मगध के सम्प्राट हो गए। महाराज श्रेणिक ने अपने पुत्र अभय कुमार के माध्यम से वैशाली के राजा चेटक की अत्याधिक सुन्दरी पुत्री चेलना से विवाह किया, जिससे कुणिक (अजातशत्रु) उत्पन्न हुआ। चेलना को दुःखी करने की तीव्र कषाय की भावना से द्वेषपूर्वक एवं नैमित्तिक प्रभाव के कारण श्रेणिक ने वन में तपस्यारत दिगम्बर मुनि यशोधर मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया तथा दूसरे दिन चेलना को इस घटना की जानकारी दी तथा इस घटना को सुनकर चेलना बहुत दुःखी हुई तथा वह रात्रि में ही श्रेणिक के साथ वन की ओर चल दी। श्रेणिक यशोधर मुनिराज को दो दिन पूर्व की यथावत मुद्रा में देखकर दंग रह गया, चेलना ने मुनिराज के शरीर से मृत सर्प निकाला तथा चिंटियों से आच्छादित देह पर से चिंटियों को अंहिसा पूर्वक नीचे उतारने का प्रयत्न किया। जब मुनिराज का उपसर्ग दूर हो गया तो उन्होंने ध्यान की मुद्रा छोड़कर चेलना और श्रेणिक दोनों को एक ही तरह से आशीर्वाद दिया। श्रेणिक इस घटना के कारण आत्मगलनि से भर गया तथा आत्मघात करने की सोचने लगा, यशोधर मुनि ने श्रेणिक के भावों को समझकर उन्हें ऐसा न करने का उपदेश दिया तथा पूछने पर उन्हें पूर्व भव का वृतान्त भी बताया। जिसे सुनकर श्रेणिक सचेत हो गया। जीवन में पहलीबार श्रेणिक के मन में जैन

साधुओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई।

कालान्तर में रानी चेलना के गर्भ से श्रेणिक के पूर्व भव के बैरी 'सुषेण देव' ने जन्म लिया, जिसका नाम कुणिक (अजातशत्रु) रखा गया। ऐसे ही समय में श्रेणिक के राज्य की राजधानी राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर महावीर स्वामी का समवशरण आया यह सूचना बागवान के मुख से सुनकर श्रेणिक का हृदय प्रसन्न हो गया, शरीर रोमांचित हो गया अति प्रसन्नता के अतिरिक्त में बागवान को देह पर धारण किए समस्त आभूषण उपहार में दे दिए। 'श्रेणिक चरित्र' में महावीर स्वामी के समवशरण की विशेषता का उल्लेख करते हुए वनमाली के कथन को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है 'प्रभो इस समय नौले (नेवले) आनन्द से सर्पों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं, बिल्ली के बच्चे वैर रहित मूसों के साथ खेल रहे हैं, हथिनी पुत्र समझ हथिनी सिंहनी के बच्चों को आनन्द से दूध पिला रही है, प्रजा पालक समवशरण के प्रसाद से समस्त जीव बेर रहित हो गये हैं'¹⁰⁷ मयूरगण सर्पों के मस्तक पर नृत्य कर रहे हैं, विशेष कहाँ तक कहा जाय इस समय नहीं सम्भव भी बड़े-बड़े काम देवों से सेवित महावीर भगवान की कृपा से संभव हो रहे हैं। 'श्रेणिक महाराज अपने वैभव के साथ प्रसन्न मन से महावीर स्वामी के दर्शन करने विपुलाचल पर्वत पर गये तथा उनसे इन्हें प्रभावित हुए कि महावीर स्वामी के समवशरण के प्रथम श्रोता बन गए तथा उन्होंने महावीर स्वामी से लगभग 60,000 प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किए।¹⁰⁸

गौतम बौद्ध :

बौद्ध धर्म की आधारशिला रखने वाले एक मात्र मानव गौतम बौद्ध थे, गौतम बौद्ध का जीवन परिचय बौद्ध ग्रंथ लिलित विस्तार, बुद्ध चरित, महावग्ग, महावस्तु, सुत्तनिपात आदि ग्रंथों से प्राप्त होता है। जैन ग्रंथों एवं जैन अनुश्रुतियों में भी गौतम बौद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है।

गौतम बौद्ध के जीवन की लगभग सभी घटनाओं पर बौद्ध साहित्य एकमत हैं, गौतम बौद्ध का जन्म, गृहत्याग, बोधि की प्राप्ति परिनिर्माण को सामान्यतः स्वीकार किया जाता है। विरोधाभास है तो उनके जन्म एवं परिनिर्वाण काल की तिथियों को लेकर है सम्भवतः उसका सबसे बड़ा कारण बौद्ध साहित्य का भारत के अतिरिक्त अन्य-अन्य देशों में लिखा जाना।

कपिल वस्तु के राजा शुद्धोधन की रानी महामाया देवी अपने मैहर जा रही थी तो मार्ग में लुम्बिनी नामक स्थान पर (जोकि नेपाल की तराई में नौतनवा स्टेशन से (12 कि. मी. पश्चिम में है) गौतम बौद्ध का जन्म हुआ, इनका नाम सिद्धार्थ रखा गया। सिद्धार्थ के जन्म के 7 दिन पश्चात् इनकी माँ रानी महामाया देवी का निधन हो गया। इस कारण सिद्धार्थ का पालन-पोषण इनकी माँसी गौतमी ने किया।

इन्होंने अपने गुरु से वेद उपनिषदों का अध्ययन किया, युद्ध विद्या, कुश्ती, तीरकमान एवं रथ संचालन में महारथ हासिल की। डॉ. ज्योति प्रसाद इनके बारे में लिखते हैं ‘श्रमणों के अनुयायी कपिलवस्तु के शाक्यवंशी ब्रात्यों में उत्पन्न राजा शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ गौतम ऐसी महान विभूति थे जिनकी छाप संसार पर गहरी पड़ी। शाक्य लोग गौतम गोत्र के थे, इसलिए सिद्धार्थ को गौतम बुद्ध के नाम से पुकारा जाता है, बाल्यावस्था से ही उनका हृदय संसार के दुःख से द्रवीभूत था। घरवालों के आग्रह से यशोधरा नामक सुन्दरी के साथ विवाह भी किया जिससे उनके राहुल नामक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। किन्तु अंततः स्त्री पुत्र राज-पाट आदि का मोह उन्हें बांधकर न रख सका और एकरात्रि को वे घर-बार त्यागकर करके सत्य की खोज में चल दिये। ‘श्रमण परम्परा में उनका जन्म हुआ था किन्तु उसमें भी उस समय जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारधाराएँ एवं उपसम्प्रदाय प्रचलित हो रहे थे। राजकुमार गौतम ने एक के बाद एक कई मार्गों का प्रयोग किया कुछ दिन वे पाश्वर्के आम्नाय के एक जैन साधु के भी शिष्य रहे।¹⁰⁹

सिद्धार्थ जन्मतः महापुरुष के लाज्जनों से लॉन्चित थे इनके लक्षणों को देखकर ज्योतिर्विदों ने कह दिया था ‘इमेहि लक्खणोहि समन्नागतो अगार अञ्जावसमानों राजाहोति चक्कवत्ती होती, पञ्ज्जमानो बुद्धो।’¹¹⁰ काल दैवल आदि ऋषियों की भविष्यवाणियों से प्रेरित होकर उनके पिता शुद्धौधन ने गौतम का ध्यान विषय भोग की ओर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया तथा 16 वर्ष की उम्र में सिद्धार्थ का विवाह दण्डपाणिकी पुत्री यशोधरा के साथ हो गया सिद्धार्थ के यशोधरा के साथ विषय भोगों को भोगते हुये कुछ वर्ष निकले लेकिन उनका मन विषय भोगों से दूर होता जा रहा था तथा परिजनों को वह अपने जीवन का बंधन स्वीकार करने लगे थे यहाँ तक कि पुत्र रत्न की प्राप्ति होने पर ‘आज मेरे बंधन की श्रृंखला में एक और कड़ी जुड़ गयी है’ जैसे विचार उत्पन्न होने लगे यह विचार उनके वैराग्य के सूचक थे और एक दिन उन्होंने बाग में जाते समय एक वृद्ध व्यक्ति, दूसरे दिन रोगी व्यक्ति, तीसरे दिन एक मृत व्यक्ति और चौथे दिन एक संन्यासी को देखा,¹¹¹ इन चार दृश्यों ने उनके मन मस्तिष्क पर गंभीर प्रभाव डाला। इससे उनके पूर्व से अंकुरित वैराग्य के परिणाम अत्यंत सुदृढ़ हो गये और एक रात वे अपनी पत्नी और पुत्र को सोता हुआ छोड़कर बौधिकी प्राप्ति हेतु निकल पड़े।

वे अपने मित्र मगध के राजा बिम्बसार के पास पहुँचे लेकिन वे वहाँ रुके नहीं, अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अलार और उद्रक नामक ब्राह्मणों के पास कुछ दिन रहे, लेकिन उन्हें संतुष्टि प्राप्त नहीं हुई। आचार्य देवसेन ने लिखा है कि बुद्ध ने पाश्वर्नाथ सम्प्रदाय के मुनि पिहिताश्रव के पास दिग्म्बर जैन दीक्षा ली थी तथा इनका नाम बुद्धकीर्ति था, परंतु मांस भक्षण के बाद उन्होंने संघ से पृथक होकर अपना

अलग धर्म स्थापित किया।¹¹² गौतम बुद्ध ने उरवेल नामक वन में पाँच ब्राह्मण तपस्वियों से भेंट की, लेकिन उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने आहार आदि छोड़कर तपस्या की, हठयोग और उपोषण किया नग्न रहते हुए देह दमन किया इस तरह महाभिनिस्क्रमण के बाद बौधि की प्राप्ति के लिए तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी पंथों में दीक्षित हुए। वे छः वर्ष तक अपना अभ्यास करते रहे, अंत में उन्होंने उग्र तप छोड़कर आहार ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया यह देख कौण्ठिण्य आदि पाँच ब्राह्मण परिवाजकों ने बुद्ध को पथभ्रष्ट मानकर उनका साथ छोड़ दिया।

एक दिन कृषक कन्या सुजाता ने बोद्धिसत्व को पायसदान (चावल) दिया और अमरत्व पाया। उसी दिन श्रोत्रिय नामक असियारे ने उन्हें आठ मुट्ठी तृण का दान दिया। इसके बाद गौतम सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प को लेकर बौद्ध वृक्ष (पीपल का वृक्ष) के नीचे आसीन हो गये। बौद्ध ग्रंथों में इस स्थान को वज्रासन कहा है,¹¹³ इसी वृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध को बौधि की प्राप्ति हुई। बुधत्व प्राप्ति के पश्चात् इसी बौधि वृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध एक सप्ताह भर ज्ञान का आनंद लेते रहे, महावग्ग में कथन है सम्बोधि के पश्चात् भगवान् (गौतम बुद्ध) ने सर्वप्रथम निम्न उद्धार प्रगट किये, ‘यदाहवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो ज्ञायतो ब्राह्मणस्स अथस्य कङ्खा वपयन्ति सव्वा, यतो पजानाति सहेतु धम्मं’¹¹⁴ सम्बोधि प्राप्ति के पश्चात् गौतम बुद्ध के मन में इस दुरनुभोध धर्म को संसारी जीव समर्थ होंगे। इस प्रकार का संदेह उत्पन्न हो रहा था, लेकिन ब्रह्मा ने गौतम बुद्ध के संदेह का निवारण कर दिया, आप धर्म प्रचार कीजिए समझने वाले मिलेंगे।¹¹⁵

इस प्रकार गौतम बुद्ध प्रथम बार आत्मिक बल ऊर्जा से ओत-प्रोत हो मन मस्तिक से तैयार होकर महात्मा बुद्ध ने सारनाथ पहुँचकर सर्वप्रथम अपने उन पाँच साथियों, जिन्होंने पूर्व में साथ छोड़ दिया था को उपदेश दिया ये पाँचों लोग महात्मा बुद्ध से प्रभावित हुए और गौतम बुद्ध के शिष्य बन गए। इन शिष्यों को ‘पंचवर्गीय’ कहा जाता है, गौतम बुद्ध द्वारा इन शिष्यों को दिए गए उपदेशों की घटना को ‘धर्मचक्र प्रवर्तन’ कहा जाता है।¹¹⁶ इसके पश्चात् गौतम बुद्ध के धर्मोपदेश की श्रृंखला प्रारंभ हुई, उन्होंने बनारस राजगृह, गया, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों पर धर्मोपदेश देकर अंग, मगध, काशी, मल्ल, शाक्य, वज्ज और कौशल आदि देशों में भ्रमणकर अपने विचारों को प्रसारित किया, जिससे इनके प्रमुख शिष्यों की संख्या के साथ इनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती गयी। इस समय राजगृही में श्रेणिक (बिम्बसार) राजा थे, उन्होंने बहुत से अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन किए और उनके उपदेशों को सुना। राजग्रह में बुद्ध को दो ऐसे शिष्य प्राप्त हुए जो आगे चलकर बौद्ध धर्म के बड़े स्तम्भ साबित हुए, इनके नाम सारिपुत्र और मोगलान थे, यह दोनों प्रतिभाशाली ब्राह्मण आपस में घनिष्ठ मित्र थे जो गौतम बुद्ध से बहुत

प्रभावित हुए और बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए बाद में दोनों ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए बहुत कार्य किया। गौतम बुद्ध को पंचवर्गीय शिष्य मंडली की प्राप्ति हुई, उसके पश्चात् कश्यप बंधुओं अरुवेल कश्यप, नंदी कश्यप, गया कश्यप यह तीन महाविद्वान ब्राह्मण आचार्य बौद्ध धर्म में सम्मिलित हुए। ‘थेरगाथा’ के अनुसार महाथेरों, अर्हतों की एक विशाल श्रमण शृंखला गौतम बुद्ध के विचारों की समर्थक हो गयी।

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार बौद्ध संघ के श्रमणों के बारे में अपना मत प्रकट करते हैं तथा थेरगाथा के 269 श्रमणों में से उन 10 श्रमणों का परिचय प्रस्तुत करते हैं, जो महात्मा बुद्ध से प्रभावित हो बौद्ध धर्म के अर्हत बन गये।¹¹⁷

महाराजा प्रसेनजित का मंत्री पुत्र वीर: राज्य के राजा प्रसेनजित के मंत्री का पुत्र अपने पुत्र के जन्म के समय के जीवन और मृत्यु के दुःखों और कष्टों को देखकर वैरागी हो गया।

सुन्दर समुद्धः: सुन्दर समुद्ध को एक वैश्या ने पथ भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया पर सुन्दर ने उसके वैश्यागार में ही बैठकर ध्यान समाधि लगा ली तो सुन्दर समुद्ध को सात्त्विक प्रवाह आरंभ हो गया एवं बौद्ध संस्कृति के श्रेष्ठ श्रमण अर्हत की प्राप्ति हुई।

महानामः: बुद्ध से उपदेश प्राप्त कर महानाम निबध्य पर्वत पर चला गया लेकिन बुरे विचार और कामनाएँ उसके साथ में बनी रहीं परेशान होकर उसने एक गाथा का मनन किया, जिससे वह सोतापन्न हो गया और उसे बौधि की प्राप्ति हो गयी।

सुनीतः: सुनीत सफाई का काम करने वाला अंत्यज जाति का युवक था महात्मा बुद्ध को देखकर उसके मन में भिक्षु बनने के भाव आ गए प्रवज्जा ग्रहण कर सुनीत को सात्त्विक प्रवाह का आरंभ हो गया तथा बौधि की प्राप्ति की।

सुमंगलः: यह एक गरीब खेत मजदूर था वह शाक्य श्रमणों के पास ध्यान सीखने हेतु गया लेकिन उसको एकाकीपन सहन नहीं हुआ और वह अपने गांव लौट आया उसने अपने भाइयों को मैले कपड़े पहने अत्यंत गर्म हवाओं ओर कड़ी धूप में कठिन परिश्रम करते और कष्ट पाते देखा तो उसे सोतापन्न हो गया बाद में उसे बौधि की प्राप्ति हो गयी।

सोपक - (युगलः): प्रथम सोपक जो सम्भवतः श्वपच (अंत्यज) जाति का था उसका चाचा उसे दण्डहेतु शमशान में किसी मुर्दे से बांध मर जाने के लिए छोड़ आया। बुद्ध ने उसे उपदेश दिया तो उसने सोतापन्न होकर बौधि की प्राप्ति कर ली द्वितीय सोपक बालक की माता का अल्प समय में मर जाने पर चौकीदार द्वारा पाला पोषागया वह सात वर्ष की उम्र में ध्यानावस्थित महात्मा बुद्ध के पास आया

महात्मा बुद्ध ने उसमें अर्हत पद के लक्षण देखे तो उन्होंने उसके पालक की सहमति से उसे संघ में शामिल कर लिया और उसे सोतापन्न हो गया तथा उसके सात्त्विक प्रवाह आरंभ हो गया तथा बौधि की प्राप्ति हो गयी।

यस्सिक तथा वक्कलिः: यह दोनों ब्राह्मण युवक थे यस्सिक बुद्ध संघ में शामिल हो गया पश्चात् यस्सिक बहुत बीमार पड़ गया तो बीमारी और मृत्यु की आशंका ने उसकी साधना को तीव्र कर दिया जिससे उसे बौधि की प्राप्ति हो गयी।

वक्कलि तीनों वेदों तथा वैदिक कर्मकाण्ड का निष्ठात था एक दिन वह बुद्ध को देखकर आर्कषित होकर उनके पीछे हो लिया बाद में बीमार पड़ और अंधा हो गया, भिक्षुक गण उसे बुद्ध के पास ले गये बुद्ध ने उसे संबोधित करते हुए कहा मेरे इस कुत्सित शरीर में दखने लायक क्या है ? धम्म को देखो जो धम्म को देखता है सचमुच मुझे ही देखता है वक्कलि राजग्रह के निकट पर्वत पर रहने लगा और ध्यान करने लगा वह अत्यंत दुर्बल हो गया। बुद्ध उसके पास आए तो वक्कलि सोतापन्न हुआ तथा बौधि की प्राप्ति हो गयी।

उत्तमः: उत्तम शाक्य वंश का युवक था वह संघ में शामिल हो गया रात्रि में उसे स्वप्न आया कि वह हाथी पर बैठकर भिक्षा मांग रहा है, लेकिन हाथी के ऊपर से वह गिर गया इसी बीच उसकी नींद समाप्त हो गयी वह जाग गया उसे बहुत ग्लानि हुई तथा इस घटना के पश्चात् वह ध्यान की ओर अग्रसर हो गया तथा सोतापन्न हो गया उसे ज्ञान बोधि की प्राप्ति हो गयी। यह स्वप्न ही उसका मार्गदर्शक बन गया।

बौद्ध श्रमण संघ के साथ ही बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध ने भिक्षुणी संघ भी बनाया जिसकी प्रधान भिक्षुणी गौतम बुध की माँसी गौतमी थी। भिक्षुणी संघ के लिए अनेक कठोर नियम थे जिनका संघ को पालन करना पड़ता था। बुद्ध की पत्नी के रूप में रही यशोधरा के साथ ही मासीगौतमी, भूता और धम्मदिना भिक्षुणियों की चर्चा थेर ग्रंथ में आती है। विमला नाम की एक वैश्या अनाथपिण्ड की गृहदासी पुन्नी का भी उल्लेख बौधि भिक्षुणियों के रूप में प्राप्त होता है। सम्राट अशोक की बहिन संघमित्रा¹¹⁸ भिक्षुणी के रूप में बौधि वृक्ष की एक शाखा लेकर श्रीलंका गयी, अनुराधपुर में इस शाखा को लगाया गया, पश्चात् भारत में भिक्षुणी संघ लुप्त हो गया, श्रीलंका में बौद्ध भिक्षुणी संघ पाया जाता है।

गौतम बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए संघ की स्थापना की जो लोग सामान्य गृहस्थ जीवन का परित्यागकर धर्म प्रचार और मनुष्य मात्र की सेवा में ही अपना जीवन खपा देना चाहते थे वे भिक्षु ब्रत लेकर संघ में सम्मिलित होते थे।¹¹⁹ **गौतम बुद्ध का काल निर्धारणः:**

डॉ. ज्योतिप्रसाद इस प्रसंग में लिखते हैं – स्वयं भारत में बुद्ध एवं बौद्ध धर्म के इतिहास संबंधी जो अनुश्रुतियाँ हैं वे भी विदेशी द्वारों से ही प्राप्त होती हैं, बुद्ध

की तिथि का निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई भी भारतीय साधन नहीं हैं, उसके लिए हमें सिंहली, तिब्बती, बर्मी, चीनी (केण्टोनी) अनुश्रुतियों पर ही निर्भर होना पड़ता है और उनमें परस्पर बहुत मतभेद है, अतः आधुनिक विद्वानों में तत्सम्बन्धी बहुत मतभेद रहे हैं।

सामान्यतया गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के संबंध में दो मत स्पष्टः दृष्ट्य होते हैं, एक, भारत में पूर्व से चली आ रही परम्परा में गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण 483 ईसा पूर्व एवं 577 ईसा पूर्व मानते हैं, चूंकि गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण 80 वर्ष की आयु में हुआ था। अतः उनका जन्म 563 ईसा पूर्व ईसा पूर्व माना जाता है। इस काल गणना को भारत के कुछ विद्वान स्वीकार करते हैं लेकिन इस काल गणना का उहोंने क्या आधार स्वीकार किया स्पष्ट नहीं होता। दूसरी श्रीलंका, ब्रह्मा (म्यामार) जैसे देशों की मान्यता है कि बुद्ध का परिनिर्वाण 544 ई.पू. में हुआ और जन्म 624 ई.पू. में हुआ। श्रीलंका आदि देशों की परम्परा अधिक स्पष्ट और प्रमाणित प्रतीत होती है। त्रिपिटिक और अन्य ग्रन्थों में आए उल्लेखों के आधार पर ही बुद्ध का परिनिर्वाण 544-543 ई.पू. तथा जन्म 624-623 ई.पू. निश्चित किया जाना सुनिश्चित करना उपयुक्त है।

महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध, बिम्बसार एवं अजातशत्रु उस काल के प्रमुख व्यक्तित्व थे, जिनके जीवन के घटना क्रम आपस में जुड़े हुए थे। डॉ. जायसवाल एवं पंडित कैलाशचन्द्र के मत अनुसार बिम्बसार का राज्यकाल 600 ई.पू., 601 से 552 ई.पू. तक था। तथा महावग के कथन के आधार पर ही 'सिद्धार्थ बिम्बसार से 5 वर्ष बड़े थे' का आधार लेकर गौतम बुद्ध, बिम्बसार एवं महावीर स्वामी के काल का अध्ययन करें, तो तीनों महापुरुषों का सही काल निर्धारण हो जाता है। कुछ इतिहासकारों ने महावीर स्वामी, यशोधर मुनिराज, श्रेणिक (बिम्बसार) के घटनाक्रम को अनदेखा कर गौतम बुद्ध और बिम्बसार का देश में प्रचलित काल निर्धारण मान लिया फलस्वरूप गौतम बुद्ध का जन्मकाल विवादित हो गया।

बुद्ध महावीर तथा अन्य समकालीन महापुरुषों के जीवनकाल को भारत की मूल संस्कृति जैन श्रमण संस्कृति और बौद्ध श्रमण संस्कृति संयुक्त रूप से ही खोजा जाना चाहिए। दोनों संस्कृतियों के समीचीन अध्ययन से ही तत्कालीन महापुरुषों के जीवनकाल के बारे में जाना जा सकता है, क्योंकि जैन श्रमण संस्कृति और बौद्ध श्रमण संस्कृति के महापुरुष न केवल समकालीन रहे बल्कि दोनों के उद्देश्य भी लगभग एक जैसे रहे। इन संस्कृतियों के महापुरुषों के काल को हम आयाति ईस्वी सन् को आधार बनाकर नहीं खोज सकते।

गौतम बुद्ध के जन्मकाल का निर्धारण निम्नलिखित बिन्दुओं पर किया जा सकता है -

महावंश में लिखा है बिम्बसार और युवराज सिद्धार्थ (बुद्ध) परस्पर में मित्र थे, उन दोनों के पिता आपस में मित्र थे तथा बुद्ध बिम्बसार से 5 वर्ष बड़े थे। गौतम बुद्ध जब 29 वर्ष के थे तब गृह त्याग किया 6 वर्ष पश्चात् बौद्ध प्राप्त कर (35 वर्ष की उम्र में) बुद्ध बिम्बसार से मिले। डॉ. जायसवाल एवं पं. कैलाशचन्द्र खोज के आधार पर बिम्बसार के राजकाल का प्रारंभ 600-601 ई.पू. से प्रारंभ मानते हैं।¹²⁰

श्रीलंका एवं म्यामार जैसे देश गौतम बुद्ध का जन्म बुद्ध पूर्णिमा (वैशाख शुक्ल 15) 624 ई.पू. मानते हैं, यह कालनिर्धारण अधिक प्रमाणित माना जा सकता है क्योंकि भारत से बौद्ध धर्म का ह्रास होने पर श्रीलंका में ही वह पल्लवित हुआ तथा बौद्ध श्रमणों ने श्री लंका में अपनी संस्कृति को मजबूती प्रदान की तथा स्मरण के आधार पर ग्रन्थों का लेखन भी प्रारंभ किया अतः श्रीलंका की परम्पराएँ एवं प्रमाण अन्य देशों की अपेक्षा अधिक परिपक्व माने जा सकते हैं।

यह सर्वविदित है कि 1956 में वैशाख शुक्ला पूर्णिमा (बुद्ध पूर्णिमा) को विश्वभर में बुद्ध की 2500 वाँ परिनिर्वाण जयंती मनाई गयी थी।¹²¹ तदनुसार (2500-1956 = 544) बुद्ध का निर्वाण ईस्वी पूर्व 544 में हुआ था, स्पष्ट होता है।

भारत सरकार के इलेक्ट्रॉनिक और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय द्वारा विकसित और होस्ट किया गया वेबसाइट में उत्तर प्रदेश सरकार के गोरखपुर जिला सूचना विज्ञान केन्द्र ने 26 फरवरी 2020 को अपडेट वेबसाइट में लुम्बिनी शीर्षक में भारत में पूर्व से प्रचलित गौतम बुद्ध की जन्मतिथि को प्रमाणिकता के आधार पर गौतम बुद्ध का जन्म 623 ई.पू. स्वीकार करते हुए लिखा है - 'भगवान बुद्ध का जन्म 623 बी.सी. में लुम्बिनी के प्रसिद्ध बागों में हुआ था जो जल्द ही तीर्थ यात्रा का स्थान बन गया।'¹²²

पं. कैलाशचन्द्र जी बुद्ध और महावीर के जीवन का तुलानात्मक अध्ययन करते हुए लिखते हैं बुद्ध की आयु 80 वर्ष और महावीर की 72 के करीब थी। चूंकि बुद्ध का परिनिर्वाण 544 ई.पू. में हुआ अतः उनका जन्म ईस्वी सन् 624 में होना चाहिए तथा महावीर का निर्वाण ईस्वी पूर्व 527 में हुआ। अतः उनका जन्म 599 ई.पू. में होना चाहिए। इस तरह बुद्ध से महावीर 25 वर्ष छोटे ठहरते हैं बुद्ध को 588 ई.पू. में बौद्ध लाभ हुआ और महावीर को 557 ई.पू. में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ इस तरह बौद्ध लाभ के पश्चात् वे दोनों महापुरुष लगभग 12-13 वर्ष तक धर्म के शास्त्र में प्रतिस्पर्धी के रूप में साथ-साथ विचरण करते रहे। बौद्ध पालि साहित्य में निग्रंथ ज्ञात पुत्र के संबंध में जो उल्लेख मिलते हैं, 12 वर्ष के सुदीर्घकाल में उनका घटित होना जरा भी असंभव नहीं कहा जा सकता।¹²³

जैन श्रमण संस्कृति के अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी अपने पूर्वजों के परिपक्व मार्ग पर सीधे आगे बढ़कर पंच महात्रतों को धारण कर तप करते हुए

केवलज्ञान प्राप्त कर उपदेश देते हुए अपनी शिष्य - प्रशिष्य परम्परा के साथ श्रावकों (जैन धर्मावलम्बी गृहस्थ) को भी मोक्ष मार्ग प्रशस्त करते हुए निर्वाण को प्राप्त हो गये।

महावीर के निर्वाण के लगभग 650 वर्ष पश्चात् उनके प्रशिष्यों द्वारा लिखित ग्रंथ धवला एवं तिलोयपण्णति में महावीर की काल गणना का स्पष्टतया उल्लेख है। उल्लेख इस प्रकार मिलता है - 605 वर्ष और 5 माह वीतने पर शक राजा उत्पन्न हुआ। 'धवला' ग्रंथ पुस्तक 9 में भी वीर निर्वाण के 605 वर्ष पश्चात् शक राजा का काल आरंभ होता है का उल्लेख मिलता है। इसी पुस्तक में एक और उल्लेख प्राप्त होता है कि वीर निर्वाण के 575 वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् का आरंभ माना गया है। उपर्युक्त काल गणना में घटना क्रम के आधार पर ऐतिहासिक सामंजस्य भी है।

यदि हम गौतम बुद्ध का जन्म 624 ई.पू. न मानकर 563 ई.पू. माने एवं महावीर से 36 वर्ष छोटा स्वीकार करें तो सिद्धार्थ जब 30 वर्ष की उम्र में गृह त्याग कर बौधि की तलाश में निकले तो उन्हें मगध के आस-पास महावीर स्वामी अवश्य मिलना चाहिए थे अथवा सिद्धार्थ को महावीर के पास जाना चाहिए था क्योंकि 557 ई.पू. महावीर को केवलज्ञान हो गया था और उनका यश चारों दिशाओं में फेल रहा था, उनके 11 गणधरों में से 10 गणधर ब्राह्मणकुल में उत्पन्न महापुरुष रहे जबकि तीन गणधर इन्द्रभूति, वायुभूति अग्निभूति तो वैदिक संस्कृति के कर्मकाण्ड के प्रकाण्ड विद्वान रहे। फिर सिद्धार्थ उसी क्षेत्र में सामान्य ब्राह्मणों के साथ वन में रहकर बोधि प्राप्त करने का असफल प्रयास क्यों करते रहे? पश्चात् वे दिगम्बर मुद्रा के धारी साधुओं के साथ कई वर्षों तक रहे। इन दिगम्बर साधुओं में महावीर अथवा महावीर के शिष्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता जबकि उस काल में पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण तक महावीर की यश पताका फहरा रही थी।

उल्लेख मिलता है 23 वें तीर्थकर पाश्वनाथ की परम्परा के चातुर्याम परम्परा के साधु महावीर स्वामी के केवलज्ञान होने के काल तक रहे गौतम बुद्ध उन दिगम्बर साधुओं के सनिध्य में नान रहे, केशलोंच किया तथा पाणिपात्र में आहार किया। डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं राजकुमार गौतम ने एक के बाद एक कई मार्गों का प्रयोग रूप में अवलम्बन किया। कुछ दिन वे पाश्वनाथ (23 वें तीर्थकर) की आमाय के एक जैन साधु के शिष्य रहे। स्वयं मज्जमनिकाय आदि प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से स्पष्ट है कि उन्होंने जैनाचार एवं तपश्चरण का अभ्यास किया।¹²⁴ डॉ. हीरालाल का भी यही मत है वे लिखते हैं कि बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय चतुक्कनिपात (वग-5) और उसकी अट्ठकथा में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा वप्पशाक्य निग्रन्थ श्रावक था। पाश्वनाथ की परम्परा) तथा निग्रन्थ श्रावकों के इसी

प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं वे बौद्ध धर्म पर जैन धर्म के प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- बौद्ध धर्म में जो कुछ व्यवस्थाएँ निग्रन्थों से स्वीकार की गई हैं जैसे - उपोसथ (महवग 2.1.1) वर्षावास (महवग 3.1.1) वे भी पाश्वनाथ की परम्परा की होनी चाहिए तथा बुद्ध को जिन श्रमण साधुओं का समकालीन पालि ग्रन्थों में बतलाया गया है वे भी पाश्वनाथ की परम्परा के ही माने जा सकते हैं।¹²⁵ आचार्य देवसेन ने तो स्पष्ट लिखा है कि बुद्ध ने पाश्व सम्प्रदाय के मुनि पीहिताश्रव के पास दिगम्बर जैन दीक्षा ली थी इनका नाम बुद्धकीर्ति था परंतु मांस भक्षण के बाद उन्होंने संघ से पृथक होकर अपना अलग धर्म स्थापित किया।¹²⁶

यदि गौतम बुद्ध की जन्मकाल 564 ई.पू. स्वीकार करें और बिम्बसार इनसे 5 वर्ष छोटे रहे तो बिम्बसार का जन्म 559 ई.पू. स्वीकार करना होगा तथा लगभग 20 वर्ष पश्चात् 539 ई.पू. बिम्बसार ने राज्य सिंहासन प्राप्त किया माना जाए तथा 533 ई.पू. में गौतम बुद्ध बोधि की प्राप्ति हेतु घर से निकलकर बिम्बसार के पास आए तथा 6 वर्ष तक पश्चात् 528 ई.पू. में उन्हें बोधि की प्राप्ति हुई। जबकि 527 ई.पू. में महावीर की निर्वाण तिथि ही मानी जाती है, इस प्रकार महावीर का निर्वाण और गौतम बुद्ध का बोधि की प्राप्ति का काल लगभग एक ही हो जाता है जिसे न तो बुद्ध ग्रंथ स्वीकार कर सकते हैं, न जैन ग्रंथ और न इतिहास में उल्लिखित घटनाक्रम।

जैन ग्रंथों में उल्लेख आता है कि श्रेणिक (बिम्बसार) की मृत्यु वीर निर्वाण के 7 वर्ष 5 माह पश्चात् हुई, इस प्रकार 518 ई.पू. के लगभग (बिम्बसार) श्रेणिक की मृत्यु हो गयी।¹²⁷ तथा उनका राज्यकाल 538 ई.पू. से 519 ई.पू. (मात्र 19 वर्ष) ही बनता है, जबकि इतिहासज्ञ बिम्बसार (श्रेणिक) का राज्यकाल 52 वर्ष स्वीकार करते हैं। इस अपेक्षा से उपर्युक्त जन्मतिथि सटीक नहीं बैठती और बिम्बसार का जन्म 619 ई.पू. ही स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि गौतम बुद्ध की आज के प्रचलित उपर्युक्त कालगणना को आधार बनाएँ तो बिम्बसार और महावीर के काल में घटित घटनाक्रम बिम्बसार तथा उनका पुत्र अभ्यु कुमार एवं चेटक राजा की पुत्री चेलना से विवाह पश्चात् बिम्बसार के द्वारा यशोधर मुनिराज के गले में मृतक सर्प डालना, चेलना एवं बिम्बसार द्वारा सर्प निकालना, बिम्बसार का यशोधर मुनि तथा जैन धर्म के प्रति श्रद्धान, महावीर स्वामी के समवशरण में बिम्बसार द्वारा 60,000 प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना। महावीर निर्वाणके 8 वर्ष 6 माह पश्चात् बिम्बसार की मृत्यु आदि घटनाक्रम घटित होना संभव नहीं हो सकता।

अतः गौतम बुद्ध का जन्मकाल 624 ई.पू. तथा डॉ. जायसवाल एवं कैलाशचंद जी की मान्यतानुसार बिम्बसार का राज्यकाल 600-601 ई.पू.¹²⁸ स्वीकार

करें एवं महावग के अनुसार गौतम बुद्ध को बिम्बसार से 5 वर्ष बड़ा स्वीकार करें तो गौतम बुद्ध के जन्मकाल की गणना सही हो सकती है। गौतम बुद्ध, बिम्बसार, चेटकराजा, महावीर स्वामी, चेलना, अभय कुमार, अजातशत्रु, आदि का घटनाक्रम यथावत हो सकता है तथा दोनों संस्कृतियों के अनुसार सटीक भी हो जाएगा।

इतिहासकार बिम्बसार और अजातशत्रु के राज्यकाल पर लगभग एक मत हैं लेकिन गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण पर एक मत न होने के कारण उस काल की घटित घटनाएँ आपस में मेल नहीं खा पातीं। अतः गौतम बुद्ध महावीर, बिम्बसार और अजातशत्रु के जीवन की घटित-घटनाएँ गौतम बुद्ध का जन्म 624 ई.पू. मानने पर ही तालमेल बैठ सकता है।

संदर्भ सूची :

01. प्राचीन भारत का इतिहास 11, 1991 जैन साहित्य का इतिहास प्राक्कथन
02. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 प्राक्कथन
03. संयुक्त प्रान्त के प्राचीन स्मारक, भूमिका पृ. 31
04. शिवलाल हायर सेकेन्ड्री इतिहास (म. प्र.) पृ. 17
05. शिवलाल हायर सेकेन्ड्री इतिहास (म. प्र.) पृ. 17
06. शिवलाल हायर सेकेन्ड्री इतिहास (म. प्र.) पृ. 226
07. शिवलाल हायर सेकेन्ड्री इतिहास (म. प्र.) पृ. 226
08. जैन शासन पृ. 212-213
09. संयुक्त प्रान्त के प्राचीन स्मारक, भूमिका पृ. 32
10. संयुक्त प्रान्त के प्राचीन स्मारक, भूमिका पृ. 32
11. रिपोर्ट अक्टूबर 19 तथा समुद्र में द्वशका एनडीटीवी
12. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 38
13. प्राचीन भारत का धर्मिक सामाजिक आर्थिक जीवन पृ. 44
14. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 44
15. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 44
16. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
17. जैन शासन पृ. 224
18. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 38,39
19. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 39
20. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 43
21. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 44

22. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 44
23. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 48
24. सानुवाद शंकर भाष्य गीता प्रेस 3.17.6
25. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 08
26. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 08
27. भगवत् गीता : परिचयात्मक निबन्ध तथा जैन साहित्य से कृष्ण पृ.8
28. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 09
29. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 06
30. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 14
31. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 14
32. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 16
33. जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 16
34. आगम साहित्य का पर्यालोचन पृ. 182 एवं जैन साहित्य में कृष्ण पृ. 24
35. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 276
36. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 311
37. हरिवंश पुराण अध्याय 34.15-16
38. एक अक्षौहिणी सेना में 270 हाथी, 21870 रथ
39. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 311
40. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 309
41. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ.309
42. महाभारत अनुशासन पर्व 147.27.32
43. महाभारत द्रोण पर्व 144.6-7 एवं जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ.310
44. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 45
45. गिरनार गौरव पृ. 46
46. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 46
47. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 46
48. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 46
49. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 47
50. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 47
51. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 47,48
52. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 47,48
53. चातुर्यामः अहिंसा, सत्य, आचार्य और अपरिग्रह महाव्रत
54. कौशाम्बी पार्श्वनाथ चातुर्याम पृ.19

55. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 46
56. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ.19
57. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 52
58. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 52
59. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ.359
60. जिन सरस्वती पृ. 37
61. जिन सरस्वती पृ. 37
62. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 52, 53
63. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 364
64. जिन सरस्वती पृ. 38 एवं तिलोयपण्णति 4.1284
65. इण्डियन पोलोग्राफी पृ. 180
66. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 366
67. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 366
68. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.125
69. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 368
70. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.125
71. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 365
72. उडीसा में हाथी गुफा का शिलालेख
73. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.125
74. भगवान महावीर और बुद्ध पृ. 123
75. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.126
76. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.129
77. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.129
78. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.129
79. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.129
80. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.129
81. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.129
82. भगवान महावीर पृ. 120
83. हरिवंश पुराण पृ. 120 एवं उत्तरपुराण पृ.616
84. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 17
85. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 61
86. जैनधर्म का इतिहास भाग 1 पृ. 383
87. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.61
88. उत्तर पुराण में इन्द्रभूति गणभर का उल्लेख आता है। संक्षिप्त जैन इतिहास पृ.177
89. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ. 177
90. उत्तरपुराण गाथा 178
91. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 29-30
- 92.
- 93.
- 94.
- 95.
- 96.

जैन सम्प्राट चन्द्रगुप्त मौर्य और मौर्य वंश

इस अध्याय में हम मौर्य वंश एवं चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की न केवल समकालीनता का चिंतन करंगे बल्कि भद्रबाहु और चंद्रगुप्त के मध्य गुरु शिष्य के संबंधों पर प्रकाश डालने का प्रयास करते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात्वर्ती अन्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख उन्हीं की वंश परम्परा में अशोक के पौत्र सम्प्रति को भी चन्द्रगुप्त नाम से जाना जाता रहा है, इन्होंने उन्जैन नगर को राजधानी बनाया। यह पूर्णतया जैन धर्मावलंबी रहे, तृतीय चन्द्रगुप्त गुप्तवंश के संस्थापक घोटोकच्च के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम (319 से 324 ई.) में हुए इन्होंने 319 ई. में गुप्तसंवत् का प्रारंभ किया तथा महाराजाधिराज की उपाधिग्रहण की थी। चतुर्थ चन्द्रगुप्त गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त प्रथम के पौत्र समुद्र गुप्त के पुत्र तथा रामगुप्त के भ्राता चन्द्रगुप्त द्वितीय (380 ई. से 412 ई.) का राज्यकाल रहा। इनके काल के कारण ही गुप्तवंश को “इतिहास का स्वर्णयुग” कहा जाता है।

डॉ. स्मिथ लिखते हैं- इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि शिशुनाग, नंद और चन्द्रगुप्त मौर्य के राजकाल के समय में जैन धर्म मगध प्रान्त में बहुत जौर पर था। एक बार जहाँ चन्द्रगुप्त के जैन धर्मावलम्बी होने की बात मान ली वहाँ फिर उनके द्वारा राज्य को त्यागकर जैन विधि के अनुसार सल्लेखना विधि पूर्वक मरण करने की बात सहज ही विश्वसनीय हो जाती है। जैन ग्रंथ कहते हैं कि जब भद्रबाहु की द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षवाली भविष्यवाणी उत्तरभारत में सच होने लगी तब आचार्य बारह हजार जैनियों (मुनियों) को साथ लेकर अन्य सुदेश की खोज में दक्षिण को चल पड़े महाराज चन्द्रगुप्त राज्य त्यागकर संघ के साथ हो लिये। यह संघ श्रवणबेलगोल पहुँचा, यहाँ भद्रबाहु ने शरीर त्याग किया। राजिष्ठ चन्द्रगुप्त ने उनसे बारह वर्ष पीछे समाधिमरण किया। इस कथा का समर्थन श्रवणबेलगोल आदि के शिलालेखों तथा इसा की सातवीं शताब्दी के उपरान्त के लेखों तथा दसवीं शताब्दी के ग्रंथों से होता है। वे आगे लिखते हैं किन्तु बहुत कुछ सोच विचार करने पर मेरा झुकाव इस कथन की मुख्य बातों को स्वीकार करने की ओर है, यह तो निश्चित ही है कि जब इसा पूर्व 322 में या उसके लगभग चन्द्रगुप्त सिंहासन रूढ़ हुए थे तब वे तरूण थे। अतएव जब 24 वर्ष के पश्चात् उनके राज्यकाल की समाप्ति हुई तब वे पचास वर्ष की अवस्था से नीचे ही होंगे। अतः इतनी कम अवस्था में उनका राज्य त्याग देने और

लुस हो जाने का उक्त कारण ही प्रतीत होता है। राजाओं के इस प्रकार विरक्त हो जाने के अन्य भी उदाहरण हैं और बारह वर्ष का दुर्भिक्ष भी अविश्वसनीय नहीं है। संक्षेप में अन्य कोई वृत्तान्त उपलब्ध न होने के कारण इस क्षेत्र में जैन कथन ही सर्वोपरि प्रमाण है।¹

डॉ. फ्लीट 53 ई.पू. में उत्पन्न भद्रबाहु को दक्षिणावर्त जाना स्वीकार करते हैं तथा इनके शिष्य गुस्तिगुस का ही नाम चन्द्रगुस था। घटनाक्रम के आधार पर डॉ. फ्लीट की बात असहज लगती है अनेक विद्वान इस बात से सहमत नहीं होते। पं. कैलाश चन्द्र लिखते हैं कि श्वेताम्बरीय साहित्य में भद्रबाहु को ज्योतिषी बराहमिहिर का भाई लिखा है और बराहमिहिर का काल शक सं. 427 (ई. 505 सन्) निश्चित है, वे आगे लिखते हैं द्वितीय भद्रबाहु के समय में चन्द्रगुस नाम के किसी राजा का कोई संकेत नहीं मिलता, दूसरे चन्द्रगुस और गुस्तिगुस को एक मानने का कोई प्रमाण नहीं है, तीसरे जिस दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु को उत्तरापक्ष से दक्षिणापथ जाना पड़ा उस दुर्भिक्ष का द्वितीय भद्रबाहु के समय का कोई निर्देश नहीं मिलता। डॉ. स्मिथ ने चन्द्रगुस और भद्रबाहु के कथानक में शिलालेखों का निर्देश किया है उनमें श्रवण बेलगोला के चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बस्ती के पास उल्लिखित शिलालेख क्रं. 1 सर्वप्राचीन शिलालेख माना गया है। इसके अतिरिक्त श्रवण बेलगोला के शिलालेख क्रं. 17, 18, 40, 54 और 108 में भी चन्द्रगुस को भद्रबाहु का शिष्य बतलाया गया है,² लेकिन शिलालेख क्रं. 1 में चन्द्रगुस के स्थान पर प्रभाचन्द्र का उल्लेख किया गया है।³

मैगस्थनीज के उल्लेखानुसार ‘चन्द्रगुस श्रमण गुरुओं की उपासना आहारदान एवं प्राणी हित के कार्यों में संलग्न रहता था।’ डॉ. जायसवाल लिखते हैं ‘ये मौर्य महाराज वेदों के कर्मकाण्ड को नहीं मानते थे और न ब्राह्मण की जाति को अपने से ऊंचा समझते थे। भारत के ये ब्रात्य अवैदिक क्षत्रिय सार्वकालिक साम्राज्य अक्षय धर्म विजय स्थापित करने की कामना वाले हुए।⁴

लुइस राईस तथा महामहोपध्याय आर नरसिंहाचार्य ने भी चन्द्रगुस मौर्य को जैन स्वीकार किया है और उसकी दक्षिण यात्रा को यथार्थ माना है।⁵

चन्द्रगुस मौर्य के जैन धर्मवलम्बी होने के साथ दि. जैन श्रमणों की भक्ति सेवा की पुष्टि चन्द्रगुस के राजदरबार में यूनानी शासक सेल्यूक्स के राजदूत मैगस्थनीज ने भी की है, वे लिखते हैं “ये श्रमण ब्राह्मणों और बौद्धों से भिन्न थे इनका महाराज चन्द्रगुस के साथ घनिष्ठ संबंध था। वे स्वयं तथा अपने अनुचरों के द्वारा बड़ी विनय तथा भक्ति के साथ श्रमणों की पूजा किया करते थे।”⁶ पं. कैलाशचंद्र लिखते हैं अतः हरिषेण कृत कथाकोश में जो भद्रबाहु की कथा दी है उसमें प्रामाणिकता है यद्यपि उसमें चन्द्रगुस की उज्जैनी का राजा बतलाया है किन्तु यह कथन भी

आपत्तिजनक नहीं है क्योंकि हम पहले बतला आये हैं कि शिशुनागवंश और नंदवंश के राज्य में उज्जैनी का राज्य भी सम्मिलित था डॉ. जयचंद विद्यालंकार लिखते हैं, ‘यद्यपि चन्द्रगुस मौर्य की राजधानी तो पाटलीपुत्र ही थी किन्तु कुछ अन्य राजधानीयों भी थीं जिनमें उज्जैन का नाम भी है और जो पश्चिम खण्ड की राजधानी थी।’

चन्द्रगुस मौर्य के समय में ही जो भद्रबाहु थे उनका ही कथानक लोक प्रसिद्ध और सत्य है, भद्रबाहु के काल में दिग्म्बर परम्परा से टूटकर श्वेताम्बर परम्परा का बीजारोपण हुआ और श्वेताम्बर श्रमणों का दिग्म्बर जैन श्रमण भद्रबाहु के दक्षिणावर्त में जाने के पश्चात् मगध के पाटलीपुत्र में होने वाली प्रथम वाचना में संकलित आगम को स्वीकार किया गया था। इसका उल्लेख विश्व के अति प्राचीन शिलालेख खारवेल के हाथी गुफा पर अंकित शिलालेख की 16 वीं पंक्ति को डॉ. जायसवाल जी ने इस प्रकार पढ़ा ‘मौर्य काल में विछिन्न हुए चौसठ भाग वाले चौगुने अंग सप्तिक का उसने उद्धार किया। उक्त शिलालेख के उक्त पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिग्म्बर और श्वेताम्बर परम्परा में भद्रबाहु श्रुत केवली के समय से श्रुतका विच्छेद होने की जो अनुश्रुतियाँ हैं वे मौर्य काल से सम्बद्ध हैं और इसलिये भद्रबाहु श्रुत केवली का चन्द्रगुस मौर्य के काल में होना सिद्ध है।⁷

चन्द्रगुस और भद्रबाहु का काल:

कुछ इतिहासज्ञ चन्द्रगुस का राजकाल 327 ई.पू. 302 ई.पू. तक मानते हैं, अतः चन्द्रगुस के काल के समानान्तर भद्रबाहु का काल होने पर ही चन्द्रगुस आचार्य भद्रबाहु के दीक्षित शिष्य बन सकेंगे। अतः काल की गणना ज्ञात करने हेतु आचार्य भद्रबाहु के काल की गणना के साक्ष्यों का उल्लेखनीय अध्ययन करते हैं, सन् 143 से 173 ई. के काल में आचार्य यतिवृषभ द्वारा लिखित तिलोयपण्णति ‘ग्रन्थ में उल्लेख आता है।’ जिस दिन वीर प्रभु का निर्वाण हुआ उसी दिन उनके प्रधान शिष्य गौतम केवलज्ञानी हुए, उनके मुक्त होने पर सुधर्मा स्वामी केवलज्ञानी हुए, उनके मुक्त होने पर जम्बू स्वामी केवलज्ञानी हुए। जम्बू स्वामी के मुक्त होने पर कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ। इन तीनों के धर्म प्रवर्तन का काल 62 वर्ष है। नंदि, नंदिमित्र, अपराजित, चौथे गोवर्धन और पाँचवें तथा अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु श्रेष्ठ जगत में विख्यात श्री वर्धमान स्वामी के तीर्थ में हुए। इन पाँचों के काल का सम्मिलित प्रमाण सौ वर्ष होता है। इनके पश्चात् भरत क्षेत्र में कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ।⁸ अर्थात् केवली और श्रुत केवली महापुरुषों का संपूर्ण काल जैन परम्परा महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् कुल 162 वर्ष होता है। लगभग इसी काल का वर्णन जयधवल, धवला, हरिवंशपुराण, श्लोकवार्तिक, इन्द्रनन्दि श्रुतावतार ग्रंथों में प्राप्त होता है।⁹ नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में भी प्रत्येक केवली और श्रुतकेवली का प्रथक काल दिया है।

गौतमगणधर	-	12 वर्ष
सुधर्मास्वामी (लोहार्य)	-	11 वर्ष
जम्बू स्वामी	-	38 वर्ष
61+1=	62 वर्ष	
विष्णु कुमार	-	14 वर्ष
नन्दि मित्र	-	16 वर्ष
अपराजित	-	22 वर्ष
गोवर्धन	-	19 वर्ष
भद्रबाहु	-	29 वर्ष
		100 वर्ष

इस तरह भगवान महावीर के निर्वाण पश्चात् श्रुत केवली भद्रबाहु पर्यन्त 162 वर्ष का काल होता है, इस प्रकार $527 \text{ ई.पू. } 162 = 365 \text{ ई.पू.}$ अर्थात् भद्रबाहु का काल 365 ई.पू. होता है जबकि भारतीय साहित्य एवं घटनाक्रम के अनुसार यह कालांतर 12 से 18 वर्ष का तक रह जाता है, जो कि भारतीय इतिहासकारों को स्वीकार है क्योंकि यह कालांतर राज्याभिषेक के काल में हो सकता है जिसे विद्वान स्वीकार करते हैं।¹¹ इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु के मध्य कालांतर अति न्यून होकर समाप्त प्रायः हो जाता है। अतः चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के मध्य के शिलालेख, साहित्य, किवदन्तियाँ आदि के आधार सत्य ही दृष्टव्य होते हैं।

हमें उपर्युक्त कालांतर समझने हेतु उन युनानी अभिलेखों को भी समझना होगा जिनके आधार पर चन्द्रगुप्त आदि का काल निर्धारण किया गया।

चन्द्रगुप्त मौर्य जब चाणक्य के सहयोग से मगध के सम्राट की पुत्री से विवाह कर मगध का सम्राट बना तो उसने लगभग उसी काल में उज्जैयिनी पर विजय प्राप्त कर लगभग संपूर्ण भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। इसी काल में मध्य एशिया के सम्राट सिकन्दर का विश्वास प्राप्त सेनापति सेल्युक्स सम्राट बना उसने भारत विजय हेतु प्रयत्न आरंभ कर दिया लेकिन वह चन्द्रगुप्त की वीरता तथा चाणक्य की नीति के आगे परात हो गया तथा बंदी बना लिया गया। तब सेल्युक्स ने संघटक अपनी बेटी हेलिना/हेलेन का विवाह चन्द्रगुप्त से करके चन्द्रगुप्त को परोपनिसडार, अरिया, अखोंशिया और गदरोशिया (काबुल, हिरात, कन्दरहार और बलुचिस्तान) चार प्रांत (देश) भेंट में दिए तथा पंजाब, सिन्धु, कन्दहार को खाली करके चन्द्रगुप्त मौर्य को समर्पण कर दिये, इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त मौर्य कम्बोज और पामीर का भी सम्राट हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी मैत्री के चिह्न स्वरूप सेल्युक्स को पाँच सौ हाथी भेंट किये।¹² इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य भारत के ज्ञात इतिहास में श्रीकृष्ण के पश्चात् सर्वाधिक क्षेत्र पर राज्य करने वाला महान सम्राट बना।

उपर्युक्त घटनाक्रम के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य के दरवार में सिल्युक्स का मैगेस्थनीज नामक राजदूत मगध में रहा उसने राजा की दिनचर्या, राजधानी, राजव्यवस्था, लोकदशा, रीति-रिवाज आदि का लेखन किया। जो कि भारत के तत्कालीन इतिहास का सर्वाधिक मूल्यवान साधन बना।¹³

लेकिन मैगेस्थनीज ने जो वर्णन अपने लेखनी से संवारा था वह मूल वृतान्त नष्ट हो गया तथा उसके 300 वर्ष बाद उन उद्धरणों को पश्चात्वर्ती लेखकों ने लिखने का प्रयास किया। डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं कि दुर्भाग्य से मैगेस्थनीज के वृतान्त मूलतः नष्ट हो गये, किन्तु उसके दो-तीन सौ वर्ष बाद जिन युनानी इतिहासकारों ने भारत के सिकन्दर सेल्युक्स कालीन वर्णन लिखे उन्हें जो उद्धरण प्राप्त थे उन्हीं के आधार पर और बहुधा उनके उद्धरणों सहित ये इतिहास लिखे गये हैं। अतः मैगेस्थनीज बहुत कुछ अंशों में आधुनिक इतिहासकारों को भी प्राप्त हो गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जिस साहित्य के आधार पर हमारे देश के काल का निर्धारण युरोपीय साहित्य में किया गया है वह शत-प्रतिशत सही नहीं हो सकता। क्योंकि मूल अभिलेख के नष्ट होने के लगभग 300 वर्ष बाद उसके वर्ण्य विषय को सहजने का प्रयास हजारों कि.मी. की दूरी पर किया गया और हमने उसे यथावत ही स्वीकार कर लिया। जबकि लगभग इतने ही कालांतर से भारत में भी अतिविश्वसनीय ‘ध्वला’ आदि ग्रन्थों में कालिविभाजन करके चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख किया गया तथा पश्चात्वर्ती अनेक साक्ष्य चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के घटनाक्रम के साक्षी भी हैं। श्रीलंका में लिखा गया प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग में काल का विवरण अत्यंत स्पष्ट और विश्वसनीय लगता है, जिसके आधार पर हमें भारतीय महापुरुषों के काल एवं घटनाक्रम को स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि भारत के प्राचीन काल में व्यक्ति काल के निर्धारण की परम्परा कम ही प्राप्त होती है। तो भी भारत में घटित घटनाक्रम को भारतीय दृष्टि से ही स्वीकार करना उचित है।

सम्भवतः इसी कालांतर के कारण डॉ. ज्योतिप्रसाद ने भद्रबाहु के साथ नन्दराज की दीक्षा का उल्लेख किया है तथा तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त ने राज्य त्यागकर मुनि दीक्षा लेकर गिरिनार फाणी के पास चन्द्रगुप्त गुफा में रहे पश्चात् श्रवण बेल्गोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर तपस्या करते हुए सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण किया, जिसका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

श्वेताम्बरीय स्थविरावली के अनुसार महावीर निर्वाण के पश्चात् होने वाले युगप्रधान आचार्यों का कालक्रम इस प्रकार दिया है।

- | | | | | | | |
|----|---------|---|---------|----------------|---|---------|
| 1. | सुधर्मा | - | 20 वर्ष | 5. यशोभद्र | - | 50 वर्ष |
| 2. | जम्बू | - | 44 वर्ष | 6. संभूति विजय | - | 6 वर्ष |
| 3. | प्रभव | - | 11 वर्ष | 7. भद्रबाहु- | | 14 वर्ष |

जम्बू स्वामी केवली के पश्चात् होने वाले युग प्रधान आचार्यों में भद्रबाहु ही एक ऐसे नाम प्रधान आचार्य हैं, जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर पंथ परम्परा ने एक साथ स्वीकार किया है, कालान्तर के आधार पर इनको चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता है, इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने महावीर निर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजा हुआ, स्वीकार कर चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु का कालान्तर समाप्त किया तथा चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के कथानक को पूर्ण सत्य स्वीकार किया।

चन्द्रगुप्त के राजकाल को लेकर पं. कैलाशचन्द्र जी अपनी पुस्तक जैन साहित्य का इतिहास में लिखते हैं – इतिहास के प्रेमियों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के काल को लेकर भी इतिहासज्ञों में मतभेद है वह मतभेद 13-14 वर्ष का ही है, 326-25 ई.पू. से लेकर 312 ई.पू. के मध्य चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा, यह सुनिश्चित रीति से माना जाता है। अतः महावीर निर्वाण से 215 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य होने का निर्देश सर्वथा गलत नहीं कहा जा सकता।

उल्लेखनीय है कि जैन ग्रंथों में महावीर निर्वाण के पश्चात् होने वाले राजवंशों की काल गणना तो दी है किन्तु उन राजवंशों में होने वाले राजाओं का न तो नाम दिया है और न प्रत्येक का राजकाल ही दिया है, अतः पुराणों और बौद्ध ग्रंथों में दी गयी राजकाल गणना के साथ उनका समीकरण कर सकना शक्य नहीं है। फिर भी इन्हाँ सुनिश्चित हैं कि वीर निर्वाण के पश्चात् जो राजकाल गणनावादी है वह वीर निर्वाण संवत् उसके अविरुद्ध और महावीर निर्वाण संवत् और विक्रम संवत् के मध्य में 470 वर्ष का अन्तर मानने में एकमत है तथा शक राज से 605 वर्ष पूर्व वीर निर्वाण होने में भी सब एकमत हैं।

बहुत अधिक मंथन करने के पश्चात् पं. कैलाशचन्द्र आगे लिखते हैं अतः चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु श्रुत केवली की समकालीनता अवश्य ही एक ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होती है।

चाणक्य: चन्द्रगुप्त के लौकिक गुरु

विष्णुगुप्त, कौटिल्य के नाम से विख्यात चाणक्य का जन्मकाल निश्चित नहीं हो सका ऐसा माना जाता है चाणक्य का जन्म ई.पू. 375 के लगभग गोल्लविषय के अंतर्गत चण्डक नाम के ग्राम में हुआ था इस स्थान की स्थिति अज्ञात है ऐसे ही इनके जन्म का भी कोई प्रमाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है, फिर भी अनुश्रुतियाँ, आदि के माध्यम से हम इनके जन्म एवं बचपन का उल्लेख तो कर सकते हैं, चाणक्य को कहीं पर पाटलिपुत्र का तथा कहीं पर तक्षशिला का निवासी बताया है

इनकी माता का नाम चण्डेश्वरी तथा पिता का नाम चणक था चणक उस समय तक्षशिला में अध्यापन कराते थे अतः चाणक्य के आरंभिक गुरु चणक कहे जाते हैं, यह जाति से ब्राह्मण थे। चाणक्य के मुंह में जन्म से ही दांत थे जिसको देखकर लोगों को घोर आश्चर्य हुआ एक बार निमित्त ज्ञानी साधु ने चाणक्य के दांतों को देखकर कहा कि यह बालक बड़ा होकर एक शक्तिशाली राजा बनेगा। उनके ब्राह्मण पिता चणक संतोषवृत्ति के ब्राह्मण महापुरुष थे, अतः उन्होंने भविष्यवाणी पूर्ण न हो इसलिए बालक के दांत तुड़वा दिये तब पुनः वे साधु बोले कि अब यह किसी अन्य माध्यम से राज्य का संचालन करेगा तथा राज्य शक्ति का उपभोग करेगा। वय प्राप्त होने पर तत्कालीन ज्ञान केन्द्र तक्षशिला तथा उसके आस-पास रहने वाले आचार्यों के निकट चाणक्य ने छह अंग, चतुरानुयोग, दर्शन, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र ऐसे चौदह विद्यास्थानों का अध्ययन किया और अपने अध्यवसाय से योग्य समय में समस्त विद्याओं एवं शास्त्रों में वह पारंगत हो गये।¹⁴ इनकी पत्नी का नाम यशोमति था अत्यंत दरिद्रता के कारण यशोमति का पीहर में उपहास हुआ जिससे वह बहुत दुःखी हुई, इस प्रसंग से चाणक्य ने धर्नाजन हेतु निश्चय कर महापदम नंदराजा के दरबार में पहुंचकर शास्त्रार्थ में विद्वानों को पराजित किया राजा ने विद्वता का आदर करते हुए दान विभाग में अध्यक्ष दाणमा पद पर नियुक्त किया। किन्तु चाणक्य की कुरुपता अभिमानी प्रकृति एवं उद्धृत स्वभाव के कारण युवराज सिद्ध पुत्र हिरण्यगुप्त घनानन्द चाणक्य से रूष्ट हो गया और उसने चाणक्य का अपमान कर दिया। अपमान से क्षुब्ध और कुपित चाणक्य ने भरी सभा में यह प्रतिज्ञा की जिस प्रकार उग्र वायु का प्रचण्ड वेग अनेक शाखा समूह सहित विशाल एवं उत्तुंग वृक्षों को उखाड़ फेकता है उसी प्रकार है नन्द! मैं तेरा, तेरे पुत्रों का भृत्यों, मित्रादि का समस्त वैभव सहित समूल नाश करूंगा।¹⁵

क्रोध से तपायमान चाणक्य ने पाटलिपुत्र का तत्काल त्यागकर दिया, इस समय उसे उस भविष्यवाणी का स्मरण हुआ जो उसके जन्मकाल में जैन मुनि ने की थी कि वह बड़ा होकर किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा मनुष्यों पर शासन करेगा। एताहि वि विवान्तरियो रया भविस्सर्विति अतः परिव्राजक के भेष में अब चाणक्य एक ऐसे व्यक्ति की खोज में फिरने लगा जो एक बड़ा राजा होने के सर्वथा उपयुक्त हो।

चाणक्य का नंद राजा द्वारा अपमान का उल्लेख मुद्रा राक्षस में भी कुछ परिवर्तन के साथ इसी प्रकार आया है, चाणक्य ने विध्य के जंगलों में 800 लाख करोड़ मुद्राएँ सुरक्षित कर दी थीं।¹⁶ डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं अगले कई वर्ष उसने धातु विद्या की सिद्धि एवं स्वर्ण आदि धन एकत्र करने में व्यतीत किये बताये जाते हैं।¹⁷ एक बार चाणक्य मयूर ग्राम से निकल रहे थे तब उस ग्राम के प्रतिष्ठित व्यक्ति की बेटी को गर्भावस्था में चंद्रमा के दोहले आ रहे थे, चाणक्य ने यह कहकर कि

‘इससे होने वाले संतान पर मेरा अधिकार होगा।’ बेटी के दोहले शान्त कर दिये तथा कुछ समय पश्चात् बेटी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। आठ दस वर्ष पश्चात् पुनः मयुर ग्राम से अकस्मात् आ निकला। वह ग्राम के बाहर थकान मिटाने के लिए एक वृक्ष की छाया में बैठ गया और देखा कि सामने मैदान में कुछ बालक खेल रहे हैं। एक सुन्दर चपल तेजस्वी बालक राजा बना है और अन्य सब पर शासन कर रहा था। चाणक्य को अपना अभीष्ट सिद्ध होने का अहसास होने लगा उसने उस कुमार बालक की परीक्षा ली तथा सामुद्रिक शास्त्र के आधार पर उस बालक में चक्रवर्ती सम्प्राट बनने के लक्षण दिखे तो उन्हें यह समझने में जरा भी समय नहीं लगा कि यह बालक हमारे अभीष्ट को सिद्ध करने में सहकारी होगा। वह बालक के परिजनों से बालक को ले जाने की स्वीकृति लेकर उस चन्द्रगुप्त नाम के बालक को लेकर अपने लक्ष्य की सिद्धि हेतु आगे बढ़ गए। आगे के कथानक का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

चाणक्य एक महान चिन्तक था उसके जैसा चिन्तक, विद्वान, तुरन्त निर्णय लेने वाला अन्य दूसरा दृष्टव्य नहीं होता। उन्होंने ‘अर्थशास्त्र’ (कोटिल्य का अर्थशास्त्र) नाम से पुस्तक लिखी जिसमें राज्य नीति का सम्पूर्ण संविधान अंकित कर दिया। ‘चाणक्य नीति’ नाम से भी विख्यात पुस्तक में उनकी नीतियों का वर्णन उल्लेखित है, सम्भवतः जो उनके मरण के बाद संग्रहित कर संकलित की गयी।

चक्रवर्ती सम्प्राट चन्द्रगुप्त के राज्य त्यागकर दिग्म्बर मुद्रा धारण करने के पूर्व चन्द्रगुप्त ने अपने आचार्य गुरु चाणक्य से निवेदन कर पुत्र बिन्दुसार के राज्य की देखभाल करने का निवेदन किया, जिसे चाणक्य ने स्वीकार कर राजा बिन्दुसार का मंत्री बनना स्वीकार कर लिया लेकिन चाणक्य की आयु अधिक होने के कारण बिन्दुसार को उतना राजनैतिक संरक्षण नहीं दे पाते थे तो भी अधिकारों का पूर्ण उपयोग करते थे। यह बात उनके सहमंत्री को हमेशा खटकती रहती थी और वह बिन्दुसार को अपने पक्ष में करके चाणक्य को मंत्री पद से मुक्त करने की योजना पर कार्य करने लगा।

डॉ. ज्योति प्रसाद जी ने चाणक्य के जीवन के अंतिम काल का वर्णन इस प्रकार किया है – चाणक्य भी पर्यास वृद्ध हो चुके थे और राज्य कार्य से विरत होकर आत्म कल्याण करने के इच्छुक थे। महाराजा चन्द्रगुप्त के अनुरोधवश उन्होंने युवा सम्प्राट बिन्दुसार का पथ प्रदर्शन करने के लिए वह विचार स्थगित कर दिया किन्तु दो-तीन वर्ष बाद ही वह मंत्री पद का भार अपने शिष्य राधागुप्त का साँपकर मुनिदीक्षा लेकर तपश्चरण करने के लिए चले गये थे। भगवती आराधना आदि अत्यंत प्राचीन जैन ग्रंथों में मुनिश्वर चाणक्य की दुर्धर तपस्या और घोर उपसर्ग सहते हुए सल्लोखना पूर्वक देह त्याग करने के वर्णन मिलते हैं। भारत के उस महान मौर्य साम्राज्य के कुशल शिल्पी, नियामक और संचालक तथा राजनीति के विश्व

विश्रुत ग्रंथ अर्थशास्त्र के मूल प्रणेता, नीति के आचार्य जैन मंत्रीश्वर चाणक्य और उनके सुशिष्य जैन सम्प्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की अद्वितीय जोड़ी, जैन इतिहास की ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय इतिहास की अमर उपलब्धि है।¹⁸

चाणक्य की मृत्यु के संबंध में अलग-अलग घटनाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है लेकिन यह सर्वत्र एक जैसा ही मिलता है चाणक्य ने वन में जाकर भोजन-पान त्यागकर मृत्यु को प्राप्त किया जो सूचित करता है कि चाणक्य ने जैन धर्म के अनुसार सल्लोखना पूर्वक समाधि मरण प्राप्त किया।¹⁹

बिन्दुसार (अमितधात): चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र :-

बिन्दुसार की विशेषता यह है कि बिन्दुसार श्रमण पोषक, श्रेष्ठ सम्प्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का इकलौता पुत्र तथा युद्ध विजयी, धर्मनिरपेक्ष एवं कभी न युद्ध लड़ने की प्रतिज्ञा करने वाले अहिंसक सम्प्राट महान अशोक का पिता था। चन्द्रगुप्त मौर्य की पत्नी नन्दसुता सुप्रभा (दुर्धरा) से उत्पन्न बिन्दुसार को युनानी लेखकों में एमिट्रो चेटिस के नाम से जाना जाता है, बिन्दुसार को पुराण ग्रन्थों में सिंहसेन, भद्रसार आदि नामों से भी उल्लिखित किया गया है। बौद्ध ग्रंथों में इनकी माता को ब्राह्मण पुत्री सुकन्या के नाम से जाना जाता है।

चन्द्रगुप्त के राज्यत्याग के पश्चात् बिन्दुसार सिंहासनारूढ़ हुआ और लगभग पच्चीस वर्ष पर्यन्त पिता द्वारा साँपें गये विशाल साम्राज्य का एकाधिपति रहकर राज्य का विस्तार कर लिया।

महान सम्प्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार के जन्म का अद्भुत एवं दुर्लभ कथानक प्राप्त होता है, महान सम्प्राट चन्द्रगुप्त को शत्रुओं के बिषादिपान से किसी प्रकार की हानि न हो, इस कारण चाणक्य चन्द्रगुप्त को गुप्तरीति से भोजन में विष भक्षण करवाता रहता था। एक बार उनकी भार्या सुप्रभा ने जो कि उस समय गर्भवती थी, ने चन्द्रगुप्त के साथ के थाल का भोजन कर लिया जिससे वह मरणासन्न हो गयी। चाणक्य को जब यह बात पता चली तो तुरंत ही उसने सुप्रभा का पेट चीरकर बालक को बाहर निकाल लिया तो भी बालक के शरीर पर विष प्रभाव के कारण कुछ बिन्दु प्रगट हो गए। इस शारीरिक स्थिति के ही कारण बालक का नाम बिन्दुसार ख्याति को प्राप्त हो गया।

बिन्दुसार ने अपने पिता चन्द्रगुप्त के द्वारा अर्जित किये गये राज को ऊँचाइयों पर पहुँचाने हेतु विशाल साम्राज्य की न केवल देखभाल की बल्कि सुदृढ़ विदेश नीति का भी पालन किया। मध्य एशिया के अनेक देशों से बिन्दुसार के राजनैतिक स्तर पर दृढ़ संबंध रहे। ‘स्टेबो’ के अनुसार सेल्यूक्स के उत्तराधिकारी अन्तियोक्स सोलर जो कि सम्भवतः बिन्दुसार के रिश्तेदार भी थे, ने बिन्दुसार के राजदरबार में डेर्झेक्स नाम के व्यक्ति को राजदूत के पद पर नियुक्त किया। ऐसे ही प्लिनी के अनुसार मिश्र देश

के राजा फिलाडेलफस ने डायनिसयो नाम के राजदूत को भेजा था, जिसके उल्लेख प्राप्त होते हैं²⁰

एथिनियस नामक एक युनानी ने लिखा है कि भारतीय शासक बिन्दुसार ने सीरिया के शासक एण्टियोकस से अंगूर की शराब, सूखी अंजीर व एक दार्शनिक को भेजने का अनुरोध किया। सीरिया के शासक ने अंजीर और शराब भेज दी और यह लिख भेजा कि युनानी कानून के अनुसार दार्शनिकों का विक्रय सम्भव नहीं है²¹ इस विवरण से यह तो स्पष्ट होता है कि बिन्दुसार की दर्शन में रूचि थी और वह भारतीय दर्शन के साथ युनानी दर्शन का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था। लेकिन यह स्पष्ट नहीं होता कि अंगूर की शराब के सेवन का शौकीन था, बहुत सम्भव है उसके राज दरबार में अनेक पश्चिमोत्तर देशों के विशिष्ट व्यक्तियों का आना होता तथा उनके स्वागत हेतु सूखी अंजीर एवं अंगूर की शराब मंगवाना पड़ी हो कुछ लोग इस उद्धरण के आधार पर उसको अय्यास कहने लगे जो कि उपयुक्त नहीं है, चन्द्रगुप्त जैसे सम्प्राट का पुत्र और चाणक्य जैसे महान व्यक्ति के संरक्षण में अल्पवय से ही राज्य का प्रशासन सम्भालने वाले व्यक्ति को अय्यास कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। हाँ, बिन्दुसार के सोलह राजियों से लगभग 101 पुत्र उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है, जिसमें सुसीम और अशोक जैसे पुत्र भी थे।

दिव्यावादन नाम के बौद्ध ग्रंथ में उनको मौर्य सम्प्राट का क्षत्रिय मूर्धाभिशिक्त कहा है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने उसे सोलह राजधानियों एवं उनके मंत्रियों का उच्छेद करने वाला बताया है। पिता के साम्राज्य में उसने बृद्धि की थी। संपूर्ण भारत वर्ष पर उनका निष्कट्टक आधिपत्य था। उसके शासनकाल में तक्षशिला में एक विद्रोह होने का उल्लेख प्राप्त होता है जो कि प्रशासनिक नीति के कारण नहीं हुआ था, बल्कि अधिकार प्राप्त व्यक्ति विशेष के तानाशाह हो जाने के कारण हुआ था जिसे उनके बेटे अशोक ने तक्षशिला पहुँचकर अपनी चतुराई एवं सूझबूझ से शमन कर दिया तथा दोषी अधिकारी को दंडित किया²¹ बिन्दुसार के बारे में पास्चात्य विद्वान E Thame said by We may conclude that Bindusara followed the faith (Jainism) of his father (chandragupta Maurya) and that in some belief whatever it may prove to have been. his childhood's lesion were first cured by Ashoka. बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य को प्राप्त करने के लिए उसके पुत्रों में खूनी संघर्ष हुआ बिन्दुसार की मृत्यु के चार वर्ष तक यह खूनी संघर्ष चलता रहा जिसमें बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुसीम तथा अन्य पुत्र पराजित हुए अशोक ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर मगध का साम्राज्य प्राप्त किया।

सम्प्राट अशोक चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्रः

मौर्य वंश के धीर, वीर, यशस्वी और महान सम्प्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् श्रेष्ठ सम्प्राटों में महान सम्प्राट अशोक, इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टव्य होते हैं। लेकिन अशोक का संपूर्ण जीवन परिचय प्रचलित जीवन परिचय से कुछ भिन्न नजर आता है।

‘अशोकावदान’ जैसे ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत अशोक का परिचय सहजता से प्राप्त हो जाता है, लेकिन अशोक के जीवन परिचय को प्राप्त करने के लिए शोधार्थीयों ने जितनी खोज की, उतने मत-मतान्तर इस सम्प्राट के संबंध में बनते गये। इतिहासकार डॉ. ज्योतिप्रसाद अशोक के बारे में लिखते हैं “ब्राह्मण अनुश्रुतियाँ इस सम्प्राट के विषय में मौन हैं और जैन अनुश्रुतियों में जो कुछ उल्लेख मिलते हैं उनसे बौद्ध अनुश्रुतियों का बहुत कम समर्थन होता है”²²

महान सम्प्राट अशोक के जीवन के सम्पूर्ण परिचय को प्राप्त करने के लिये बौद्ध अनुश्रुतियाँ, जैन अनुश्रुतियाँ, अशोक के परिवार की पूर्ववर्ती एवं पश्चात्वर्ती पृष्ठभूमि, परिस्थितियाँ, शिलालेख, स्तम्भलेख आदि का सम्यक प्रकार से अध्ययन करके व्यक्तित्व को जाना जा सकता है तथा ऐसा करना आवश्यक भी है। सम्प्राट अशोक के व्यक्तित्व विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए उनके जीवनकाल दो भागों में अध्ययन करना आवश्यक है, प्रथम तो अशोक के जन्म से लेकर राज्य प्राप्ति के पश्चात् कलिंग विजय तक और द्वितीय, कलिंग विजय पश्चात् अशोक का महान सम्प्राट होने की यात्रा के अन्त तक है।

महान सम्प्राट अशोक महान सम्प्राट श्रमणोपासक²³ चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार का पुत्र था। बिन्दुसार ने अपने जीवनकाल में सोलह विवाह किए थे जिनसे उनके 100 पुत्रों के जन्म होने का उल्लेख मिलता है, लेकिन पुत्रियों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इन 100 पुत्रों में से भी अशोक के कुछ भाइयों सुसीम, पद्मक, सुमन, विशोक, तिष्य सहित लगभग 10 भाइयों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। सुसीम अशोक के राज्यसिंहासन प्राप्त करने में उसका प्रतिद्वन्दी भ्राता था। पद्मक अशोक का सहोदर था, जिसके जैन मुनि हो जाने का उल्लेख प्राप्त होता है, बौद्ध लेखक तारानाथ ने पद्मक को निग्रन्थ (दिग्म्बर जैन मुनि) पिंगल का उपासक माना है²⁴

अशोक का जन्म में मगध के शासक तथा चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार की रानी शुभद्रांगी की कोख से हुआ था, उन्हें धर्मा तथा जनपद कल्याणी के नाम से भी जाना जाता है, शुभद्रांगी को अग्रमहिषी भी कहा जाता है, शरद पगारे की पुस्तक पाटलीपुत्र की साम्राज्ञी की समीक्षा करते हुए निर्मला भुराडिया लिखते हैं ‘बालक के व्यक्तित्व और चरित्र निर्माण में माँ का योगदान सर्वाधिक होता है’, विश्व इतिहास के पहले महान सम्प्राट अशोक इसके अपवाद नहीं थे। अशोक की माता धर्मा विदुषी रहीं और सुन्दरी भी। महात्वाकांक्षी धर्मा राजनैतिक चालें चलने में भी सिद्ध हस्त

तथा अशोक के ओजस्वी व्यक्तित्व की निर्मात्री भी थीं उसे सिंहासन दिलाने वाली भी वही थी।

अशोक की माँ के रूप में कल्याणी का कथन आता है, उसे चम्पा के गरीब ब्राह्मण की कन्या के रूप में उल्लिखित किया जाता है तथा जब अशोक की माँ (शुभद्रांगी) की धर्मा के रूप में खोजा जाता है तब एक नया ही अध्याय खुलता चला जाता है। धर्मा का जन्म चन्द्रगुप्त मौर्य के जन्म स्थान के मौरिय के क्षेत्र में हुआ था। अशोक की माँ धर्मा के पारिवारिक गुरु आजीवक सम्प्रदाय के जनसान नाम के साथु थे। आजीवक सम्प्रदाय दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति का ही एक हिस्सा है। मौरिय क्षेत्र के निवासी श्रमण संस्कृति के उपासक, धीर-वीर साहसी हुआ करते थे। अतः अशोक की माँ धर्मा भी अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के संस्कारों को सहेजे हुए अपने पुत्र अशोक का लालन-पालन कर उसमें धार्मिक, नैतिक एवं वीरोचित संस्कारों को पुष्ट कर रही थीं²⁵

अशोक का लालन-पालन चाणक्य के योग्यशिष्य मंत्री राधागुप्त के संरक्षण में हुआ। उन्हें धर्म, नीति तथा युद्ध विद्या आदि का ज्ञान प्रदान किया गया, जिससे अशोक धीर, वीर, साहसी, बुद्धिमान, श्रीमन्, उत्साही, महात्कांक्षी, एवं नैतिक तथा राजनैतिक रूप से परिपक्व होकर सम्राट बिन्दुसार का श्रेष्ठ होनहार आज्ञानुवर्ती पुत्र बनकर खड़ा हुआ तथा युवराज बनकर मगध की उपराजधानी उज्जैन का प्रशासक बना।

अशोक को जन्म देने वाली माँ के संस्कारों के कारण ही वह दृढ़ निश्चयी, वीर, अहिंसक और प्रजा के हृदय पर साम्राज्य करने वाला अद्वितीय ‘भूतो न भविष्यति’ पंक्ति को चरितार्थ करने वाला सम्राट बन सका।

सम्राट बिन्दुसार ने अपने दोनों श्रेष्ठ बेटों सुसीम को तक्षशिला और अशोक को उज्जैन का राज्यभार सौंपा। अशोक ने कुशलता से राज्य संचालन में अपनी योग्यता सिद्ध कर दी, लेकिन सुसीम के व्यक्तित्व की कमजोरियों के कारण तक्षशिला में बिन्दुसार के प्रति असंतोष उत्पन्न होने लगा जिसने विद्रोह का स्वरूप धारण कर लिया। अतः बिन्दुसार ने अशोक को तक्षशिला के विद्रोह का समन करने हेतु भेजा। डॉ. ज्योति प्रसाद के अनुसार यह विद्रोह बिन्दुसार के अंतिम दिनों में हुआ था²⁶ अशोक ने बिना युद्ध किये विद्रोह को समाप्त कर दिया तथा विमाता से उत्पन्न ज्येष्ठ भ्राता सुसीम से आगे निकलकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी।

जीवन के 34 वर्षों तक अशोक ने बिन्दुसार के नाम पर मगध की उपराजधानी उज्जैन पर शासन किया इसी काल में लगभग 20 वर्ष की आयु में विदिशा श्रेष्ठी की पुत्री महादेवी अपरनाम वैदिशी से उसने विवाह किया। डॉ. ज्योतिप्रसाद अशोक के बारे में लिखते हैं ‘अपने पिता के शासनकाल में वह

उज्जयिनी का शासक रहा था और उसी समय निकटस्थ विदिशा के एक जैन श्रेष्ठी की कन्या से विवाह किया था जिससे कुणाल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था²⁷ सम्राट अशोक की अन्य पत्नियों का उल्लेख भी अलग-अलग प्राप्त होता है, असंघमित्रा जिन्हें अग्रमहिषी के नाम से जानते हैं, सम्भवतया यह कलिंग युद्ध में अशोक के साथ रही ऐसा माना जाता है कि इनके कोई सन्तान नहीं थी, लेकिन नाम के आधार पर ऐसा लगता है कि अशोक की पुत्री संघमित्रा असंघमित्रा की पुत्री होना चाहिए। अशोक की तीसरी पत्नी पद्मावती का भी वर्णन मिलता है, कुछ विद्वान कुणाल को पद्मावती से उत्पन्न मानते हैं लेकिन तिष्ठरक्षिता और कुणाल के घटनाक्रम पर दृष्टिपात करें तो अशोक की प्रथम पत्नी महादेवी से ही कुणाल को उत्पन्न माना जाना चाहिए, यदि कुणाल का पद्मावती से उत्पन्न माना जाए तो महादेवी का ही अपरनाम पद्मावती होना चाहिए। अशोक का लगभग 45 वर्ष में कलिंग युद्ध के पश्चात् तिष्ठरक्षिता से विवाह का भी उल्लेख मिलता है। डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं ऐसा प्रतीत होता है कि कलिंग युद्ध के आस-पास अशोक ने एक बौद्ध सुन्दरी से विवाह कर लिया था वह स्वयं इस समय अधेड़ वय का था, इस बौद्ध रानी के प्रभाव में वह कुछ अधिक आया और उसको प्रसन्न करने के लिए सम्भवतः बौद्ध धर्म में दिलचस्पी लेने लगा जिसके कारण बौद्ध लोग यह समझने लगे कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया²⁸ ऐसा माना जाता है कि अशोक की एक और पत्नी थी काक वाकी जिसको तीव्रलमाता और द्वितीयदेवी के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार अशोक की चार अथवा पाँच पत्नियों से कुणाल, जालोक, संघमित्रा महेन्द्र आदि संतानें उत्पन्न हुई। महेन्द्र और संघमित्रा सम्भवतया उसकी बौद्ध पत्नी से उत्पन्न पुत्र पुत्री थे²⁹

अशोक के महान बनने की यात्रा:

बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक और उसके भाइयों में मगध के सिंहासन के लिए लगभग 4 वर्ष तक युद्ध चलता रहा। बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान के अनुसार यह उत्तराधिकार की लड़ाई दो भाइयों सुसीम और अशोक के मध्य हुई थी जबकि महाबोद्धि के अनुसार इस युद्ध में एक और अशोक तथा दूसरी ओर सुसीम सहित 98 भाई थे। अशोक ने तक्षशिला के विद्रोह को सफलतापूर्वक समाप्त करके उस प्रान्त का शासन भार भी कुछ काल तक सम्भाला था इन्हीं सब कारणों से सम्राट बिन्दुसार ने अशोक को ही युवराज घोषित कर दिया। मंत्री वर्ग और जनता भी उसके (अशोक के) अनुकूल थी अतः वही बुद्ध परिनिवारण के 218 वर्ष में अथवा वीर निवारण संवत् 235 में मगध में अशोक का राज्याभिषेक किया गया।

कलिंग राज्य जो 424 ई.पू. से ही मगध के अधीन था अशोक के सम्राट

घोषित होने के पूर्व ही स्वतंत्र हो गया था अतः यह कलिंग राज्य अशोक के लिए एक चुनौती थी। अतः अशोक ने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में कलिंग पर भीषण आक्रमण कर दिया। कलिंग युद्ध की विभीषिका का वर्णन अशोक के 13 वें शिलालेख में इस प्रकार प्राप्त होता है ‘राज्याभिषेक के आठ वर्ष पश्चात् देवानांप्रिय सम्प्राट प्रियदर्शी (अशोक) ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। इस युद्ध में 1,50,000 मनुष्य व पशुबन्धी बनाकर कलिंग से लाए गए व एक लाख व्यक्ति युद्ध भूमि में मारे गए तथा उसके कई गुना अन्य कारणों से नष्ट हो गए।’ शिलालेख में आगे लिखा गया कि ‘युद्ध के तुरंत पश्चात् महामना सम्प्राट ने दया के धर्म की शरण ली। इस धर्म से अनुराग किया तथा इसका सम्पूर्ण सामाज्य में प्रचार किया। इस विनाश की ताण्डव लीला ने जो कि कलिंग राज्य को जीतने में हुई सम्प्राट के हृदय को द्रवित कर दिया व पश्चाताप से भर दिया। कलिंग युद्ध में हुए नरसंहार तथा वहाँ की प्रजा के कष्टों को देखकर अशोक का हृदय द्रवीभूत हो गया। युद्ध की नीति को अशोक ने सदैव के लिया त्याग दिया तथा दिग्बिजय के स्थान पर धम्मविजय को अपनाया ३०

डॉ. ज्योति प्रसाद कलिंग युद्ध के बारे में लिखते हैं ई.पृ. 262 के लगभग अपने राज्य के 8 वें वर्ष में एक भारी सेना लेकर अशोक ने कलिंग पर आक्रमण कर दिया। भीषण युद्ध हुआ जिसमें लाखों व्यक्ति मौत के घाट उत्तर गये। सर्वत्र प्रचण्ड अशोक महान का दबदबा बैठ गया, अब भविष्य में पचास वर्षों तक कहीं कोई मौर्य सम्प्राट के विरुद्ध सिर उठाने का साहस नहीं कर सकता था किन्तु साथ ही इस भयंकर नर संहार को देखकर दयामूलक जैन धर्म के संस्कारों में पले अशोक की आत्मा तिलमिला उठी। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि वह भविष्य में युद्ध से विरत रहेगा¹¹ गुलाबचंद ‘दर्शनाचार्य’ कलिंग आक्रमण के बारे में लिखते हैं – अशोक की सेना में 60,000 पैदल, 1,00,000 अश्वारोंही और सात सौ हाथी थे कलिंग निवासियों ने स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी। इसमें अशोक को विजय प्राप्त हुई और वह अपने एक राजकुमार को इस प्रदेश का शासक नियुक्त कर पाटलिपुत्र लौट आया। इस युद्ध की विभीषिका का अशोक के हृदय पर इतना गहरा आघात लगा कि उसने विस्तार की नीति को सदा के लिए त्याग कर दिया¹²

कलिंग के युद्ध ने अशोक के जीवन को न केवल परिवर्तित कर दिया बल्कि उस काल की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को भी परिवर्तित कर दिया। हिंसा के स्थान पर अहिंसा, क्रूरता के स्थान पर दया, क्रोध के स्थान पर क्षमा का वर्चस्व हो गया। सम्पूर्ण भारत में अहिंसक क्रान्ति आ गयी, मनुष्य क्या? पालतू पशु क्या? वन्य जीव भी निर्भीक होकर वन में सुख से पूर्ण आयु प्राप्त करने लगे अर्थात् न युद्ध, न मारकाट, न भ्रष्टचार, न यज्ञ न पशुबलि, न शिकार न माँसाहार सम्पूर्ण भारत वर्ष में दया, धर्म, सहयोग, सहिष्णुता का वातावरण हो गया।

हाथीगुम्फा शिलालेख HATHIGUMPHA INSCRIPTION UDAYAGIRI HILL, BHUBANESWAR [2nd Century B.C.]

पर्याप्त विवरण [ii] की समीक्षाएँ [iii] द्वारा प्राप्ति की गयी हैं।

[५] यह सत्तानि विश्वासक रहीजा लीजिए कुरुक लीजिए [१] यह सत्ता का नामा बहाव भिन्न विश्वासक लभिता बहाव यह सत्तानि दोबाट [६] सत्तानि [१] संग्रह बहुलीयि यह सत्ताके वशाव देखाए विश्वासी तहिं
Line - 2

विनाश करने वाले पुरुष पूरे महादेवप्रतीक रूपदृष्टि [1] मारीजित
हो जा सकते हैं वह इस गेहू़ा वाला, जिसका विनाशकारी
विनाशकारी विनाश [2] इस द्वारा याकौटे जा सकता है।
लकड़ाग गृहीत[3]द्वारा वा Line - 3

कारणीय परिवर्तनों वालाहमें एकलीयों के संबंधि [1] गुणों
व सौंहारीकरण सामग्री [.] विकल्पों का एक बहुत
संख्यातीय [1] कारणीय परामर्श देना जिसका उपयोग करके

सेवा के लिए यह नहीं बल्कि संसारी काम हमारा करना
वही अपार्थीती है। [1] यह यादों वाले विषयात्मकतावां में भी
युक्त अधिकारी प्रश्नों का उत्तर देते हैं। विषय यजुर
व विश्वापति व विश्वामीति ॥ Line - 5

विनोद ने उन वार्ताओं का दीक्षा भीड़ कर लिया है जो बहुत सी वार्ताएँ हैं।
उनमें से कुछ वार्ताएँ निम्न तथा अधिकारियों द्वारा लिया गया वार्ता वार्ताएँ हैं।

मनुष्य अधिकारी लकड़ाहारी विवरणी हो : वास्तव [१] अपने व
काने प्रदानी विवरणादि ३८ मनुष्य का [१०४]
व [१५] का [११] अपनी व वास्तवी विवरण वास्तव
विवरणी Line - 7

Line : ५

—मिष्टन—सं.—३२— ललि
कृष्ण, दूसरी सदी) का प्राकृत-आणा
में उपलब्ध होता

[प्राचीन वर्णिन] तात्पुरिकां लक्षणिकां पासां वापरित अस्तित्वाम
पासां वापरेति [१] यात्रे च वासे दंड वापरि तात्र [वारी] पासां वापर
पासे वापरित्वान् वापरिति [२] एकावापरे च वासे
[वारी] पासां वापरित्वा वापरित्वान्ति तापरोति [३] लृप्त-१०

कर्तिंग कुराया विस्तृत वैद्युत वाहनोंसे बदलती [1] वहाँ वाहन विस्तृत वाहन विकास की दृष्टि से लाभील [1]

वास्तविक विभिन्न वर्षों के लिए दर्शाया गया है। [१] इसमें
न उपलब्ध वास्तविकियों की समस्याओं [१] में से एक कीसिंहारी
दर्शाया गया है। [१] इस वास्तविकि की समस्याओं का
परिचय [१] Line - 12

..... [१०] विनो वार्षिकीये [११] बिलारे च वरी उत्तरव विलम
चक्र शुभार्थी पाले वालो [१२] परिवर्त विलेवि कालनिवीलिया
वार्षिकीये वार्षिकीये विलमारा वार्षिकीये वार्षिकीये

..... [६] तु वाच [७] इति शेष्यादि विवरणि विवेचनी
सत् विवेचनं पर्याप्तं हि [८] अनुग्रहवाचकं व विवरणं [९]
पर्याप्तं [व्याख्याते] एव तस्मै वाच [१०] विवेचनं [११] विवरणं एवनि

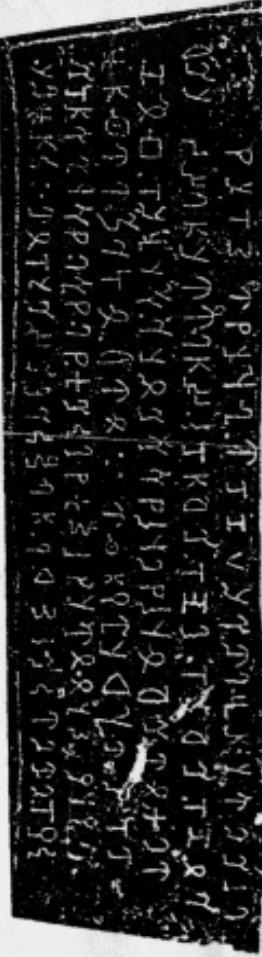
..... अपना वर्षा धूमिताराम न कर दियाएं दीर्घे लाल
धूमिताराम अपना धूमिताराम करो लाल काला धूमिताराम
अपना धूमिताराम (धूमिताराम धूमिताराम) धूमिताराम

..... असिंह की व देहुई तो थोड़े पर्याप्ति प्राप्ति
करना होता [1] तुम्हारा सामने था बोलती थीं जिसके द्वारा

.....पुस्तिको लक्षण वास्तविकता की संरक्षण करता
.....पुस्तिको लक्षण वास्तविकता की संरक्षण करता

— निम्नलिखित संख्या के अनुसार उत्तीकरण के लिए विकल्पों में से उपलब्ध विस्तृत विकल्पों का चयन करें।

सम्राट् अशोक का शिलालेख, गिरनार (गुजरात)



लिपि ब्राह्मी, भाषा प्राकृत, समय ई.पू. तीसरी शताब्दी

पंक्ति ३-४ ... बास्तव समणां साधु दानं प्राणां साधु अनारंभो ...

मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा ब्राह्मणों एवं श्रमणों को समान रूप से सम्मान के द्वारा लोगों को शिष्टाचार तथा प्रणियों के प्रति अहिंसा का संदेश

अशोक की यह घोषणा कि 'अब से मैंने ऐसा प्रबंध किया है कि प्रत्येक समय तथा प्रत्येक स्थान पर चाहें मैं भोजन करता होऊँ, चाहे शयनागार में होऊँ, चाहे उद्यान में होऊँ, सरकारी कर्मचारियों को चाहिये कि वे प्रत्येक समय मुझे जनता की अवस्था से सूचित रखें। मैं हर समय उनकी सहायता करने के लिए तैयार हूँ' ^{३३} ऐसे ही अनेक निर्णय अशोक ने प्रजा के हित में लिए जो उसे महान बनाते हैं।

कलिंग युद्ध की कूरता में अभूतपूर्व हिंसा और उसके परिणामों को देखकर अशोक के हृदय को द्रवीभूत करने में उसके पारिवारिक संस्कार तो कार्यकारी रहे ही साथ में बौद्ध ग्रंथों में बौद्ध साधू साधिक्यों द्वारा जो उपदेश अशोक को दिया गया वह भी अशोक के हृदय परिवर्तन में बहुत अधिक कार्यकारी रहा, विशेष रूप से युवा और अपनी वाणी से प्रभावित करने वाली बौद्ध साधी तिष्ठरक्षिता से उल्लेख मिलता है कि तिष्ठरक्षिता ताप्रपत्री देश (श्रीलंका) के राजा तिष्ठ की दासी थी एक बार तिष्ठ को सर्प ने काट लिया तो तिष्ठरक्षिता ने तिष्ठ के शरीर से विष को चूसकर बाहर निकाल कर राजा की प्राण रक्षा की जिससे उसको तिष्ठरक्षिता नाम से अलंकृत किया। कालान्तर में तिष्ठरक्षिता अशोक को भेंट में दी गई। अशोक बहुत प्रभावित हुआ उसका उपदेश पूर्ण आकर्षण अशोक के जीवन का टर्निंग पाइन्ट बना इस प्रकार अशोक की सम्राट् अशोक से अशोक महान बनने की यात्रा प्रारंभ हो गयी ^{३४} उल्लेख मिलता है युद्ध के पश्चात् अशोक ने बौद्ध साधी तिष्ठरक्षिता से विवाह किया तब अशोक स्वयं लगभग 45 वर्ष की अधेड़ वय को प्राप्त हो चुका था अतः अशोक तिष्ठ रक्षिता के बाणी के प्रभाव से प्रभावित तो था ही सम्भवतः उसके रूप लावण्य से प्रभावित रहा और उसने तिष्ठरक्षिता के मनोनुकूल अनेक कार्य किए इसी समय के आसपास पाटलिपुत्र में मौगलायन तिष्ठरक्षिता की अध्यक्षता में तृतीय बौद्ध सम्मेलन एवं त्रिपिटिक की संगति हुयी। सम्मेलन में तय हुआ कि बौद्ध धर्म के प्रचार करने के बौद्ध भिक्षुओं को विदेशों में जाना चाहिए अतः वर्मा, तिव्वत, मध्य एशिया, श्रीलंका आदि में बौद्ध प्रचारक गये। लंका (सिंहल) में उस समय विजयवंशी नरेश देवानांप्रिय तिष्ठ राज्य करता था। (सम्राट् अशोक की तरह ही देवानांप्रिय की उपाधि लंका के राजा तिष्ठ ने ग्रहण की।) वह सम्राट् अशोक के साथ भेंट आदि आदान-प्रदान से मैत्रीपूर्ण सम्बंध बनाए हुए था। उसने मगध से आए हुये बौद्ध प्रचारकों (भिक्षुओं) का जिनके नेता स्वयं महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा थे, सादर स्वागत किया महेन्द्र और संघमित्रा सम्भवतया अशोक के उसकी बौद्ध पत्नी से उत्पन्न पुत्र-पुत्रियाँ थे। इसी समय से विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारंभ हुआ। किन्तु बौद्ध धर्म साहित्य में जो उसे कठूर बौद्ध चित्रित किया गया है और उसके द्वारा 84,000 स्तूप निर्माण कराये जाने का वर्णन है यह अतिश्योक्ति पूर्ण है ^{३५} ऐसा एक भी शिलालेख उपलब्ध नहीं हुआ जिसमें अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म के स्तूप बनवाने

का उल्लेख किया गया हो।

अशोक के बौद्ध धर्मावलम्बी समझे जाने के कारण:

कुछ विद्वानों ने बौद्ध ग्रन्थों में अशोक का गुणगान होने पर तथा जैन धर्म के दार्शनिक तत्त्वों को न समझने के कारण न केवल अशोक को बल्कि महावीर स्वामी के समवशरण के प्रथम श्रोता और लगभग 60,000 प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने वाले श्रेणिक (बिम्बसार) को बौद्ध धर्मावलम्बी स्वीकार किया। यहाँ तक कि भूगर्भ से निकली दिग्म्बर मुद्रा की मूर्तियों को भी ऐसे लोग महात्मा गौतम बुद्ध की मूर्ति मानने लगते हैं। कंनिधम जैसे पुरातत्वविद् ने खजुराहों से प्राप्त जैन मूर्ति को महात्मा बुद्ध की मूर्ति बता दी पश्चात् पुरातत्वविद् फर्गुसन (Fergusson) ने भली प्रकार उसका अध्ययन करके और अनके उद्धरण देकर सिद्ध किया कि यह तीर्थकर जैन मूर्ति है, तब भूल स्वीकार कर वे उसे जैन मूर्ति मानने लगे।³⁶

कुछ विद्वानों ने अशोक के शासन में घटित कुछ घटनाक्रमों आधार पर सम्राट अशोक को बौद्ध धर्मावलम्बी शासक घोषित कर दिया।

1. डॉ. ज्योतिप्रसाद के अनुसार ऐसा लगता है कि कलिंग युद्ध के आस-पास तिष्वरक्षिता (बौद्ध धर्मावलम्बी साध्वी) से विवाह कर लिया जिसके कारण अशोक बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया वह बौद्ध धर्म का संरक्षक राजा बन गया।³⁷ यह कथन भी किया जाता है कि कलिंग युद्ध की विभीषिका और नरसंहार को देखकर उसका (अशोक का) हृदय द्रवीभूत हो गया।³⁸

2. कलिंग युद्ध के पश्चात् मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगति भी हुई।

3. लगभग इसी समय मथुरा के बौद्ध आचार्य उपयुक्त के सम्पर्क में अशोक आया था।

4. सम्राट अशोक ने गौतमबुद्ध की जन्मस्थली पर लगे राज्यकार को समाप्त कर दिया। लघु शिलालेख में उल्लेखित है अपने राज्याभिषेक के 20 वर्ष बाद देवों के प्रिय प्रियदर्शी इस स्थान पर आए और पूजा की क्योंकि यहाँ शाक्यमुनि पैदा हुए थे उन्होंने एक पथर की दीवाल बनवायी और स्तम्भ स्थापित करवाया, लुम्बिनी के गांव को लगान से छूट दी गयी। कुछ ओर कार्य भी अशोक ने बौद्धों के अनुकूल किए डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी तो यहाँ तक कहते हैं कि अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार ही नहीं किया वरन् अन्य धर्मों के श्रेष्ठतम गुणों को भी बौद्ध धर्म में समाहित कर उसने अपनी प्रजा को उनका अनुसरण करने का उपदेश दिया तथा बौद्ध धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया। लेकिन हेमचन्द्र ने यह स्पष्ट नहीं किया कि इनके कथन का क्या आधार है ?

ऐसा भी माना जाता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचार के लिए अपने पुत्र

महेन्द्र और संघमित्रा को श्रीलंका और अन्य लोगों को स्वर्णभूमि, चीन, जापान आदि देशों में भेजा और धर्म का प्रचार किया।

डॉ. गुलाबचंद लिखते हैं कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद अशोक के विचार बिल्कुल बदल गये, वह एक सच्चे भिक्षु (बौद्ध) की भाँति जीवन व्यतीत करने लगे और प्रजा को बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए उत्साहित करने लगा। वर्ही वे अपने कथन को साक्ष्य के अभाव में पलटकर लिखने लगते हैं। अशोक ने कहीं भी बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग और निर्वाण का उल्लेख तक नहीं किया। यथार्थ में जिस धर्म का स्वरूप विश्व के सामने अशोक ने रखा वह सभी धर्मों के सम्मानित नैतिक सिद्धान्तों और सदाचारणों का संग्रह है। अशोक संपूर्ण मानव जाति, मानव धर्म का अनुयायी था। अशोक के धर्म में सार्वभौमिकता सहिष्णुता, अहिंसा, नैतिक आदर्शों पर बल और सभी धर्मों के लिए सम्मान आदि बातें पायी जाती हैं, अतः अशोक के धर्म को मानव धर्म कहना उचित होगा। अशोक का धर्म सार्वभौमिक था। इसमें प्रचलित सभी धर्मों की बातें समाहित थी, इसमें संकीर्णता को कोई स्थान नहीं दिया गया था।³⁹

ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् से लेकर 17 वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म को राजनैतिक प्रश्रय देने वाला कोई विशेष राजा नहीं हुआ। अशोक ने बौद्ध धर्म को राजनैतिक संरक्षण प्रदान किया। अशोक ने साँची संधाराम और भाबू के शिलालेखों में संघ के बारे में उल्लेख भी किया। जिससे बौद्ध धर्मावलम्बी बहुत प्रसन्न हुए तथा उन्होंने अशोक को बहुत महत्व देते हुए उसके बौद्ध धर्मावलम्बी होने का वर्णन ग्रन्थों में प्रस्तुत किया।

अशोक के शिलालेख:

अशोक ने अपने राजधर्म 'धर्म' के नियम, शिक्षाओं, सदाचार जीवन जीने की कला, राज्य के नागरिकों को अधिकार एवं कर्तव्यों से परिचय कराने स्तम्भ लेख, शिलालेख, लाटो तथा गुफाओं में लेखन करवाया। इससे सर्वसाधारण को अशोक के राजधर्म का परिचय मिला।

अशोक के शिलालेखों और स्तम्भ लेखों की भाषा का विवरण निम्नानुसार प्राप्त होता है, अशोक के धर्मलेख प्राकृत भाषा में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में लिखे गए हैं, खरोष्ठी लिपि में लिखे लेख पश्चिमोत्तर प्रदेश में मिलते हैं, यह लिपि आज की उर्दू/अरबी लिपि की तरह दायें से बायें लिखी जाती है। इस लिपि का प्रचलन क्षेत्र भी भारत के पश्चिम उत्तर भाग रहा। अशोक के लेख पश्चिम उत्तर भाग को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में ब्राह्मी लिपि में ही लिखे हुये मिलते हैं। ब्राह्मी लिपि का उद्द्वच जैन शास्त्रों में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के नाम से प्राप्त होता है। यह लिपि मौर्य काल में अशोक के पूर्व एवं पश्चात् भी प्रचलित रही। अशोक

सम्प्राट खारवेल शिलालेख

କାନ୍ତିର ପାଦରେ ମହାଶୁଣୀ ଏହାର ପାଦରେ
କାନ୍ତିର ପାଦରେ ମହାଶୁଣୀ ଏହାର ପାଦରେ

लोप-ज्ञाही, भाषा-ओड़मागढी, संयय-ई. पू. दूसरी शताब्दी

प्राप्ति-स्थल-भुवनेश्वर (उत्तरगिरि) उड़ीसा

कलिङ्ग के खारखेल समाट, मुग्धोद्धेश्वरन तथा उनके राज्यकाल के दौरान वर्ष में (दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व) उनका जीवन सम्मेलन हुआ।

King Mahameghavahana Kharvela of Kalinga and his Jain council held at Udayagiri in the 13th year of his reign (2nd Century B.C.)

卷之三

二〇一

के काल में लिखित शिलालेखों का अनेक विद्वानों ने अत्याधिक प्रयास कर उसका अध्ययन करने का प्रयास किया। सर्वप्रथम 1837 विद्वान जेम्स प्रिसेप ने अशोक के इन अभिलेखों को पढ़ने में सफलता प्राप्त की। अभिलेखों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं।

शिलालेख: अशोक द्वारा लिखवाये गये 14 अभिलेख अभी तक प्राप्त हुये हैं - (1) साहबाजगड़ी (पेशावर पाकिस्तान) (2) मनसेहरा (हजारा) (3) कालसी (देहरादून) (4) गिरनार (काठियाबाड़) (5) सोपरा (थाणे) (6) धौली (उड़ीसा) (7) जौगड़ (उड़ीसा) (8) एरागुड़ी (कुर्नूल) नामक स्थानों पर चौदह शिलालेख प्राप्त हुए हैं। यह अभिलेख 8 स्थानों पर वृहद शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण 14 प्रज्ञावन हैं जो सर्वत्र प्रायः समान हैं।

लघु शिलालेख: अशोक द्वारा लिखवाये गये लघु शिलालेख निम्नलिखित स्थानों पर प्राप्त हुए हैं, (1) रूपनाथ (जबलपुर) (2) गुर्जरा (दतिया) (3) सहसराम (शाहबाद विहार) (4) भ्राबू (जयपुर) (5) मास्की (रायपुर) (6) ब्रह्मगिरि (मैसूर) (7) सिद्धपुर (मैसूर) (8) जतिंगरामेश्वर (मैसूर) (9) एरागुड़ी (कुर्नुल) (10) गोविमठ (मैसूर) (11) पालकिण्ड (मैसूर) (12) राजुल मैडगिरि (कुर्नुल) (13) अहरौदा (मिर्जापुर) (14) सारो-सारो (शहडोल) (15) नैनूर (मैसूर) हैं।

स्तम्भ अभिलेखः अशोक के स्तम्भ अभिलेखों की संख्या 7 है – ये स्तम्भ अभिलेख पाषाणखण्डों पर उत्कीर्ण करवाये गये हैं, (1) सहारनपुर (उ.प्र.) (2) कौशम्बी (उ.प्र.) (3) मेरठ (उ.प्र.) (4) लौरिया (बिहार) (5) अरराज (बिहार) (6) नंदनगढ़ (बिहार) (7) रामपुरपा (बिहार)

लघुस्तम्भलेखः अपेक्षाकृत छोटे-छोटे पाषाण खण्डों पर भी अशोक महान की राजकीय घोषणाएँ उत्कीर्ण की गई हैं, यह स्तम्भ अभिलेख (1) सांची (म.प्र.) (2) सारनाथ (बिहार) (3) रुमिनदर्दे (नेपाल) (4) निर्लीवा (नेपाल) (5) कोशाम्बी (उ.प्र.) में प्राप्त हए हैं।

अशोक के शिलालेखों के विषयः

प्रथम शिलालेखः इसमें पशुबलि को निन्दा की गयी है पशुबलि निषेध के बारे में इस प्रकार लिखा गया है यहाँ कोई जीव मारकर बलि न दिया जाये और न कोई ऐसा उत्सव किया जावे जिसमें पशुबलि या मल्लयुद्ध हो तथा भविष्य में नहीं मारे जावेंगे ।

दूसरा शिलालेख: इसमें मनुष्य और पशुओं दोनों की चिकित्सा व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।

तीसरा शिलालेखः इस शिलालेख में राजकीय अधिकारियों को आदेश दिया गया है कि वे हर पाँच वर्ष के उपरांत राज्य के दौरे पर जायें, इस शिलालेख में कुछ धार्मिक नियमों का भी उल्लेख किया गया है, साथ ही अल्प व्यय और बचत को भी धम्म का अंग माना है।

चौथा शिलालेखः इस शिलालेख में भेरी घोष के स्थान पर धम्मघोष की घोषणा की गयी है, अर्थात् युद्ध के स्थान पर शान्ति को महत्व दिया गया है।

पाँचवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में धम्म महामात्रों की नियुक्ति के विषय में जानकारी मिलती है।

छठवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में आत्मनियंत्रण की शिक्षा दी गयी है तथा इसी लेख में यह घोषणा की गयी है कि हर क्षण और हर स्थान पर चाहे मैं रसोई घर में हूँ, उद्यान में हूँ, अन्तःपुर में रहूँ सब जगह मेरे प्रतिवेदक मुझे प्रजा के हाल से परिचित रखें, मैं प्रजा का कार्य सब जगह करता हूँ।

सातवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में कहा गया है सभी सम्प्रदाय के लोग सब जगह निवास करें क्योंकि सब संयम और चित्त की शान्ति चाहते हैं।

आठवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में अशोक की धम्म यात्राओं का उल्लेख है।

नौवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में सच्ची भेंट और शिष्टाचार का उल्लेख है।

दसवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में अशोक ने आदेश दिया है कि राजा और अधिकारी हमेशा प्रजा के हित में सोचें तथा सभी लोग धर्म का पालन करें।

ग्यारहवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में धम्म की व्याख्या की गयी है, इसमें अशोक ने कहा कि धम्म जैसा कोई दान नहीं धम्म जैसी कोई प्रशंसा नहीं, धम्म जैसा कोई बंटवारा नहीं, धम्म जैसी मित्रता नहीं।

बारहवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में स्त्री महामात्रों की नियुक्ति तथा सभी प्रकार के विचारों के सम्मान की बात कही गयी है, इसमें अशोक ने कहा है कि सभी सम्प्रदाय के सार में वृद्धि हो क्योंकि सबका मूल संयम है, लोग दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें।

तेरहवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में कलिंग युद्ध का वर्णन तथा अशोक का हृदय परिवर्तन एवं पड़ोसी राज्यों का विवरण मिलता है।

चौदहवाँ शिलालेखः इस शिलालेख में अशोक ने प्रजा के प्रति पितृ तुल्य भाव प्रकट किया है तथा कलिंग राज्य के प्रति अशोक की शासन नीति के विषय में बताया गया है।

अशोक के मुख्य शिलालेखों में एक शिलालेख गिरनार गुजरात राज्य में

जूनागढ़ के पास पाया गया हैं इसी चट्टान पर शक महाक्षत्रप रूद्रदामन ने लगभग 15 ई. में संस्कृत भाषा में एक लेख खुदवाया, बाद में गुप्त सम्राट स्कंद गुप्त ने भी (455-67 ई.) ने भी एक लेख अंकित करवाया था।

अशोक के जीवन का समीक्षात्मक अध्ययन :

सम्राट अशोक अपने प्रसिद्ध कुल क्षत्रिय वंश दिग्म्बर जैन श्रमण संस्कृति के पोषक महान सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र सम्राट बिन्दुसार के 100 पुत्रों में से एक पुत्र था, जिसने अपनी बुद्धि बल और माता के संस्कारों के कारण अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर मगध के राज्य सिंहासन पर आसीन हुआ था अशोक अपने पूर्वजों तथा माता-पिता की संस्कृति की अपेक्षा जीवन के पूर्वार्द्ध काल में (लगभग 45 वर्ष तक) दिग्म्बर जैन श्रमण संस्कृति का पोषक माना जा सकता है, जीवन के उत्तरार्ध काल में अशोक का अपने साम्राज्य विस्तार की लालसा तथा कलिंग का विद्रोह कर मौर्य साम्राज्य की आधीनता से मुक्त हो जाने के कारण सम्राट अशोक ने अपनी विशाल सेना के साथ आक्रमण किया इस आक्रमण में यद्यपि विजय की ही अभिलाषा थी लेकिन इस विजय श्री को वरण करने में जो हिंसा का अभूतपूर्व ताण्डव हुआ उसका अशोक का अन्तः करण करूण क्रन्दन करने लगा, इसी समय बौद्ध साधु साधिव्यों का सम्बोधन विशेषक बौद्ध साध्वी तिष्ठरक्षिता का आकर्षणपूर्ण सम्बोधन जिसने तिष्ठरक्षिता को बौद्ध साध्वी से सम्राट अशोक की प्रिय पत्नि एवं मगध की सामज्ञी बना दिया। तीसरी सदी में लिखा गया दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रंथ में रानी तिष्ठरक्षिता और अशोक का एक वार्तालाप इस प्रकार है – ‘देवि! अहं क्षत्रिय कथं पलाण्डु परिभक्ष्यामि’⁴⁰ अर्थात हे देवी मैं क्षत्रिय कैसे प्याज खा सकता हूँ। इस कथन से स्पष्ट होता है कि अशोक ने जीवन भर प्याज नहीं खायी, प्याज नहीं खाने का संस्कार मात्र जैन संस्कृति में ही है जो आज भी विद्यमान है। दूसरे रानी तिष्ठरक्षिता अशोक की संस्कृति से परिचित नहीं थी। सम्राट अशोक की सांस्कृतिक, धार्मिक पृष्ठभूमि रानी तिष्ठरक्षिता की संस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। पश्चात् रानी तिष्ठरक्षिता के प्रभाव में सम्राट अशोक ने न केवल बौद्ध धर्म को अपने साम्राज्य में संरक्षण दिया बल्कि उसके प्रचार-प्रसार में भी सहकारी बने। ज्ञान इतिहास से विदित होता है कि अशोक के काल से ही बौद्ध धर्म भारत के बाहर प्रतिष्ठापित हुआ जिससे आज बौद्ध धर्म भारत के बाहर लगभग 18 देशों में राज धर्म के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। अशोक यदि बौद्ध धर्म को संरक्षण नहीं देते तो बौद्ध धर्म भारत में ही लुप्त प्रायः स्थिति में हो जाता। अशोक के पश्चात् भारत में बौद्ध धर्म को न केवल अनेक-अनेक संकटों से गुजरना पड़ा बल्कि अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए भी संघर्ष करना पड़ा।

अशोक के शिलालेखों का अध्ययन तथा विद्वानों के अभिमत के आधार पर हम यह कह सकते हैं, अशोक द्वारा प्रारंभ किया गया धर्म धर्म बौद्ध दर्शन से बिल्कुल भिन्न है इस धर्म में अशोक के माता-पिता के संस्कार की न केवल गंध आती है बल्कि मूल (जैन) श्रमण संस्कृति के सिद्धान्तों को सहजने का एक सफल प्रयास किया तथा श्रमण संस्कृति की देन शाकाहार का सम्राट अशोक प्रथम प्रचारक सम्राट बना।

अशोक पर जैन धर्म का प्रभाव :

अशोक का धर्म (धर्म) मानव मात्र के कल्याण तक सीमित न था वह तो प्राणी मात्र को सुख पहुँचाना चाहता था⁴¹ संसार के अधिकांश धर्म प्राणी पीड़ा का पूर्णतया निषेध नहीं करते बल्कि कुछ धर्म तो मांस भक्षण जैसे हिंसक और प्राणी पीड़ा देने वाले कृत्य को धार्मिक क्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं लेकिन जैन धर्म ही एक मात्र ऐसा धर्म है जो संसार के सभी प्राणियों को कष्ट होने पर क्षमा मांगने तथा उन्हें सुखी करने का भाव रखता है, जैनधर्म सभी प्राणियों में अपने जैसी ही आत्मा को स्वीकार करता है, इसलिए जैन दर्शन में ‘परस्परोग्रहोजीवाणाम’⁴² जैसे सूत्र न केवल प्रचलित है बल्कि जैन दर्शन में सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य भी हैं। अतः सम्राट अशोक का प्राणीमात्र को सुखी करना जैन धर्म के अत्यधिक निकट लाता है। डॉ. ज्योतिप्रसाद लिखते हैं अशोक के लेखों (शिलालेखों) का भाव और तद्गत विचार बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म के अधिक निकट हैं⁴³

अशोक ने लोक कल्याण के लिए अनेक कार्य किए उन्होंने अपने सातवें शिलालेख में लिखवाया ‘मैंने बरगद के वृक्ष लगवा दिये हैं उनसे मनुष्य पशुओं को छाया मिलेगी, मैंने आमों के बाग लगवाए हैं। प्रत्येक आठ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाएँ हैं और विश्रामग्रह बनवाए हैं, मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिए मैंने विभिन्न स्थानों पर प्याऊ लगवाई हैं। मैंने यह इस अभिप्राय से किया कि लोग धर्म का आचरण करें।⁴⁴ जैनाश्रय प्राप्त अथवा जैन धर्म से प्रेरित होकर राजा, महाराजा ऐसे लोकहित के कार्य किया करते थे, डॉ. पंकज शर्मा जैन धर्मी शासक की विशेषताएँ बताते हुए लिखते हैं – जैन धर्म को आश्रय प्रदान करने वाले शासकों ने जैन धर्म से प्रेरित होकर समाज के निर्धन वर्ग के लिये अनेक औषधालयों, विश्रामालयों व पाठशालाओं का निर्माण कराया। शासकों के इन समाज कार्यों से प्रेरित होकर समाज के निर्धन वर्गों में निर्धनों के प्रति दया के भाव जागृत हुए। मैं भी जैन धर्म के पारिवारिक संस्कार विद्यमान थे, इस कारण उन्होंने लोकहित के कार्य दीन-दुखियों के सेवा के कार्य किए। डॉ. बुल्हर का मानना है कि “अस्पताल खोलना और हर प्रकार की हिंसा को रोकने की घोषणा आदि करने से अशोक का सुदृढ़ी जैनी होना

सिद्ध होता है।”⁴⁵ सम्राट अशोक की यह घोषणा ‘मैं जो कुछ करता हूँ वह उस ऋण को चुकाने के लिए है जो सभी प्राणियों का मुझ पर है’ जैनदर्शन के ख्याति प्राप्त सूत्र ‘परोस्परोपग्रहो जीवाणाम्’ से मेल खाता है अर्थात् प्राणियों का परस्पर में उपकार है।

सम्राट अशोक ने सामान्यतया प्राणीवध को पूर्णतया प्रतिबंधित कर दिया था फिर भी ‘वर्ष के 56 दिनों में उसने प्राणी वध सर्वथा और सर्वत्र बंद रखने की आज्ञा जारी की थी वे 56 दिन कौटिल्य (चाणक्य) के अर्थशास्त्र में दिए गए पवित्र दिनों तथा जैन धर्म की परम्परा में प्रचलित जैन पर्व के दिनों से मेल खाते हैं।⁴⁶ एक वर्ष में तीन बार 8-8 दिन के अष्टानिहनका पर्व के दिन तथा एक वर्ष में तीन बार आने वाले दशलक्षण धर्म के पर्व के दिन $10 \times 3 = 30 + 1$ (वर्ष में एक दशलक्षण पर्व 11 दिन का होता है) तथा महावीर स्वामी के जन्म कल्याणक का एक दिन इस पकार एक वर्ष में $8 \times 3 + 31 + 1 = 56$ दिन होते हैं। अनेक विद्वान स्वीकार करते हैं कि जैन पर्व के दिनों में जीव हिंसा का रोकना अवश्य प्रकट करता है इस (आज्ञा) को लिखवाने वाला अशोक जैन धर्मी था।

सम्राट अशोक के सप्तम शिलालेख में संयम भावशुद्धि और कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति पर जोर दिया यह चारों शब्द सम्पूर्ण रूप से जैनदर्शन में उल्लिखित है।⁴⁷

1. संयम - यह शब्द बौद्ध दर्शन के दसशील में से एक हैं तथा जैन दर्शन का आधार स्तम्भ है।

2. भावशुद्धि - जैन दर्शन में यह शब्द अपने पूर्ण रूप से संयम के साथ पाया जाता है, भावशुद्धि का उल्लेख बौद्ध दर्शन में कहीं भी दृष्टव्य नहीं होता न चार आर्यसत्य में, न अष्टांगिक मार्ग में, न दसशील में।

3. कृतज्ञता - ‘कृतज्ञता’ शब्द का उल्लेख बौद्ध धर्म के किसी भी सिद्धान्त किसी भी शिक्षा नहीं पाया जाता है यह जैन धर्म में नीति परक शब्द है देवशास्त्र गुरु के प्रति आज भी कृतज्ञता ज्ञापित की जाती है, उनके प्रति कृतज्ञता का भाव रहता है।

4. दृढ़भक्ति - दृढ़भक्ति जैन साहित्य और ब्राह्मण साहित्य में ही दृष्टव्य होती है, दृढ़भक्ति बौद्ध संस्कृति से बहुत दूर है।

कलहड़ कृत ‘राजत रंगिणी के पृष्ठ 98 के अनुसार अशोक ने कश्मीर में जैन धर्म का प्रचार किया जिसकी पुष्ट अबुल फजल के ग्रंथ ‘आईने अकबरी’ में की गयी है इस तथ्य को पाश्चात्य विद्वान थॉमस ने Royal Asiatic Society Vo-IX में स्वीकार किया है।

शिलालेखों में अशोक के द्वारा निग्रंथों (दिगम्बर जैन मुनियों) का विशेष रूप से आदर करने का उल्लेख किया है, जब शिलालेखों में ही उल्लिखित ‘श्रमण’

शब्द में दिगम्बर श्रमण, श्वेताम्बर श्रमण और बौद्ध श्रमण आते हैं, इस प्रकार दिगम्बर जैन मुनियों को निग्रन्थ का विशेष उल्लेख आना अशोक का जैन साधुओं का महत्त्व देना स्पष्ट या दृष्टव्य होता है।

अशोक ने बिहार प्रान्त में गंगा के निकट बराबर नाम की पहाड़ियों पर आजीवक साधुओं के लिए लेणे (गुफाएँ) बनवाई थीं, आजीवक सम्प्रदाय दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति की ही एक शाखा थी, अशोक की माँ शुभ्रदांगी के कुल गुरु आजीवक सम्प्रदाय के साधु थे। राजेन्द्र प्रसाद ने सम्राट अशोक नया परिपेक्ष्य में अशोक के पिता बिन्दुसार को भी आजीवक स्वीकार किया है। विशेष उल्लेखनीय यह है इस गुफा के शिलालेख में से 'आजीवक' शब्द को ही विलोपित करने का प्रयास किया है। ऐसा ही अशोक के पुत्र द्वारा लिखित शिलालेख में आजीवक शब्द को नष्ट करने का प्रयास किया है जिससे भाषित होता है कि एक विशेष उद्देश्य के कारण लोग अशोक को मात्र बौद्ध सिद्ध करने के लिए प्रयासरत रहे। अशोक का जैन धर्म से सम्बन्ध ही समाप्त करना चाहते थे⁴⁸ और बहुत दूर तक वे अपने उद्देश्य में सफल भी रहे हैं।

बौद्ध साहित्य में मान्य प्रसादलका (1-44-45) में कहा गया है कि अशोक Heretec सिद्धान्त का अनुगामी था। Heretics की सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए Royal Asiatic Society Vol – IX (January 1885) लिखा गया है The heretics (Tityas) are mostly Jain इस प्रकार यदि अशोक के साथ Heretics 'सिद्धान्त' को संयुक्त करें तो Heretic भी जैन धर्म का ही सिद्धान्त होता है⁴⁹

प्रसिद्ध विद्वान Fleet ने अपने लेख में स्पष्टतया स्वीकार किया है कि अशोक बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं था (हाँ बौद्ध धर्म से प्रभावित तथा उसका संरक्षक था) इसी प्रकार के मत पाश्चात्य विद्वान Thomas और विल्सन के भी रहे। Junral Royal Asiatic Society तथा Juniral Asiate Society तथा Macphil ने भी Ashoka में ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है⁵⁰

इंडियन एण्टीकरी में लिखा है जिस क्रम से यह स्तम्भलेख तथा शिलालेख लिखवाये गये हैं उसको लिखवाने वाला बौद्ध धर्मी नहीं बल्कि जैन धर्मी ही होना चाहिए⁵¹

इतिहासकार विद्वान ज्ञानसुन्दर ने अशोक के शिलालेखों, लिपि तथा शब्दों का अध्ययन करते हुए अपने प्राचीन जैन इतिहास संग्रह भाग-2 (फलौदी) में लिखा हैं - अशोक के शिलालेखों की लिपि तथा शब्दों से स्पष्ट है कि इन शिलालेखों का लिखवाने वाला बौद्ध धर्मी नहीं बल्कि कट्टर जैन धर्मी होना चाहिये⁵²

शिलालेख क्रमांक 03 पर 'स्वामिवत्सल्यता' एवं शिलालेख क्रमांक 09 में 'मंगल' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'स्वामिवत्सल्यता' और 'मंगल' शब्द

बौद्ध ग्रंथों में दृष्टव्य नहीं होते। प्राचीन जैन इतिहास के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग बौद्ध धर्म में कदाचित नहीं होता है⁵³ इसी प्रकार शिलालेख क्रमांक 13 में 'पाखण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है, 'पाखण्ड' शब्द को बौद्ध धर्म का नहीं माना गया है⁵⁴

S. Bed लिखते हैं Pillar edicts shows Ashoka's Love toward the Poor anafficated towards the hipeds faults of the air and bing that move in water इस प्रकार के स्तम्भ लेखों में अशोक का जीव दया का भाव पशु पक्षियों तक सीमित न होकर जैन दर्शन के अनुसार जलकाय, वायुकाय आदि सूक्ष्म जीवों तक प्रकट होता है। जैन दर्शन के अतिरिक्त ऐसे प्रकरण अन्यत्र दुर्लभ हैं⁵⁵

डॉ. करण के अनुसार अशोक ने जिस अहिंसा को अपनाया और जिस अहिंसा का प्रचार किया वह बौद्ध सिद्धान्तों की नहीं बल्कि जैन धर्म के अनुसार है⁵⁶

अशोक न केवल शाकाहारी था बल्कि उसने अपने शिलालेखीय संविधान में सम्पूर्ण राज्य में सभी के लिए शाकाहारी होने का आदेश दिया, यहाँ तक उसके विदेशी राजदूत, अतिथियों के लिये भी उसने राज्य की पाकशाला में मांसाहार पर पूर्णतया से रोक लगा दी थी। राज्य अथवा राज्य के बाहर के सभी निवासी अतिथि आदि सभी को शाकाहार करना अनिवार्य कर दिया। जबकि बौद्ध संस्कृति में मांसाहार करने पर रोक ही नहीं है, बौद्ध धर्मावलम्बी तो क्या बौद्ध भिक्षुओं के मांसाहार करने के अनेक प्रकरण इतिहास में दृष्टव्य होते हैं। जैन धर्मावलम्बी न केवल शाकाहारी होगा बल्कि वह आलू, प्याज जैसी भूमि के अन्दर उत्पन्न सब्जियों का भी सेवन नहीं करता। दिव्यावदान में सम्राट अशोक के प्याज तक न खाने का प्रसंग है, बौद्ध धर्म मांसाहार का निषेध ही नहीं करता, स्वयं महात्मा बुद्ध भी मांसाहार करते थे,⁵⁷

चिंतनीय विषय है कि यदि बौद्ध धर्म में मांसाहार पर प्रतिबंध नहीं था तो (तथाकथित) बौद्ध धर्मावलम्बी नरेश सम्राट अशोक ने सम्पूर्ण राज्य में मांसाहार को प्रतिबंधित क्यों किया? सम्पूर्ण राज्य में पशु बध कर रोक क्यों लगवाई? पशुओं के लिए मनुष्यों की तरह चिकित्सालय क्यों खुलवाए?

विश्व में मात्र जैन धर्म ही ऐसा धर्म है जिसका प्राण अहिंसा है वह अहिंसा जिसकी सम्पूर्ण परिधि एवं केन्द्र अहिंसा से ही निर्मित है सच्चा जैन धर्मावलम्बी शासक ही सम्पूर्ण रूप से पशुबध और मांसाहार के प्रतिबन्ध लगा सकता है। मेजर फर्लांग स्तम्भ लेखों के बारे में लिखते हैं अशोक के स्तम्भ लेख एक सच्चे जैन सम्राट के खुदवाये हुए हैं⁵⁸

अनेक विद्वानों के कथन हैं कि अशोक के स्तम्भ लेखों की लिपि, शब्दों तथा भावों की तर्करूपी कसोटी पर घिसकर, जांचने पर स्पष्टतया सिद्ध होता है कि लिखने वाला (अशोक) जैन धर्मी था⁵⁹

उत्तर प्रदेश के पूर्व राज्यपाल विद्वान डॉ. सम्पूर्णानंद ने लिखा है कि रागद्वेष व काम आदि महापापों पर विजय करने वालों की श्रेणियों में श्रेष्ठ श्रमण अरहंत होते हैं, अशोक की दृष्टि में ऐसे अरहन्तों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था।⁶⁰ इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के डायरेक्टर ऑफ इन्डोलॉजी (Indology) (इलाहाबाद) G.K. Pillai लिखते हैं, Ashoka was a Jain First.⁶¹

प्रसिद्ध विद्वान डॉ. राधामुकुन्द मुकर्जी का मत है दो चीनी बौद्ध धर्मावलम्बी यात्री फाहान और युयानन्ववांग प्राचीन समय में भारत आये उन्होंने अपने वर्णन में (लेखों में) अशोक की चर्चा जरूर की और उनके स्तम्भलेख भी देखे परन्तु उन्हें कोई ऐसी बात नहीं दिखी जिससे अशोक बौद्ध धर्मी माना जा सके।⁶²

प्राचीन प्रसिद्ध ऐतिहासिक पत्रिका Asiatic veciarches Vol I - III में कहा गया है अशोक के स्तम्भ लेखों से स्पष्ट है कि उसने सीरिया, मिश्र, यूनान, अरब, श्रीलंका, अफगानिस्तान आदि अनेक देशों में अपने धर्म (धम्म) का प्रचार करने के लिये प्रचारक भेजे। यदि अशोक बौद्ध धर्मी होता तो वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार कराता और वहाँ कुछ न कुछ बौद्ध धर्म के चिह्न निश्चित रूप से मिलने चाहिये थे परन्तु वहाँ जैन धर्म के चिह्न प्राप्त हुए।⁶³ अंग्रेजी मासिक Oriental 1982 से भी एक कथन की पुष्टि होती है, बौद्ध धर्म के विशेषज्ञ Beal भी इसी कथन की पुष्टि करते हैं, प्रसिद्ध विद्वान वेट के अनुसार यूनान से कोई बौद्ध चिह्न प्राप्त नहीं हुआ बल्कि मैथिक सोसायटी जनरल के अनुसार अशोक के विदेशों में जैन धर्म के प्रचार का कथन है।⁶⁴

सम्राट अशोक द्वारा सारनाथ ग्यारहवें तीर्थकर श्रेयांशनाथ के जन्म कल्याणक भूमि, सिंहपुरी) में स्तम्भ स्थापित करवाया। यह स्तम्भ हमारी ऐतिहासिक, राष्ट्रीय धरोहर है इसी धरोहर के आधार पर हमारे देश के राष्ट्रीय चिह्न का निर्धारण किया गया है। सम्राट अशोक के द्वारा स्तम्भ में अंकित राष्ट्रीय चिह्न के बारे में लोग अलग-अलग प्रकार से कथन करते हैं, राष्ट्रीय चिह्न जैसे महत्वपूर्ण बिन्दु पर काल्पनिक नहीं बल्कि तर्कसंगत कथन होना चाहिए। विद्वानों ने अभी तक इस ओर दृष्टिपात नहीं किया जिससे राष्ट्रीय चिह्न की सही एवं सटीक व्याख्या का प्रयास किया जा सके।

जब यह सिद्ध होता गया कि सम्राट अशोक पर जैन धर्म की अमिट छाप थी उसके पूर्वज, माता-पिता और पश्चात्वर्ती कुल परम्परा जैन धर्मावलम्बी थी तब हमें यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि अशोक महान ने जो भी कार्य किये उनमें जैन दर्शन अवश्य होना चाहिए।

भगवान महावीर और अहिंसा धर्म के संस्कारों के कारण अशोक के हृदय

में तीर्थकरों और जैन धर्म के प्रति बहुत सम्मान था, अहिंसा के गहन संस्कारों के कारण ही कलिंग के युद्ध में भीषण रक्तपात देखकर उसका हृदय तिलमिला उठा और उसने भविष्य में रक्तपात वाले युद्ध न करने की घोषणा कर दी।⁶⁵ अपने सुख विकास के लिये अशोक जैन सिद्धांतों से अत्यंत प्रभावित था।⁶⁶ इस प्रकार मौर्य वंश के श्रेष्ठ सम्राट अशोक की राज्य लिप्सा की अभिलाषा को छोड़कर सम्पूर्ण जीवन में वह जैन धर्म से न केवल प्रभावित था बल्कि उसके राज्यकार्यों में भी जैन धर्म के सिद्धांत ही समाहित थे। यद्यपि उसने बौद्ध धर्म को भी स्वीकार कर उसको संरक्षण प्रदान किया तथा उसके प्रचार-प्रसार में सहयोग किया।

प्रसिद्ध 'हिन्दू' पत्रिका 1950 कल्याण के अनुसार अशोक प्रथम तीर्थकर 'ऋषभदेव' का उपासक था उसने रामपुरुष स्तम्भ में ऋषभ का (लांछन) चिह्न वृषभ स्थापित किया। अशोक ने तीसरे तीर्थकर सम्भवनाथ की स्मृति में उनके चिह्न 'अश्व' युक्त सिक्के प्रचलित किये जिनके चित्र प्राचीन जैन इतिहास संग्रह में छपे हुये हैं।⁶⁷ अशोक का अंतिम स्तम्भ लेख सिद्ध करता है निश्चित रूप से उसके लिखाने तक जैन धर्मी था।⁶⁸

Traditional History of India के अनुसार अशोक का जैन कन्या से विवाह और सम्पूर्ण रूप से मांस त्याग अशोक को जैन धर्मी सिद्ध करता है।⁶⁹

डॉ. आई मुकर्जी अपनी पुस्तक Ashok में लिखते हैं -Ashoka was an ideal king and ordent follower the faith like true Jaina⁷⁰

सम्राट अशोक के काल में मूर्ति निर्माण कला विकास की ओर अग्रसर हो चली थी, अतः अशोक ने शिलालेखों के साथ ही साथ मूर्तिकला का अभूतपूर्व स्तम्भ भी निर्मित करवाया था। सारनाथ स्थित अशोक का स्तम्भ जैन धर्म में वर्णित भगवान के समवशरण में 'मानस्तम्भ' रचना की प्रतिकृति है। (उस काल में कीर्ति स्तम्भों का उल्लेख ही मिलता है।) महावीर स्वामी के पूर्ववर्ती एवं पश्चात्वर्ती काल में तीर्थकरों की प्रतिमाएँ धर्मावलम्बियों ने बनवाना प्रारंभ कर दिया था, लेकिन अनेक स्थानों पर तीर्थकरों की प्रतिमाओं के स्थान पर तीर्थकरों के लांछन (चिह्न) भी प्रयुक्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है, चूंकि सिंह जैन धर्म के अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी का लांछन था तो इस कारण अशोक ने भगवान महावीर स्वामी के लांछन सिंह का अपने स्तम्भ में चतुर्दिक निर्माण करवाया जो चारों दिशाओं में अशोक महान की विजय पता का को भी सूचित करता है तथा महावीर स्वामी के धर्मोपदेश को चारों दिशाओं में प्रसारित करता है, को इंगित करता है यही कारण है कि अशोक ने सिंहों के नीचे ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थकरों के 24 तीलियों वाले धर्मचक्र को प्रदर्शित करवाया जो चारों दिशाओं में अशोक के धर्म धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने

का सूचक बनता है। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में भी धर्म चक्र के चौबीस और जैनियों के 24 तीर्थकरों के प्रतीक हैं।⁷¹ प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका धर्मयुग (24/01/1971) में धर्मचक्र के बारे में उल्लेख है 24 और वाले धर्म चक्र को अपने राष्ट्रीय ध्वज में अपनाया धर्मचक्र के जैन धर्म चक्र के नीचे जैन धर्म के आदि प्रवर्तक प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ तृतीय तीर्थकर सम्भवनाथ के लांछन क्रमशः वृषभ हस्त अश्व को चित्रित किया है।

डॉ. भरत ने हमारा राष्ट्रीय चिह्न और सम्प्राट अशोक में लिखा है हमारा राष्ट्रीय चिह्न जिसे हमने सम्प्राट अशोक की विरासत के रूप में प्राप्त किया है, यह चिह्न सम्प्राट अशोक की शिक्षाओं को ताजा करता है तथा इस चिह्न में हमारी असीम सांस्कृतिक विरासत भी झलकती है। सम्प्राट अशोक के स्तम्भों में जैन तीर्थकरों के चिह्न अंकित हैं, धर्मचक्र में 24 और तीर्थकरों की संख्या 24 के प्रतीक हैं, चतुर्मुखी सिंह भगवान महावीर का चिह्न है, बैल हाथी और घोड़ा क्रमशः भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ और संभवनाथ (पहले दूसरे और तीसरे) तीर्थकर के चिह्न हैं।⁷²

अशोक ने वैशाली में स्तंभ निर्माण करवाया जिसमें महावीर स्वामी का लांछन सिंह को अंकित किया गया। पूर्व में लांछनों को अंकित करने की परंपरा थी, इस स्तंभ के बारे में डॉ. पृथ्वीमित्र लिखते हैं कि वैशाली का यह स्तंभ महात्मा बुद्ध की स्मृति में बनवाया गया। तर्क संगत नहीं है क्योंकि ऐसा होता तो 'वीर' चिह्न के स्थान पर बुद्ध के प्रतीक स्थापित होते। साथ ही वैशाली महावीर स्वामी का जन्म स्थल है न कि गौतम बुद्ध का यह उचित प्रतीत नहीं होता ना ही न्याय संगत है कि महावीर स्वामी की जन्म स्थली में गौतमबुद्ध के प्रतीक स्थापित किये जाये।

कुणाल: चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रपोत्र : कुणाल अशोक का उत्तराधिकारी था अशोक ने उसे उज्जैयिनी का प्रशासक नियुक्त किया था, कुणाल के बारे में हेमचन्द्राचार्य, आचार्य चतुरसेन, आदि लेखकों ने लगभग एक जैसा ही वर्णन किया। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ में लिखते हैं। (करुण) - कुणाल - सम्प्राट अशोक की सम्भवतया प्रथम पत्नी विदिशा की श्रेष्ठि कन्या असन्ध्य मित्रा की कुक्षि से उत्पन्न राजकुमार कुणाल अपरनाम सुयश अत्यंत सुन्दर, सुशिक्षित, सुसंस्कृत, कलारसिक, संगीत विद्या-निपुण एवं भद्र प्रकृति का पुरुष पुंगव था। विशेषकर उसकी कुणाल पक्षी सदृश आंखों ने उसके रूप को अत्यंत आकर्षक बना दिया था, उसका देवोपम रूप और अप्रितम आंखें ही उसका दुर्भाग्य बन गयीं। उसकी विमाता सम्प्राट की युवा बौद्ध पत्नी तिष्यरक्षिता ने अपनी मर्यादा भूलकर कुणाल को भरसक अपने वेश में करने का प्रयत्न किया, किन्तु राजकुमार शीलवान और सदाचारी था, अतः रानी अपनी कुचेष्टाओं में सफल नहीं

हो पायी। विफल मनोरथ रानी ने प्रतिशोध की ज्वाला में दाध हो एक घृणित षड्यंत्र रचा सम्प्राट ने राजकुमार को उज्जयिनी का प्रान्तीय शासक नियुक्त कर दिया था उसने भी पिता की भाँति उसी प्रदेश की रूपगुण सम्पन्न श्रेष्ठि कन्या-कंचनमाला से विवाह कर लिया था। वह एक पत्नी ब्रती और अपनी प्रिया से बहुत प्रेम करता था, उसी से उसके सम्प्रति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इधर दुष्ट रानी का कुचक्र चला, उसने राजकुमार के नाम से सम्प्राट से एक आदेश पत्र लिखवाया, जिसमें राजकुमार को पुरुस्कृत करने की बात कही गयी थी। पत्र को राजमुद्रांकित करके अपने विश्वस्त भूत्य के हाथ राजकुमार के पास भिजवा दिया किन्तु भेजने से पूर्व उसमें लिखे 'अधीयताम्' शब्द को 'अंधीयताम्' कर दिया। वह जानती थी कि राजकुमार अत्यंत पितृभक्त एवं राजभक्त है, वही हुआ कुमार ने पत्र देखते ही सम्प्राट पिता की आज्ञा सिरोधार्य करके अपनी दोनों आंखें फोड़ ली। शीघ्र ही उसे विमाता के कुचक्र का पता भी लग गया। अन्य विपत्ति की भी आशंका थी, अतएव पत्नी और पुत्र को सुरक्षित स्थान में रख भिखारी के वेश में वह राजधानी पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ा। पाटलिपुत्र पहुँचकर वह सम्प्राट के महल के नीचे गाने लगा। गीत में उसने अपना परिचय तथा अपने ऊपर हुये अत्याचार का भी संकेत कर दिया। अशोक पुत्र के मधुर स्वर को पहचानता था, उसने भिखारी गायकवेशी राजकुमार को तुरंत अपने पास बुलवाया तथा पूरा वृतांत जानकर दुष्ट तिष्यरक्षिता को जीते जी जलवा दिया उसके साथियों और सहयोगियों को भी कठोर दण्ड दिया। इतना ही नहीं अन्य पुत्रों के होते हुये उसने (सम्प्राट अशोक) कुणाल के पुत्र सम्प्रति को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।⁷³ अशोक की मृत्यु के बाद वही (कुणाल) सम्प्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ किन्तु नेत्रविहीन होने के कारण उसका पुत्र सम्प्रति जो अब व्यस्क हो चला था पिता के नाम से राज्य कार्य संचालन करने लगा था। कुणाल का कुल धर्म तो जैन था ही उसकी माता और पत्नी भी परम जिन भक्त थीं। स्वभावतः राजकुमार कुणाल एक उत्तम जैन संस्कारवान राजा हुआ था। करुण की करुण कहानी हेमचन्द्राचार्य आदि जैन कथाकारों का प्रिय विषय रही है।

सम्प्राट सम्प्रति: महान जैन सम्प्राट

वैदिक वैद्वान डॉ. विद्यालंकार सम्प्रति के बारे में लिखते हैं – सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रसार के लिए बहुत भारी उद्योग किया था, परिशिष्ट पर्व के अनुसार एक बार रात्रि में सम्प्रति के मन में यह बात आई कि अनार्य देशों में भी जैन धर्म का प्रचार करना चाहिये ताकि साधु वहाँ भी स्वतंत्र रूप से विचरण कर सकें। यह सोचकर उसने ऐसे अनार्य देशों को जो उसे कर प्रदान करते थे और उसकी आधीनता स्वीकार करते थे, यह आदेश प्रदान कर सम्प्रति ने अपने राजपुरुषों को साधुओं के वेश में (साधुओं के साथ में) अनार्य के देश में (देशों में) भेजा और उन्होंने सम्प्रति के

प्रभाव से शीघ्र ही अनार्य देशों के लोगों को जैन धर्म का अनुयायी बना लिया। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने वर्धमान महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म अपना लिया था, सम्प्रति ने तो जैन धर्म के प्रसार के लिए सैनिकों का सहयोग प्राप्त करने में संकोच नहीं किया।⁷⁴

डॉ. ज्योतिप्रसाद भी सम्प्रति के बारे लिखते हैं—सम्राट सम्प्रति मौर्य ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं उसके प्रभाव के लिए ही कार्य किया ऐसा लगता है कि वह घोषित जैनाश्रयी सम्राट था, सम्राट सम्प्रति को इन्द्रपालित, संगत, विगताशोक (द्वितीय) के नाम से जाना जाता है। अशोक की मृत्यु के बाद 232 ई.पू. लगभग दो वर्ष तक युवा हो रहे सम्प्रति ने अपने पिता कुणाल के नाम से शासन का संचालन किया लेकिन शीघ्र ही प्रशासनिक क्षमता को दृढ़तर करने के लिए वह 231 ई.पू. में सम्राट अशोक का घोषित उत्तराधिकारी बन सम्राट सम्प्रति के नाम से जाना जाने लगा। सम्प्रति सम्राट अशोक की ‘देवानांप्रिय’ उपाधि को आगे बढ़ाते हुए उपाधिग्रहण कर अपने पितामह के नाम को आगे बढ़ाते हुए अपना नाम भी सम्मिलित किया।⁷⁵ अनेक शिलालेखीय साक्ष्य इसी नाम से मिलते हैं, जो सम्प्रति के काल में बनवाएँ गये थे।

सम्प्रति के राज्यकाल में मौर्य साम्राज्य की दो घोषित शाखा हो गयीं क्योंकि सम्राट अशोक का एक और पौत्र बंधु पालित दशरथ मगथ का शासक हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि वह नाम मात्र को ही सम्प्रति के अधीन था⁷⁶ दशरथ ने भी सम्प्रति की ही तरह जैन धर्म को राज्याश्रय दिया वह (जैन धर्म की एक शाखा) का विशेष भक्त था, दशरथ ने बराबर नामक पर्वत अनेक गुफाएँ बनवायी जिसमें उसके शिलालेख प्राप्त हुए हैं।⁷⁷ सम्प्रति के बारे में जैन साहित्य विशेषकर श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथों जैसे परिशिष्ट पर्व ‘सम्प्रति कथा’ आदि में सम्राट सम्प्रति के बारे में लिखा है इनकी कई रानियाँ और पुत्र-पुत्रियाँ थीं। बौद्ध अनुश्रुति में भी इस नरेश का उल्लेख मिलता है। अपने कुल धर्म को विश्व धर्म बनाने का सम्राट सम्प्रति ने अभूतपूर्व प्रयास किया। अनेक तीर्थों की वन्दना, जीर्णोद्धार, अनगिनत नवीन जैन मंदिरों का विभिन्न स्थानों पर निर्माण तथा प्रतिष्ठा, विदेशों में जैन धर्म के सम्प्रति अपने माता-पिता का दृढ़ संस्कारित पुत्र था उसके ऊपर पिता कुणाल एवं माता कंचनमाला दृढ़, भद्र एवं सांघ भाव का प्रभाव था। जैन संघ की मागधी शासक के नेता, आचार्य सुहास्ति उसके धार्मिक गुरु थे जिसका सम्प्रति पर विशेष प्रभाव था। प्रचारक भेजना, धर्मोत्सवों को मनाना। साम्राज्य भर में अहिंसा प्रधान जैनाचार का प्रसार करना। इत्यादि अनेक कार्यों का श्रेय इस सम्राट (सम्प्रति) को दिया जाता है।⁷⁸

प्रसिद्ध विद्वान एनीबिसेन्ट स्मिथ के अनुसार ‘उसने (सम्राट सम्प्रति) ने अरब और ईरान में भी जैन संस्कृति के केन्द्र स्थापित किए थे।’ डॉ. जयचंद विद्यालंकार भारतीय संस्कृति को विश्व पटल पर स्थापित कर उसे विश्व संस्कृति

के रूप में मान्यता दिलाने में अशोक और सम्प्रति दोनों का महान योगदान स्वीकारते हुये लिखते हैं—‘उत्तर पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय में जैन प्रचारक भेजे गये और वहाँ अनेक जैन साधुओं के विहार स्थापित किये गये। अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्य से भारतीय संस्कृति विश्वसंस्कृति बन गयी और आर्यवर्त का प्रभाव भारत की सीमाओं के बाहर तक पहुँच गया। अशोक की तरह उसके पोते ने भी अनेक इमारतें बनवायीं। राजपुताने की कई कलाकृतियाँ उसके समय की कहीं जाती हैं।⁷⁹ कर्नल टॉड के राजस्थान के सर्वे में ऐसे अनेक इमारतों के भग्नावशेष मिले हैं जो सम्प्रति द्वारा बनवाये गए मंदिरों के अनुमान किए गये। कमलमेर दुर्ग के निकट एक ऐसे ही प्राचीन जैन मंदिर के अवशेषों को देखकर कर्नल टॉड ने लिखा था भारत वर्ष के बहुत से देवार्चक और शैव लोगों की कारीगरी बहुल मंदिरावलि के साथ इस जैन मंदिर की तुलना करने से उसकी अधिक विभिन्नता एवं सरल गठन तथा अनाडम्बरत्व दृष्टिगत होते हैं। मंदिर की अत्यंत प्राचीनता उसमें कारीगरी की अल्पता से ही प्रकट है और इसी सूत्र से हम स्थिर कर सकते हैं कि जिस समय चन्द्रगुप्त के वंशधर सम्प्रति इस देश के सर्वोपरि राजा थे, उस समय का बना हुआ यह मंदिर है, किवदन्ती से ज्ञात होता है कि राजस्थान और सौराष्ट्र में जितने भी प्राचीन (जैन) मंदिर विद्यमान हैं, उन सबके निर्माता सम्प्रति हैं। यह मंदिर पर्वत के ऊपर बना हुआ है और पर्वत का पृष्ठ (भाग) ही इसकी भित्ति स्वरूप होने से यह काल के कराल दांतों से चूर-चूर न होकर अब तक खड़ा है। इसके पास ही जैनों का एक और पवित्र देवालय दिखाई देता है, किन्तु वह बिल्कुल दूसरी रीति से बनाया गया है।⁸⁰ जैन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट सम्प्रति का शासन काल पचास वर्ष रहा, तिब्बती विद्वान तारानाथ के अनुसार 54 वर्ष रहा।

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार अशोक एवं सम्प्रति को एक साथ श्रेष्ठ शासक निरूपित करते हुए सम्राट अशोक के समान्तर लाकर खड़ा कर देते हैं। वे सम्प्रति को जैन धर्म की प्रभावना में सहकारी मानते हैं। ‘विश्व के महान सर्वकालीन महान नरेशों की कोटि में इस प्रकार परिगणित यह भारतीय सम्राट चाहे वह अशोक हो या सम्प्रति अथवा दादा—पोते दोनों ही संयुक्त या समान रूप से हों, भारतीय इतिहास के गौरव हैं और रहेंगे। जैन धर्म के साथ उन दोनों का ही निकट एवं घनिष्ठ संबंध था। यदि हम सम्प्रति को जीवन भर जैन धर्म का परम उत्साही भक्त रहा पाते हैं तो अशोक को भी सर्वथा अजैन तो कह ही नहीं सकते।’⁸¹

सम्प्रति का पुत्र शालिशुक तथा मौर्य वंश:

महान सम्प्रति के बाद उसका पुत्र शालिशुक उज्जयनि में सम्प्रति का

उत्तराधिकारी बना, वह भी अपने पिता एवं अधिकांश पूर्वजों की तरह जैन धर्म का अनुयायी था, शालिशुक के पश्चात् वृषसेन, पुण्यधर्मन आदि अनेक राजाओं ने उज्जयिनी में मौर्यवंश का प्रतिनिधित्व किया लेकिन महान सम्प्रति के राजत्याग के साथ ही मौर्य वंश की राज्य परम्परा धीरे-धीरे समाप्त होने लगी और लगभग 164 ई.पू. में भारत की सर्वोत्कृष्ट 148 वर्ष प्राचीन परम्परा मौर्य वंश का अंत हो गया उधर पाटलिपुत्र में भी लगभग 184 ई.पू. वृहदृथ के सेनापति पुष्टिमित्र शुंग ने उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर वृहदृथ की हत्या कर दी।

इस प्रकार तक जैन धर्म का राज्याश्रय प्रदान करने वाली महान मौर्य परम्परा के इतिहास का पटाक्षेप हो गया इसके पश्चात् उत्तरावर्त (उ. भारत) में दि. जैन श्रमण संस्कृति इस विशाल रूप में पल्लवित और पुष्टित नहीं हो सकी लेकिन उसके आचरण सिद्धांतों की श्रेष्ठता के आगे आज तक कोई ठहर नहीं सका। लगभग सबके लिए जैन धर्म के सिद्धांतों को किसी न किसी रूप में अपनाना ही पड़ा, क्योंकि वह जन सामान्य के हृदय में बसी हुयी थी।

कट्टुरवाद का उदयः

श्रमण संस्कृति के प्राचीन श्रेष्ठ ऐतिहासिक अध्यायों का पटाक्षेप मौर्य वंश के समापन के साथ हो चला था। पुष्टिमित्र जो कि रक्त रंजित ब्राह्मण राजा था उसके शासनकाल में इतिहास के पन्नों में प्रथम बार पुष्टिमित्र के शासन काल में धार्मिक विद्वेष दृष्टव्य हुआ। पुष्टिमित्र शुंग एक क्रूर एवं द्वेष भावना से भरा हुआ शासक था इसकी राज्यारम्भ से लेकर मृत्यु पर्यंत तक रक्त पिपासा शान्त न हो सकी। विद्वानों का मत है कि पुष्टिमित्र शुंग ने रक्त से अपना राज्य प्रारंभ किया था तथा रक्त से ही उसे कायम रखा। उसके सभी कार्य और उपलब्धियाँ रक्त रंजित हैं⁸² इसी संदर्भ में भगवतशरण उपाध्याय पुष्टिमित्र शुंग के बारे में लिखा है 'ब्राह्मण' (पुष्टिमित्र शुंग) का इतिहास रक्त रंजित है⁸³ कहा जाता है कि इस ब्राह्मण शासक ने ब्राह्मण धर्म के वित्तुस वैभव को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया जिससे यह स्पष्ट होता है कि मौर्यकाल में ब्राह्मणों के द्वारा किये जाने यज्ञ आदि का अभाव हो गया था जैसा कि सम्राट् अशोक के शिलालेख तथा अन्य विद्वानों के कथनों से स्पष्ट होता है।

इसके शासनकाल में यज्ञ हवन आदि क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया और स्वयं पुष्टिमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया इसके शासनकाल में हिन्दू धर्म का प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ मनुस्मृति की रचना की जिसमें विवाह को मरणोपरांत चलने वाली संस्था कहा गया। इस काल में विवाह आदि सामाजिक बंधन कड़े कर दिये गये। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति जटिल और संकीर्ण हो चली थी⁸⁴ बौद्ध ग्रंथ आर्य मंजु श्रीकल्प और दिव्यावदान में पुष्टिमित्र शुंग को बौद्ध धर्म पर अत्याचार करने वाला बताया है इन ग्रंथों में पुष्टिमित्र शुंग के बारे में लिखा है कि पुष्टिमित्र (शुंग) के

शासनकाल में शाकल में बौद्ध विहारों को नष्ट किया गया था और एक भिक्षु के सिर के लिए सोने के सौ सिक्के देने की घोषणा की गयी थी⁸⁵ सम्भवतः यह धार्मिक विद्वेष की पराकाष्ठा थी। यद्यपि कुछ विद्वान इन दोषों को प्रमाणिक नहीं मानते⁸⁶

पाणिनी की अष्टाध्यायी ग्रंथ पर पतंजलि द्वारा महाभाष्य नाम की टीका इसके ही काल में लिखी गयी तथा विदिशा के निकट वेसनगर में हेलियोडोरस द्वारा गर्लूड स्तम्भ इसी शासक के काल में निर्मित हुआ। पुष्टिमित्र शुंग में धार्मिक कटूरता कूट-कूटकर भरी थी, उसने वैदिक धर्म को राजधर्म घोषित किया तथा पाली के स्थान पर संस्कृत को राज भाषा का दर्जा प्रदान किया⁸⁷ इस राजा ने धार्मिक कटूरता के बीजों का पौधा रोपण किया उससे सम्भवतः पूर्व से चले आ रहे स्वेह के बंधन समाप्त हो गये और भारत में बौद्ध, जैन, ब्राह्मण धर्म के लोगों में विद्वेष और वर्चस्व के बीजों का अंकुरण हो गया जिसने देश में प्रचलित सामाजिक संस्कृति को गौण कर दिया⁸⁸ फलस्वरूप सुख शान्ति के प्रदाता मानव कल्याण, जीवकल्याण, करने वाले धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक वर्चस्व के लिये अनेक प्रकार के हथकण्डे अपनाने लगे, फलस्वरूप समरसता धर्म के मूल सिद्धांतों का ह्लास होने लगा।

पुष्टिमित्र शुंग की मृत्यु के पश्चात् ई.पू. 148 में उसके पुत्र अग्नि मित्र ने शुंगवंश के शासन का संचालन किया, पश्चात् सुमित्र, आंध्रक, पुलिण्डक, घोष, वज्रमित्र, भाग तथा देवभूति ने राज्य सम्भाला तथा देवभूति की हत्या उसके मंत्री देवभूति कण्ड ने कण्डवंश की नीव डाली। इस प्रकार लगभग 184 ई.पू. से 072 ई.पू. तक शुंग वंश का शासन चला। कण्डवंश ने लगभग 45 वर्ष शासन किया। इस काल में पंजाब में युनानियों ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली। पंजाब सिन्धु के मालव और आग्रेयगण वहाँ से विस्थापित होकर राजस्थान होते हुए उज्जयिनी प्रदेश में जम गये और यह प्रदेश मालवा कहलाने लगा।

संदर्भ सूची :

01. जैन शिलालेख सं. भाग 1 भूमिका पृ. 68-69 एवं जैनसाहित्य का इतिहास पृ. 186
02. जैनसाहित्य का इतिहास पृ. 186
03. जैनसाहित्य का इतिहास पृ. 187
04. मौर्य साम्राज्य का इतिहास भूमिका पृ. 187
05. जैन तीर्थ का इतिहास कला एवं संस्कृति
06. जैनसाहित्य का इतिहास पृ. 187

07. भारतीय इतिहास भाग 2 पृ. 558
08. जर्नल ऑफ विहार रिसर्च सोसायटी भाग 3 पृ. 236 एवं जैनसाहित्य का इतिहास पृ. 190
09. तिलोयपण्णति अध्याय 4.1476–1484
10. जैनसाहित्य का इतिहास पृ. 180
11. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 74
12. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 74
13. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 75
14. प्रमुख ऐतिहासिक जैन महापुरुष पृ. 35
15. प्रमुख ऐतिहासिक जैन महापुरुष पृ. 35
16. प्रमुख ऐतिहासिक जैन महापुरुष पृ. 36
17. प्रमुख ऐतिहासिक जैन महापुरुष पृ. 37
18. प्रमुख ऐतिहासिक जैन महापुरुष पृ. 43
19. प्रमुख ऐतिहासिक जैन महापुरुष पृ. 43
20. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 120–121
21. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 44
22. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 78
23. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 75
24. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
25. Indian historial Quatiraly voll 8 पृ. 335
26. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 79
27. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 79
28. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 81
30. प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 92
31. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 14
32. प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 92
33. प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 93
34. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 46
35. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 82
36. प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 94
37. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 81
38. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 81
39. प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 91
40. दिव्यावदान
41. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 76
42. तत्त्वार्थ सूत्र 5.21
43. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 46
44. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 76
45. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974 पृ. 2.20
46. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974 पृ. 2.20
47. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974 पृ. 2.10
48. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974 पृ. 2.20
49. प्राचीन जैन इतिहास संग्रह भाग 2 पृ. 24
50. अशोका पृ. 46
51. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
52. प्राचीन जैन इतिहास संग्रह भाग 2 पृ. 11
53. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
54. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
55. एशियाटिक सोसायटी जर्नल वोल्यून पृ. 119
56. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
57. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
58. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
59. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
60. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
61. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
62. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
63. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
64. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
65. जैनत्व की गौरव गाथा पृ. 6
66. Jain Antiuary Voll VI पृ. -9
67. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974
68. Jain Antiuary Voll VI पृ. -9
69. Traditional history of india पृ. -188
70. Ashoka पृ. 221
71. जैनत्व की गौरव गाथा पृ. 6
72. जैनत्व की गौरव गाथा पृ. 6

- 73. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 49
- 74. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन
- 75. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 84
- 76. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 84
- 77. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 83
- 78. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 84
- 79. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 84
- 80. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 52
- 81. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन
- 82. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 144
- 83. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 144
- 84. नवबोध इतिहास पृ. 71
- 85. नवबोध इतिहास पृ. 71
- 86. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 146
- 87. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 146
- 88. शिवलाल हायर सेकेंड्री इतिहास पृ. 146

कलिंग के इतिहास का अवलोकन

खारबेल जैसे विराट व्यक्तित्व के धनी महान देश भक्त भारतीय संस्कृति को गौरान्वित करने वाले मूल भारतीय संस्कृति का संरक्षण करने वाले एवं प्रस्तोता सभी धर्मों का आदर करने वाले अतिप्राचीन शिलालेख में णामोकार मंत्र के पदों का लेखन, भारत शब्द का लेखन करने वाले मौर्य वंश के बाद लगभग सम्पूर्ण भारत पर एक छत्र राज्य करने वाले, दक्षिण भारत में, जैन संस्कृति का सम्मेलन करने वाले, महान पुरुष का इतिहास में उनसे पराजित पुष्ट्यमित्र शुंग जैसे राजा से कम महत्व दिया गया है। कलिंग में विशाल जिनालयों का निर्माण करवाने वाले खारबेल को विशेष महत्व नहीं दिया जाना ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से दुर्भाग्यपूर्ण है तथा यह और अधिक दुर्भाग्यपूर्ण है कि घूसी जैसी वीरांगना का हमारे इतिहास में सम्मान जनक उल्लेख ही नहीं प्राप्त होता। खारबेल की पत्नी घूसी ज्ञात इतिहास में सर्वप्रथम ऐसी वीरांगना थी जिसके नेतृत्व में हुये युद्ध में वेक्षित्र्या के यवन सम्राट महान वीर योद्धा दिमित्र को न केवल पराजय का सामना करना पड़ा बल्कि उसके राज्य का एक हिस्सा ‘बिजिर’ को छोड़ना पड़ा।

वंशधरा नदी के किनारे से लेकर दक्षिण में गोदावरी नदी तक के समस्त देश दक्षिण या मुख्य कलिंग कहलाते थे और कलिंग पतन या कलिंग पाटणापुरी इसकी राजधानी थी। उत्तरकलिंग या उत्कलदेश ऋषिकुल और धौली के मध्यवर्ती स्थान एक परस्तर या हौसली थी। मध्य विभाग को मध्य कलिंग या कलिंग देश कहा जाता था। इतिहास में यह भूखण्ड कलिंग या कलिंग के नाम से परिचित होता था।¹

इतिहास में इस क्षेत्र में उड़ जाति निवास करती थी, उड़ लोग आर्य थे लेकिन जब वे कलिंग देशीय आदिवासी अनार्यों के साथ दक्षिणी द्रविड़ लोगों के साथ मिल गये तो आर्य लोगों की दृष्टि में पतित हो गये। इसी से मनुस्मृति में उड़ लोगों को पतित क्षत्रिय (यज्ञ आदि क्रिया से विमुख होने के कारण) लिखा है।² आर्यों के कलिंग में प्रवेश के कारण स्वाभिमानी अनार्य लोग अपने आवास छोड़कर बनों की ओर चले गये तथा कुछ लोग आर्यों की सेवा में लग गए तथा उनका धर्म पालन भी करने लगे। इन लोगों ने आर्यों के साथ रहकर आर्य सभ्यता सीखी हिन्दुओं के देवी देवताओं में इनका विश्वास है और इन लोगों का सामाजिक तथा पारिवारिक

जीवन हिन्दू आदर्श में ही ढला है, पौरहित्य प्रथा (पंडित गिरी) भी इन लोगों में पाई जाती है। 'पाण कण्डहरा' प्रभृति जातीय लोग स्वजातीय वैष्णवों के द्वारा पौरोहित कार्य चलाते हैं,³ साताल कंध भुय्या प्रभृति कितनी जाति के लोग खेती करते हैं, हिन्दू देवी देवताओं में इन लोगों की बहुत कम भक्ति है,⁴ ये लोग बड़े सत्यनिष्ठ हैं। पाप और मिथ्या को को तो ये बिल्कुल सहन नहीं सकते। किन्तु अब वर्तमान सभ्यता के प्रवाह में आकर कितने लोग झूठ बोलना भी सीख चुके हैं, इन लोगों का समाज बंधन बहुत कठिन है। उड़ लोगों के बहुत काल इस देश में निवास करने के अनन्तर फिर और कुछ आर्य लोग वहाँ (कलिंग में) आये और निवास करने लगे, यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि ये लोग किस समय के लगभग आये। अनन्तर अशोक के विजय के साथ-साथ उत्तर देश से बहुत से आर्य इस देश में आये और बौद्ध प्रचारक स्वमत का प्रचार भी इस देश में आकर उड़ द्राविड़ और अनार्यों के साथ रहने से अपना आचार व्यवहार इतना शुद्ध न रख सके। उत्कल या कलिंग देश में प्रथम आर्य बस्ती उड़ जातीय लोगों के द्वारा ही प्रारम्भ है, उड़ जाति को मनुसंहिता में पतित क्षत्रिय कहागया है और इनकी समानता पौण्ड्र तथा द्रविड जातियों से की गयी है। रामायण में उड़, कलिंग और उत्कल ये तीन नाम पाये जाते हैं⁵ इससे यह स्पष्ट होता है कि वाल्मीकी के काल में प्राचीन कलिंग के दो नाम और थे।

कलिंग पर एक विशेष वंश ने ही (द्वितीय राजवंश) लम्बे समय, लगभग 700 वर्षों तक शासन किया, इस द्वितीय राजवंश कौन-कौन राजा हुए थे। और उन लोगों ने क्या-क्या काम किया था? इसका पता अब तक न चल सका है। ऐरे वंशीय राजा लोग आर्य थे, मौर्य राजाओं के आधिपत्य विस्तार के पूर्व वे लोग स्वतंत्रता के साथ कलिंग में राज्य करते थे। इन लोगों को वेद धर्म विनाशक (अर्थात् वेदधर्म के विरोधी) थे। मौर्य आधिपत्य का विस्तार होने के पहले कलिंग में बौद्ध धर्म का प्रवेश नहीं हुआ था इससे वे वेद धर्म विरोधी राजा लोग जैन थे यह अनुमान होता है, इन राजाओं के राजत्वकाल में उत्कल देश में जैन धर्म का प्रचार विशेषता के साथ हुआ था। तोपाली भी उन लोगों की राजधानी रही थी⁶

ऐरे उपाधि ग्रहण करने वाले कलिंग राजवंश में एक नया राजवंश शामिल हो गया वह चैत्र या चेदिवंश। सम्राट अशोक की प्रसिद्ध कलिंग विजय के पश्चात् ऐरे वंश के लोगों ने अशोक की आधीनता स्वीकार नहीं की, वे कलिंग को त्यागकर कौशल की ओर चले गये और वहीं पर वास करने लगे। सम्राट अशोक की मृत्यु के बाद जब मौर्य साम्राज्य कमजोर होने लगा और सम्प्रति इतने विशाल साम्राज्य को सम्भालने में समर्थ न रह सके तो अशोक की मृत्यु के 16 वर्ष पश्चात् चेदिवंश के राजा ने कौशल से कलिंग आकर कलिंग को स्वाधीन राज्य में परिणत किया। चेदिवंश के कलिंगाधिपति ने अपनी राजधानी खण्डगिरि के पास 'एक प्रस्तर'

अथवा तोषाली को बनाया। मौर्य साम्राज्य के समय भी कलिंग की सम्भवतः यही राजधानी थी, चन्द्रगुप्त के ग्रीक राजदूत मेगेस्थनीज ने उसी को पार्थली नाम दिया है। हाथी गुफा में इसको पृथकपुरी नामी अंकित किया गया है।⁷

चेदिवंशी राजा के कलिंगाधिपति बनने पर अब कौशल और कलिंग अलग-अलग न रहकर दोनों कलिंग नाम से जाने लगे। यही कारण है खारवेल विजय यात्रा में कौशल का नाम नहीं आया बल्कि कौशल के पश्चिम में मूर्पिक राज्य का खारवेल द्वारा विजित होना वर्णन है। नाट्यशास्त्र में कौशलवासी तो पालीवासी तथा मूर्पिक देशवासी लोगों को कलिंग का निवासी होना लिखा है।

चैत्रवंशीय (चेदिवंश के) राजा लोग जैन धर्मावलम्बी थे और बड़े धार्मिक राजा थे, इसी कारण से वे लोग राजर्षि उपाधि से भूषित किये गये थे। इस वंश में 9 राजा हो गये हैं ये राजा लोग मेधवाहन/महामेधवाहन की उपाधि भी धारण करते थे।⁸

चैत्रवंशीय राजाओं में खारवेल सबसे श्रेष्ठ और पराक्रमी राजा थे, वंश परम्परा अनुसार खारवेल भी 'ऐर महामेध वाहन' की उपाधि से भूषित हुए। 197 ई.पू. में (वारवेल का जन्म हुआ था) खारवेल के पिता शरीर के कारण राज्य संचालन में समर्थ न होने के कारण इनको 15 वर्ष की अवस्था में ही (ई.पू. 182 में) युवराज पद प्राप्त हो गया था। ई.पू. 173 में वे पिता के देहान्त के पश्चात् वह अपनी वय के 24 वे वर्ष में सिंहासन पर आरूढ़ हुए।

जिस वर्ष खारवेल ने राज्यभार ग्रहण किया उसी वर्ष प्रचण्ड तूफान आने से राजधानी तोषाली की बाहरी दीवाले तथा दरवाजे टूट गए जिसे खारवेल ने पुनः मजबूती के साथ तैयार करवाए। खारवेल ने प्रथम वर्ष में राजधानी को मजबूती प्रदान कर शेष राज्यावस्था के वर्ष (लगभग 12 वर्ष) विजय श्री वरण करने में ही लगा दिये। और अन्त के वर्षों में धम्मराजा और भिक्षु राजा के लाहाड़ी नाम से विख्यात हुए।

खारवेल ने मूर्पिक देश (लाहाड़ी, सम्बल आदि क्षेत्र) पर विजय प्राप्त करने के साथ ही आन्ध्र राजा (वर्तमान आन्ध्रप्रदेश) सातकर्णि पर भी विजय प्राप्त की। चतुर्थ वर्ष में ई.पू. 169 राष्ट्रिक और भोजक (वर्तमान में महाराष्ट्र और बरार) राज्यों पर आक्रमण कर दोनों राज्यों पर विजय प्राप्त कर राज्य पुनः उन्हीं राजाओं को सौंपकर भोजक और राष्ट्रिक राज्यों को अपने अधीन कर लिया। दक्षिण में पाण्ड्य देश को विजित कर समुद्र के रास्ते जावा, वाली आदि द्वीपों पर पहुँचे तथा कलिंग, उत्कल, उड़, पाण्ड्य आदि सेना के साथ पश्चिम उत्तर में सिन्धुदेश की ओर बढ़े।

उस वक्त अफगानिस्तान का पूर्व प्रदेश 'विजिर' तथा जिसकी राजधानी सिंहपथ थी, विलोचिस्तान का पूर्व प्रदेश 'पुर' नाम से प्रसिद्ध था विजिर राज्य उस

समय सिन्धु देश के पश्चिम में आता था।¹¹ ‘सिन्धु देश के नगर पानाल (पटल) के पश्चिम में एक प्राचीन निवासी देश था इस देश के द्राविड़ कृषि आदि करते थे, लेकिन आयों के आगमन और उनके बस जाने के कारण द्राविड़ जाति के लोग आयों की रीत नीति अनुसार कार्य करने लगे थे।¹² उक्त कृषक देश का राजा जिसे ग्रामीण कहा जाता था, विजिर देश के राजा का परम मित्र था। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापति (सेल्यूक्स) ने अफगानिस्तान और फारस के कुछ अंशों को मिलाकर वेक्ट्रिया नामक राज्य की स्थापना की, खारवेल के समय में वेक्ट्रिया का शासक डेमिट्रियस (दिमित्र) था, उसने विजिर राज्य पर अधिकार कर लिया जिससे वहाँ के राजा और युवराज, विजिर की राजधानी छोड़कर अन्य किसी राज्य के आश्रय में चले गये तथा राजकुमारी धूसी का लालन पालन का जिम्मा विजिर राजा के परम मित्र (ग्रामीण) ने ले लिया। खारवेल ने इसी कृषक राजा के सहयोग तथा परमवीरांगना राजकुमारी धूसी के सेनापतित्व में युद्ध किया लेकिन दिमित्र की कूटनीतिज्ञ युद्ध नीति में खारवेल गंभीर रूप से घायल हो गए, वीरांगना धूसी की चतुराई से न केवल खारवेल ने विजिर पर विजय प्राप्त की बल्कि खारवेल को वापिस लाकर भारी सुश्रुषा कर एक प्रकार से प्राणदान दिया पश्चात् खारवेल राजकुमारी धूसी के साहसपूर्ण कार्य को देखकर प्रेमासक्त हुए और उससे अपना विवाह कर विजिरदेश को धूसी के पिता को सौंपकर खारवेल राजधानी (कलिंग) की ओर लौटे।¹³

दक्षिण और पश्चिम के सफल विजय अभियान पश्चात् खारवेल ने कलिंग में विश्राम किया, इसी बीच उन्हें मगध राजा द्वारा कलिंग पर आक्रमण कर कलिंगजिन की मूर्ति सहित अन्य वैभवशाली सम्पदा को मगध ले जाकर उसे मगध में स्थापित कर लिया था। खारवेल को अपनी वैभवशाली सम्पदा कलिंगजिन की मूर्ति को वापिस लाकर कलिंग के पुरावैभव का विस्तार करने का विचार आया। फलस्वरूप खारवेल ने महापराक्रमी मगधराज पर आक्रमण करने का मन बना लिया।

पुराणक गंगाधर समन्त शर्मा ‘प्राचीन कलिंग या खारवेल’ में लिखते हैं – ‘नन्दराजा ने कलिंग में अधिकार जमा लेने पर ऋषभदेव की मूर्ति (कलिंगजिन की मूर्ति) तथा अन्य अन्य कितनी जैन मर्तियों को खण्डगिरि से अपनी राजधानी में ले गये थे, राजा खारवेल जैन थे इसलिये उनने उन मूर्तियों को फिर से वापिस लाकर खण्डगिरि में यथा स्थापन करने का विचार किया। अपने राजस्व के अष्टम वर्ष में यानि सन् ई.पू. 165 में खारवेल मगध की ओर (युद्ध हेतु) रवाना हुआ।’¹⁴

आगे वे मगध सम्राट के बारे में लिखते हैं ‘उस समय पाटलीपुत्र में पुष्टि मित्र या बृहस्पति मित्र मगध साम्राज्य के सम्राट थे, उस समय मगध साम्राज्य विपुल

बलशाली था फिर उसमें पुष्टिमित्र सरीखे पराक्रमी योद्धा सम्राट थे, जिनने अश्वमेध यज्ञ कर समग्र आर्यवर्त में अपने को चक्रवर्ती राजा बनाया था। इस प्रकार एक प्रतापी सम्राट से युद्ध करना कोई सहज काम न था। किन्तु खारवेल एक साहसी राजा थे, जैसे ही पुष्टिमित्र ने सुना कि खारवेल ने गौरगिरि दुर्ग को धेर लिया है वे पाटलीपुत्र छोड़ मथुरा में युद्ध सज्जा कर मथुरा में उनकी राह देखने लगे किन्तु खारवेल इस वक्त गौरगिरि से ही वापिस कलिंग चले आये।

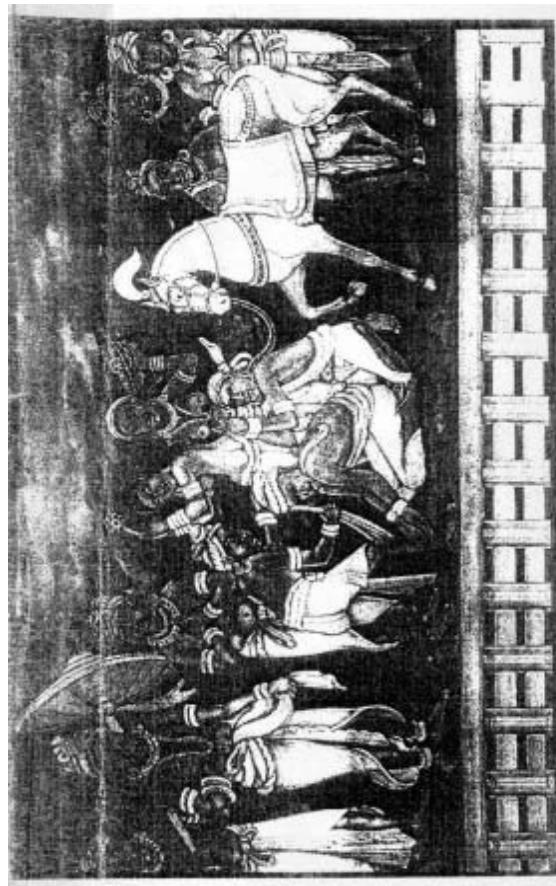
राजा खारवेल भारत में एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा बनाना चाहता था किन्तु मगध सम्राट पुष्टिमित्र को जीते बिना अपनी इस इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकते थे। इसी उद्देश्य से खारवेल ने एक मर्तवा फिर भारी सैन्य संगठन की तैयारी कर राजत्व के द्वादशवे वर्ष में (ई.पू. 161) मगध से युद्ध करने चले। खारवेल सीधा मगध न जाकर उसने उत्तरापथ राज्यों पर धावा किया और उत्तर पश्चिमी सीमान्त राज्य को जीता वे उन राज्यों को जीतते गये तथा मध्य भारत होते हुए पंजाब तक अग्रसर हुए। उत्तरापथ के किसी भी राजा ने इनका सामना नहीं किया और वे समस्त देशों को अपने अधीन करते रहे। अब खारवेल के पास मगध विजय हेतु दो कारण हो गए प्रथम तो कलिंग के पुरावैभव सम्पदा को मगध से वापिस लाकर अपने देश में प्रतिष्ठापित करना और दूसरा स्वयं को चक्रवर्ती सम्राट घोषित करना लेकिन मगध इतना सम्पन्न और विपुल साम्राज्य था कि उस पर युद्ध करना तो दूर, कोई उस पर आक्रमण करने की सोच भी नहीं सकता था। खारवेल दृढ़ निश्चयी और साहसी थे, उन्होंने अपनी युद्ध नीति के कारण एक भी युद्ध नहीं हारा था अतः वे मगध विजय हेतु निकल पड़े।

खारवेल महानदी के किनारे चलकर समस्त उत्तरापथ को विजय करने हेतु आगे बढ़े तो बैक्ट्रिया का राजा दिमित्र मगध पर आक्रमण हेतु मथुरा तक आ पहुंचा जैसे ही दिमित्र ने खारवेल के आगे बढ़ने का समाचार सुना तो वह अपनी पुरानी पराजय को यादकर पुनः बैक्ट्रिया वापिस हो गया। इसी प्रकार खारवेल ने एक साथ दो काम कर लिए एक तो यवन राजा दिमित्र को बैक्ट्रिया तक खदेड़ दिया दूसरे उत्तरापथ के समस्त राजाओं ने बिना युद्ध किये खारवेल की आधीनता स्वीकार कर ली।

अब खारवेल पंजाब से हिमालय के नीचे-नीचे मगध राज्य के पाटलीपुत्र के निकट गौरखगिरि तक पहुंच गए। कलिंग की सेना और मगध की सेना के बीच भयंकर युद्ध हुआ। इस महायुद्ध में मगध के राजा पुष्टिमित्र को पराजय का सामना करना पड़ा भयंकर युद्ध की गर्जना और खारवेल की सैन्य शक्ति से मगध की प्रजा व्याकुल हो गयी, वह पाटलीपुत्र छोड़कर भागने लगी। खारवेल द्वारा प्रजा को आश्वस्त करने पर प्रजा ने संतोष की सांस ली। खारवेल अपने कलिंग वैभव



126 :: भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान



Surrender of Brhaspati Mitra-The King of Magadha pays obeisance at the feet of Maharaja Sri Kharavela on his 12th Reginal year

निकट्य सं. ५२ - वीर पराक्रमी समाट खारवेल की विजय यात्राओं के क्रम में पाण्डुघनेश उत्तम से अंतिकृत होकर अपनी पाण्डय स्थीकार कर अमृत्यु रक्षात् आदि के साथ खारवेल के शाष्य-शृणु छर तोवकलत्व स्थीकार करता हुआ

भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान:: 127

‘कलिंग जिन’ की मूर्ति सहित अन्य वैभव जो नंदराजा नंदिवर्धन तीन सौ वर्ष पहले ले गया था, खारवेल ने प्राप्त किया तथा मगध की वैभवशाली सम्पदा, माणिक्य रत्न आदि को लेकर पुष्टिमित्र को परास्त कर कलिंग वापिस आ गया। अपने लम्बे युद्ध यात्रा को विराम देने के भाव से कलिंग में विशाल उत्सव करने का मन बनाया। इसी समय पाण्ड्य नरेश (दक्षिणी राज्य) ने खारवेल की आधीनता स्वीकार कर मूल्यवान रत्न, अश्व, हाथी, सैनिक आदि का उपहार दिया। अपनी विजय श्री को चिरस्थायी बनाने हेतु उन्होंने विशाल गोपुर, सभामण्डप उच्च शिखरवाले मंदिर बनवाये तथा इनमें मगध आदि देशों से प्राप्त बहुमूल्य रत्न आदि को खचित करवाया।

खारवेल के अदम्य उत्साह, बल तथा साहसको देखकर ही उनकी तुलना नेपोलियन बोनापार्टसे की जाती है,¹⁵ इस तरह उत्तर और दक्षिण के समस्त राजा लोग खारवेल को अपना चक्रवर्ती राजा मानने लगे।

कलिंग, कलिंगजिन और खारवेल:

शुंगवंश के पूर्व से ही मौर्यवंश और नंदवंश के काल से कलिंग राज्य में चेत्र वंश के वंशज जो कि प्रारंभ से ही जैन धर्मावलंबी थे, अपनी सत्ता स्थापित किये थे कभी वह मगध राज्य के अधीन हुआ कभी स्वतंत्र राष्ट्र घोषित हुआ। नंद वंश के राजाओं ने इसे अधीनस्थ किया पश्चात् मौर्य साम्राज्य के जनक चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् कलिंग मगध से स्वतंत्र हो गया। फलस्वरूप अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त हेतु आक्रमण किया। अशोक की कलिंग विजय उसके जीवन का टर्निंग प्वाइंट बन गयी अशोक के पश्चात् कलिंग पुनः स्वतंत्र हो गया और अपनी हार का बदला लेने तथा अपनी प्रसिद्ध धरोहर ‘कलिंग जिन’ की प्रतिमा वापिस लेने पुनः छटपटाहट हुई लेकिन इसीकाल में बेकिट्रया का शासक दिमित्र अपनी सत्ता का विस्तार करते हुये भारत में प्रवेश कर गया और मथुरा तथा पाँचाल के सहयोग से वह मगध के किनारे तक पहुँच गया लेकिन कलिंग के राजा खारवेल की सेना के वर्चस्व से वह न केवल पीछे हट गया बल्कि पंजाब के क्षेत्र तक उसे वापिस जाना पड़ा पश्चात् उसने सागल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया।

कलिंग में चेतिवंश की स्थापना चेतिराज के पुत्र या पौत्र क्षेमराज ने की जिसने अशोक की कलिंग विजय के पश्चात् सम्प्रति के काल में ही कलिंग को स्वतंत्र कर लिया था। क्षेमराज के पुत्र वादिराज और वादिराज के पुत्र वृद्धिराज का पुत्र भिक्षुराज खारवेल का जन्म 190 ई.पू. में हुआ। पिता की मृत्यु के पश्चात् 15 वर्ष की उम्र में युवराज का पद तथा 24 वर्ष की आयु में राज्य सिंहासन आरूढ़ हुआ। खारवेल के राज्यकाल के तेरह-चौदह वर्ष का वर्णन उड़ीसा में पुरी के निकट हाथी गुफा नामक स्थान पर स्वयं खारवेल ने अंकित करवाया था।

कलिंग देश के निवासी पार्श्वनाथ के काल से ही दिग्म्बर जैन श्रमण

संस्कृति के अनुयायी माने जाते हैं, सम्भवतया यही कारण है कि बौधायन सूत्र, महाभारत, आदित्यपुराण आदि ब्राह्मणीय ग्रंथों में कलिंग देश को अनार्य देश कहा है वहाँ के निवासियों को वेद बाह्य, यज्ञविरोधी एवं धर्मकर्म विहीन कहा है तथा आर्य देश के द्विजों को उस देश में जाने का निषेध किया है और यदि वहाँ गये तो उन्हें धर्म भ्रष्ट, जातिच्युत एवं पतित हो जाने का भय दिखाया है इसके विपरीत जैन साहित्य में कलिंग की 25 1/2 आर्य देशों में गणना की गयी तथा उसे धर्म क्षेत्र सूचित किया गया है।

कलिंगाधिपति खारवेल के पूर्वजों ने उनके शासनकाल की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थिति का ज्ञान सर्वाधिक हाथी गुप्त के लेख से ही प्राप्त होता है, जिसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. के.पी. जायसवाल लिखते हैं – ‘यह शिलालेख उदयगिरि, खण्डगिरि की ग्रेनाइट की लंबी पाषाण शिला पर 17 पंक्तियों में उल्लिखित है।’

इसा के पूर्व की सदियों से भारतीय इतिहास में उपलब्ध साधनों में प्रस्तुत शिलालेख (खारवेल शिलालेख) का स्थान बहुत उच्च है, प्राचीनता में अशोक के बाद यह दूसरा लेख है, पहला नानाघाट का वेदि श्री का लेख है पर मौर्य काल से पहले के जितने लेख मिले हैं, उन सब में यह लेख ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, यह पुराणों के उल्लेखों का समर्थन करता है और राजवंश के क्रम को ईसापूर्व 450 वर्ष तक ले जाता है उससे यह सिद्ध होता है कि उड़ीसा में जैन धर्म वहाँ का राष्ट्रीय धर्म बन गया। वह ईसा पूर्व 450 में बिहार और उड़ीसा के एकत्व का सर्वप्राचीन प्रमाण है, सामाजिक इतिहास में उससे हमें सबसे भारी यह बात विदित होती है कि ईसा पूर्व 172 के लगभग उड़ीसा की जनसंख्या 35 लाख थी।

डॉ. रेप्सन के अनुसार ‘यह तो निश्चित हो गया कि इस शिलालेख ने अंधकार युगीन भारत को प्रकाश युगीन तो बना ही दिया।’¹⁸ इस शिलालेख के बारे में डॉ. राजाराम ने अपनी पुस्तक ‘जैन साहित्य’ में पं. भगवानलाल इन्द्र का उल्लेख करते हुए लिखा कि ‘पं. भगवानलाल इन्द्र जी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने उक्त शिलालेख में जैन सिद्धान्त की पारिभाषिक शब्दावलियों का अध्ययन कर यह सर्वप्रथम घोषित किया था कि खारवेल श्रावक शिरोमणि जैन चक्रवर्तीं सम्प्राट था। विचार कीजिये कि 17 पंक्ति वाले प्राकृत-भाषात्मक, ब्राह्मी लिपि वाले उक्त शिलालेख का प्रारम्भ हुआ है तथा जिसमें जैन संस्कृति के 4 प्रतीक चिह्नों का लेखांकन किया गया है, उसके अध्ययन एवं विश्लेषण में देश विदेश के समर्पित भाव से शोधकार्य करने वाले दर्जनों पुराविदों को लगभग 200 वर्ष लग गये।’¹⁹ डॉ. आर.डी. बनर्जी ने इस शिलालेख को ‘प्राच्य भारतीय इतिहास के लेखन के लिए

प्रथम छोर कहा है।²⁰

डॉ. राजाराम इस शिलालेख का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं इस शिलालेख में सप्ताट के 13 वर्ष के शासनकाल का क्रमानुसार वर्णन किया गया है, (वह) आत्म प्रशंसात्मक न हो कर ऐतिहासिक तथ्यों का सूचक होने के कारण विश्व के अद्यावधि उपलब्ध शिलालेखों में उसे विशेष महत्वपूर्ण शिलालेख माना गया है। इसमें नंद एवं मौर्यवंश के उल्लेख डिमिट्री (दिमित्र) नामक यवन शत्रु को पराजित कर सीमान्त पार तक खदेड़ने की घटना का उल्लेख तथा भारतवर्ष (शब्द का ऐतिहासिक साक्ष्य) उल्लेखित होने और द्वादशांग वाणी की वाचना के आयोजन की सूचनाएँ उल्लिखित हैं। वे आगे लिखते हैं—कहने को तो यह शिलालेख 17 पंक्तियों में उत्कीर्ण हैं, किन्तु उसमें इतिहास, संस्कृति, लोक जीवन, श्रमण संस्कृति, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों और प्राचीन बोलचाल की भाषा के अनेक जीवंत साक्ष्य छिपे हैं। उसमें उपलब्ध चौयठि, पलवभार, कपरूख, रठिक, असिक, मुसिक भोजक, नन्द मोरिय, दिमित, गोरगिरि, बहसतिमित, अगणिठिया, किमिच्छकदाणविधि, महामद आदि नाम वाची विशिष्ट संज्ञाएँ एवं विशेषण उपलब्ध हैं जो समकालीन एवं ईसा पूर्व चौथी, तीसरी सदी के भारतीय इतिहास एवं श्रमण संस्कृति के ऐतिहासिक साक्ष्यों को प्रकाशित करते हैं।²¹

डॉ. कामता प्रसाद इस शिलालेख का मूल्यांकन करते हुए खारवेल के व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

Kharavela was a born Hero, a brave soldier, an accomplished General, a prudent statesman and an ideal ruler. He was also a great builder and a true man of Piety, there is no trace of desposition in his biography he was the king who emancipated India from Greek aggression at the time and brought joy to the heart of that phase also and realized the bhola vijanam the seed of true bliss and immortality. the doctrine of Jaina – Non – Violence was glorified by the noble deeds of this Jina – Monash.²²

जीवन के लगभग 18 वर्ष पूर्व से प्रारम्भ किया गया लेख उड़ीसा प्रदेश के पुरी नाम के स्थान पर उदयगिरि खंडगिरि की पहाड़ियों पर नैसर्गिक रूप से बनी हाथी गुफा के ऊपरी तल पर ग्रेनाइट पाषाणखंड पर ब्राह्मी लिपि में सत्रह पंक्तियों में लिखा गया। यह हेलियोडरस, वेसनगर (विदिशा) के गरुण स्तम्भ लेख की परवर्ती लिपि है। ब्राह्मी लिपि के जो सात चरण बताए हैं उनमें से पाँच चरण का प्रतिनिधित्व वेस नगर गरुण स्तम्भ लेख नागनिका के नानाघाट अभिलेख, घनभूति के भारहुत अभिलेख से होता है। छठवें चरण का प्रतिनिधित्व हाथी गुफा अभिलेख करता है।²³ इस लेख का प्रारम्भ जैन धर्म के प्राण महामंत्र णमोकार मंत्र से किया गया है, इसमें जैन धर्म के प्रतीक चिह्न स्वास्तिक नन्दावर्त, अशोक वृक्ष, मुकुट

उल्लेखित किये गये हैं।

लेख का भाव इस प्रकार है, प्रथम पंक्ति मंगल प्रतीकों से युक्त है।²⁴ जैन धर्म के सर्वोक्लप्त शब्द ‘णमो अरहंताण णमो सवसिद्धाणं लिखकर महाराज खारवेल वंश परिचय देते हैं, चेतिवंश में उत्पन्न महामेधवाहन ऐल (आर्य) खारवेल ने यह (लेख) लिखवाया। खारवेल का जन्म 190 ई.पू. के लगभग कलिंग में हुआ था इनके पिता क्षेमराज वृद्धिराज थे पिता क्षेमराज की मृत्यु हो जाने पर भिक्षुराज खारवेल को (लगभग 15 वर्ष) को उत्तराधिकारी नियुक्त कर युवराज का पद प्राप्त हुआ तथा 9 वर्ष तक वे युवराज पद को सुशोभित करते हुए अपनी वय के चौबीसवें वर्ष में राज्य सिंहासन पर आस्था हुए। उसके तेरह-चौदह वर्ष पश्चात् यह लेख विस्तार से वर्णन अंकित किया गया है।

शिलालेख की द्वितीय पंक्ति के भाव वर्ष पर्यन्त कान्त प्रतापी पिंगल वर्ण (स्वर्ण रंग) देह पान कुमार की क्रीड़ाएँ की, 15 वर्ष में युवराज हुए पश्चात् लेखन, चित्रकला गणित, व्यवहार, धर्म, विधि आदि विधाएँ 9 वर्ष प्राप्त की। 24वें वर्ष में उदयेतर महान विजेता कलिंग अधिपति बने।

शिलालेख की तृतीय पंक्ति में कलिंग राज्य के प्रथम वर्ष में आंधी, तूफान आदि प्रकोपों से नष्ट हुए प्राकार, प्रासाद आदि का जीर्णोद्धार कराया, शीतल जल के जलाशयों, पानी के स्रोतों, निझरों आदि के बाँध बँधवाये।

शिलालेख की चतुर्थ पंक्ति के भाव इस प्रकार हैं पैंतीस लाख प्रजा जनों को रंजायमान किया द्वितीय वर्ष में शातकर्णि की परवाह न करते हुए (सात वाहनवंशी राजा सातकर्णि प्रथम) पश्चिम दिशा की ओर हाथी, पैदल और रथों से युक्त विशाल सेना भेजी तथा कृष्णेग (कृष्णा नदी) के किनारे अस्सिकों (भूषिको) की राजधानी का विध्वंस कराया।

पंचम पंक्ति के भाव इस प्रकार तीसरे वर्ष में प्रजा के लिए गंधर्व विद्या में विशारद (नृप खारवेल) नृत्य, गीत संगीत आदि का उत्सव कराया तथा खेल आदि कराये तथा चतुर्थ वर्ष में युवराजों के लिए निर्मित विद्याधर निवास में निवास किया।

षष्ठम् पंक्ति के भाव इस प्रकार हैं जिनके मुकुट और छत्र नष्ट कर दिये थे, ऐसे भोजक और राष्ट्रिक राजाओं से भेंट आदि लेकर चरणों में नमस्कार कराया। पाँचवें वर्ष में 300 वर्ष पूर्व नन्दराजा द्वारा बनवाई गयी नहर को तोषिलि (तनसुलिय) द्वारा कलिंग तक लाए और राज्याभिषेक के छठवें वर्ष में सद-आशय से कर आदि माफ कर दिये।

सप्तम् पंक्ति के भाव हैं—दीनों से दया कर उन्हें सुखी बनाया और पौर, जनपदों पर सैकड़ों हजारों अनेक प्रकार से अनुग्रह किये और सातवे वर्ष में रानी बंजिरावती (बंगदेश के ब्रह्मधर की राजकुमारी) ने सुन्दर पुत्र को जन्म दिया जिससे



प्रमुदित हुआ और आठवें वर्ष में विशाल सेना लेकर गोरथगिरि (राजगृही नगर की पहाड़ी) पर भीषण आक्रमण किया।

अष्टम् पंक्ति में जिससे राजगृही (मगध में पुष्य मित्र शुंग) को त्रस्त कर दिया, यवनराज डेमेट्रियस (दिमित्र) भय से सेना आयुध छोड़कर चला गया।

नवम् पंक्ति के भाव इस प्रकार है—कल्पवृक्ष समान (वारवेल) हाथी घोड़ा रथ सहित अधिनस्थ सभी राजाओं सहित सभी गृहस्थों द्वारा पूजित (मथुरा के जिनालय) की पूजा करने गये। याचकों और ब्राह्मणों को दान दिया अरहंत (भगवान) की पूजा की।

दशम् पंक्ति के भाव में नवमें वर्ष में 38 लाख स्वर्ण मुद्राओं से महाविजय प्राप्त और दसवें वर्ष में साम दण्ड (भेद) संधि अनुसार भारत वर्ष (उत्तरापथ) पर विजय प्राप्त करने भेजा, सफल हुए और ग्यारहवें वर्ष में दक्षिण विजय कर उन राजाओं से मणि रत्न आदि प्राप्त किये।

एकादश पंक्ति के भाव कलिंग के राजा ने पीथुण्ड की (वृथदकर्दर्भपुरी) को ध्वंस कर उसमें गदहों से हल चलवा दिए।

द्वादश पंक्ति भाव द्वादश वर्ष में सेना ने उत्तरापथ (द्वादश पंक्ति) में विजय प्राप्त कर मगध राज्य (प्रजा और राजा) में भय उत्पन्न किया मगध के राजा वहसतिमित (वृहस्पतिमित्र/पुष्यमित्र) से चरणों में प्रणाम करवाया और नन्दराजा द्वारा (लगभग 300 वर्ष पूर्व) कलिंग से ले जाई गयी कलिंग जिन (अग्रजिन/आदिनाथ) की प्रतिमा को तथा अंग मगध के राज्यों के बहुमूल्य रत्नों को प्राप्त कर (हरण कर) लाया।

त्रयोदश पंक्ति के भाव ओर सब को वश में करते हुए तेरहवें वर्ष में सुपर्वत विजय चक्र (जहाँ भगवान महावीर का समवशरण आया था में ऐसे कुमारी पर्वत पर प्रजाजनों द्वारा पूजने हेतु अरहन्तों की स्मृति में) निषद्यकाँ बनवाई जो निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। अर्थात् अरहन्तों के मन्दिरों का निर्माण करवाया।

चतुर्दश पंक्ति के भाव (मगध राज्य से) हरण कर लाये अनेक रत्नों आदि से गोपुर सिंहद्वारा (मंदिर के) शिखर बनवाये, पांड्य राजा (भयाक्रान्त) से आश्चर्यकारी अनेक प्रकार के मणि मुक्ता गज अश्व आदि प्राप्त किये।

पंचदश पंक्ति के भाव सकल श्रमण, मुनि यति, तापसी आदि सभी दिशाओं से (मेरा निर्मन्त्रण स्वीकार कर) अरहंत की निषिधिका के समीप पथारे, साधु सम्मेलन

घोड़ा पंक्ति के भाव अर्हन्मन्दिर (जिनालय) के समीप एक सभा मंडप बनवाया जिसके मध्य में रत्न जड़ित मानस्ताम्भ स्थापित किया। 165 वर्ष वीर निर्वाण के पश्चात् मौर्यकाल से विछिन्न चौयठि अंग (द्वादशांग जिनेन्द्रवाणी क्षीणता) को

प्राप्त हो रही थी, उसको प्राप्त किया अर्थात् उसके उद्धार का प्रयत्न किया, क्षेमराज वृद्धिराज भिक्षुराज ने कल्याणकारी वाणी को सुना और अनुभव किया।

सप्तदश पर्वित के भाव विशेषगणों से कुशल, सभी धर्मों के देवायतनों का आदर करने वाले चक्रधर (चक्रवर्ती) रथ ध्वज और सेना अप्रतिहत रहीं विजय को प्राप्त होती रही ऐसा महान विजेता राजा खालवेल श्री।

खारवेल के शिलालेख का मूल्यांकन :

उड़ीसा के पुरी के समीप स्थित उदयगिरि लघु गिरि स्थित हाथी गुफा के इस लेख का पुरात्विक ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्व तो है ही लेकिन यह उड़ीसा (कलिंग) के उत्तर दक्षिण और पूर्व पश्चिम में पुष्टि पल्लवित जैन श्रमण संस्कृति का भी ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश पर डालता है। डॉ. ज्योति प्रसाद इस लेख का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं—समय की दृष्टि से (ऐतिहासिक दृष्टि) सम्राट प्रियदर्शी (अशोक और सम्प्रति) के शिलालेखों के पश्चात् इसी का नम्बर आता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो यह अभिलेख प्राचीन भारत के समस्त शिलालेखों में सर्वोपरि हैं। उस काल का यही एक मात्र शिलालेख है जिसमें नायक के वंश, वर्ष संख्या देश (कलिंग) जनसंख्या, देश, जाति, पदनाम इत्यादि अनेक बहुमूल्य ऐतिहासिक तथ्यों का (इसमें लेख) स्पष्ट उल्लेख मिलता है।²⁵

प्रो. राखलदास बनर्जी के मतानुसर यह लेख पौराणिक वंशावलियों की पुष्टि करता है और ऐतिहासिक कालगणना को ई.पू. पाँचवीं सदी के मध्य के लगभग तक पहुँचा देता है। देश के लिए भारत वर्ष नाम का सर्वप्रथम शिलालेखीय प्रयोग इसी लेख में प्राप्त होता है। कलिंग देश की तत्कालीन राजनीति, लोकदशा, सामाजिक और धार्मिक जीवन, राजा की योग्यता, राजकुमारों की शिक्षा, दीक्षा और प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्यों का यह लेख सुन्दर दिग्दर्शन करते हैं। विहार और उड़ीसा प्रान्तों के सम्बन्धों की ऐतिहासिकता को भी साधिक दो सहस्र वर्ष श्रमण संस्कृति की ऐतिहासिकता के परिपेक्ष्य में भी यह लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ईसापूर्व जैन श्रमण संस्कृति में आराध्यायी मूर्ति के प्रति श्रद्धा, आस्था को दृष्टव्य करता है। उस आराध्य मूर्ति (कलिंग जिन की प्रतिमा) के अभाव में प्राप्त व्याकुलता, मगध राजा द्वारा गौरवशाली कलिंग जिन की सुव्यवस्थित वापिसी मगध में भी मूर्ति के प्रति श्रद्धा का भाव स्पष्ट करता है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् से हीन होती गयी श्रुतज्ञान की परम्परा का क्रमिकहास, खारवेल श्री द्वारा श्रुत परम्परा के प्रति अगाध आस्था और उसके उद्धार के उपाय हेतु भारत देश में विराजित यति, मुनियों का महा सम्मेलन और कल्याणकारी वाणी को आत्मसात करके आत्म कल्याण के भाव भी हाथी गुफा के प्रस्तुत लेख में दृष्टव्य होते हैं।

उस काल की स्थापत्यकला गुफा के कर्तव्य प्राकृतिक आपदाओं से बचने का उपाय, के लिए कई मील दूर से सिंचाई की व्यवस्था करना, कृषि के प्रति लगाव आदि को भी प्रकट करता है।²⁶

खारवेल:

जैन सम्राट खारवेल का मूल्यांकन करते हुए डॉ. ज्योतिप्रसाद जी ने 'खारवेल के लिए आस मुद्रक्षितीष महान चक्रवर्ती सम्राट कहा है वे आगे लिखते हैं कि 'वह सर्वकालीन महान सम्राटों में परिगणित होने के सर्वथा योग्य है राजनीति, प्रशासन, युद्ध विद्या लोक - व्यवहार, साहित्य, कला एवं प्रबद्ध धार्मिकता इत्यादि एक महान सम्राट के उपयुक्त समस्त अंगों से उनका व्यक्तित्व परिपूर्ण था और आश्चर्य यह है कि मात्र तेरह वर्ष के राज्यकाल में उसने इतना सब सम्पादन कर लिया तथा कलिंग साप्राज्य को उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया जो न भूतों न भविष्यति था। परम जैन होते हुए भी सम्राट खारवेल सर्वधर्म सहिष्णु एवं अत्यन्त उदाराशयक नृप था वह अहिंसा धर्म का पालक और सच्चा धर्म वीर होते हुए भी ऐसा पराक्रमी शूरवीर था कि उसने प्रचण्ड विदेशी आक्रमण कारी युनानी नरेश दामित्र को स्वदेश कलिंग से अतिदूर मथुरा शायद उससे भी आगे जाकर भारत के उत्तर पश्चिमी सीमान्त से बाहर खदेड़ दिया था।²⁷

हाथी गुफालेख में खारवेल के स्थापत्य का भी वर्णन किया गया है जो उस काल की श्रेष्ठ स्थापत्य को दर्शाता है, गंगा नदी से मगधराज नन्द राजा द्वारा कृषि कार्य हेतु निकाली गयी नहर को मोड़कर कलिंग तक गंगा जल को लेकर आना उस काल के यन्त्रियों और श्रमिकों के अद्भुत पुकारार्थ का ही परिणाम है। उच्च शिखरों से युक्त मणिमुक्ता खचित जिनात्य, गोपुरद्वार, सभामंडप और साधुओं के रूकने हेतु लयणें (गुफाएँ) महान इच्छा शक्ति महान पुरुषार्थ के ही कारण निर्मित हो सकी।

खारवेल देश के महान सम्राटों में से एक सम्राट तो है ही साथ ही वे अपने एक महान कार्य देश के समस्त जैन साधुओं का सम्मेलन करवा कर अभूतपूर्व हो गये यह कार्य इतिहास में 'भूतों न भविष्यति'। यह कार्य न केवल आत्मकल्याण हेतु हुआ बल्कि जिनवाणी की भी अभूतपूर्व सेवा के लिए किया।

खारवेल ही नहीं बल्कि उनके वंशजों के भी शिलालेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं। खारवेल के काल में तथा उनके पश्चात् के प्राप्त अनेक लेखों से यह स्पष्ट होता है न केवल खारवेल बल्कि उसके 300 वर्ष तक के पूर्वज तथा उसके पश्चात् भी लगभग 150-200 वर्ष तक के वंशज सभी जैन धर्मावलम्बी रहे तथा कम से कम 500 वर्षों तक जैन धर्म (दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति) उड़ीसा राज्य का

राजधर्म रहा। ऐसा प्रतीत होता है। साथ धार्मिक दृष्टि से वैकुण्ठपुरी की गुफा, खारवेल की उदार सहिष्णु राजा के बंशज भी जैनेतर अग्रमहिषी जो कि राजा ललाक हत्यसिंह की पुत्री थी। अर्हत प्रसाद के निकट लेख अंकित करवाया, पातालपुरी गुफा में महाराज एल के 'बंशज' कुदेप श्री ने लेख अंकित करवाया। यमपुरी गुफा राजकुमार वदुख, व्याघ्रगुफा भूति (नगर न्यायाधीष) सर्पगुफा में कम्भ हलसिण और चूलकम्भ, जम्बेश्वर गुफा में महावारिया और नाकिय के, छोटी हाथी गुफा में आत्मशुद्धि के तत्वगुफा कुसुम नाम के शिलालेखीय अभिलेख प्राप्त होते हैं।

विभिन्न लेणों और गुहा मंदिरों और उनमें अंकित शिलालेखों से प्रकट है कि खारवेल के बाद भी कई शताब्दियों तक खंडगिरि - उदयगिरि जैनों का पवित्र तीर्थ और जैन श्रमणों का प्रिय आवास बनी रही²⁸

पं. बंगाल और उड़ीसा प्रान्तों में खारवेल राजा बहुत प्रसिद्ध हैं, इनको रौरक नाम से भी जाना जाता है, उड़ीया भाषा में पं. नन्दकिशोर सम्बलपुर ने 'रौरक' नाम के काव्य की रचना की, जिसमें इनकी रानी को धूसी नाम से जाना जाता है, पं. नीलकण्ठदास एम.ए. सारवी गोपाल निवासी ने उड़ीया भाषा में इनकी बड़ी मनोहर कथा भी लिखी है। राजा खारवेल जैन धर्मावलम्बी होने के साथ सभी धर्मों के प्रति उदार एवं सहिष्णु रहे तथा सभी धर्मों का आदर एवं सम्मान करने वाले रहे।

विद्वान डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार व कलिंग में उदयगिरि पर्वत पर भी कुछ गुफाएँ हैं, जिन्हें वदुख नामक कुमार ने जैन साधुओं के लिए बनवाया था। वदुख खारवेल के बाद हुआ था और इस द्वारा भी जैन साधुओं के लिए गुफाएँ बनवाना यह प्रमाणित करता है कि खारवेल के बाद भी कलिंग में जैन धर्म फूलता-फलता रहा।

सन्दर्भ :

1. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 2
2. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 4
3. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 9-10
4. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 11
5. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 11
6. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 20
7. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 24
8. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 37
9. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 37

10. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 36
11. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 37
12. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 37
13. धूसी चरित्र पृ. 44-45
14. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 46
15. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 46
16. प्राचीन कलिंग या खारबेल पृ. 4
17. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 54
18. जैन साहित्य पृ. 116
19. जैन साहित्य पृ. 116
20. जैन साहित्य पृ. 116
21. जैन साहित्य पृ. 117
22. जैन साहित्य पृ. 116
23. Indian History 1929 P. 601
24. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 54
25. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 57
26. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 57
27. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि
28. जैन साहित्य पृ. 117

इतिहास से झाँकता : पोदनपुर

इस कलिकाल के प्रारम्भ से ही पूज्यता को प्राप्त नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव अपने अधिष्ठत्य के साम्राज्य को सभी पुत्रों में विभाजित कर उन्हें अपना-अपना राज्यक्षेत्र सांपकर, निशल्य होकर, निर्ग्रन्थ दिगम्बरी जिन दीक्षा ग्रहण की। कालान्तर में उनके बड़े पुत्र भरत ने प्रथम चक्रवर्ती होनें की अभिलाशा से सभी भाइयों के राज्य को अपने अधिनस्थ कर लिया लेकिन छोटे भाई बाहुबलि अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ रहे, यहाँ तक वे विशाल एवं सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के अधिपति भरत से युद्ध करने हेतु तत्पर हो गये। उन्होंने नेत्र युद्ध, जल युद्ध, मल्ल युद्ध में भरत को पराजित कर दिया इस पराजय को भरत सहन नहीं कर सके और अन्त में भरत ने अपने लघु भ्राता बाहुबली को समाप्त करने के लिए अन्तिम अस्त्र, चक्र उनके ऊपर चला दिया। यद्यपि बाहुबलि चक्र से बच गये लेकिन इस युद्ध की पीड़ा से न बच सके। वे अत्यन्त दुःखी हुए, संसारी प्राणी लोभ के कारण कितना गिर सकता है? वह अपने सहोदर को भी समाप्त करने पर उद्यत हो जाता है, यह संसार ही दुःख का कारण है, ऐसा मानकर वह अपने पिता ऋषभदेव द्वारा प्रशस्त मार्ग पर चलने के उद्यत हुए।

बाहुबली ने पोदनपुर का राज्य वैभव वस्त्र आदि त्यागकर निर्ग्रन्थ होकर अपने राज्य पोदनपुर के ही निकट कुकुटगिरी पर एक वर्ष तक निश्चल रहते हुए कठिन तपस्या की इस पहाड़ी पर कुकुट सर्प रहते थे अतः इन सर्पों ने बाहुबली के पद तल पर अपने निवास बना लिए। बाहुबली ने कठिन तपस्या के उपरान्त केवल्य को प्राप्त कर लिया तथा वे भरत के द्वारा पूजित होने पर पूज्य के साथ ही जगतपूज्य हो गये। नाभिराय के पौत्र, आदिप्रजापति ऋषभ देव के पुत्र, चक्रवर्ती भरत के भ्राता, पोदनपुर के महाराजा, प्रथम कामदेव आदि विशेषणों से युक्त बाहुबलि, भुजवलि, दौर्वलीश, पोदेश, गोमटेश, गोम्मट जिन आदि नामों के साथ 'कुकुट जिन' के नाम से विख्यात हो गये। पश्चात् दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोल में इनकी प्रतिमा बन जाने से वे 'दक्षिण के कुकुट जिन' के नाम से भी पूज्यता को प्राप्त हुए।¹

भरत के भ्राता बाहुबलि को भारत के उत्तर पश्चिम का क्षेत्र पोदनपुर राज्य प्राप्त हुआ था। पोदनपुर राज्य अपने वैभव, प्राकृतिक सुरम्यता तथा प्राकृतिक एवं

मनुष्यकृत आपदाओं एवं परिवर्तन के कारण कालान्तर में सुरम्यदेश, रम्यकदेश, बहलीप्रदेश, तक्षशिला आदि अनेक नामों से ख्याति को प्राप्त होने लगा। फलस्वरूप पुराणों में यश को प्राप्त पोदनपुर लुप्त होने लगा।

पोदनपुर: 'भविष्यदत्त कथा' में धनपाल ने पोदनपुर को सिन्धु देश का नगर लिखा है, हस्तिनापुर के राजा और पोदनपुर के शासक के बीच युद्ध होने का वर्णन किया है, वहाँ पोदनपुर को सिन्धु देश का नगर लिखा है, यह उत्तर का सिन्धु प्रदेश ही है² सोमदेव विरचित 'उपासकाध्ययन' में पोदनपुर को रम्यकदेश कहा गया है, 'रम्यकदेशनिवेशोपेतपोदनपुर' तथा 'पुण्यास्त्रव कथा कोश' में 'सुरम्य देशस्य पोदनेश' उल्लेखित किया गया है³

22 वे तीर्थकर नेमिनाथ के समय तक में भी पोदनपुर नाम ही प्रचलित था, 'आराधना कथा कोष'⁵⁹ में उल्लेख आता है द्वारका नगरी में वासुदेव कृष्ण की महारानी गन्धर्वदत्ता का पुत्र गजकुमार था। पोदनपुर नरेश अपराजित को पराजित करने के लिए श्रीकृष्ण ने कई बार प्रयत्न किया, किन्तु वह अपराजित ही रहा। तब गज कुमार सेना लेकर अपराजित के नगर तक पहुँचा, दोनों सेनाओं में भयानक युद्ध हुआ और गजकुमार ने अपराजित को पराजित कर दिया। नारायण श्री कृष्ण ने गजकुमार का समुचित सम्मान किया।

तक्षशिला ही प्राचीन पोदनपुर है:

बाहुबलिस रायहाणी तक्षशिला में ऐसा उल्लेख आया है कि उत्तरापथ में पोदन यह तक्षशिला का प्राचीन नाम है⁴ ऐसा विदित होता है दिगम्बर मान्यता में स्वीकृत पोदनपुर नगर को श्वेताम्बर जैन परम्परा द्वारा तक्षशिला के नाम से स्वीकार किया है, आचार्य विमलसूरि ने 'पद्म चरित्र' में कहा है कि बाहुबलि तक्षशिला के राजा थे जो भरत के प्रतिकूल थे। उनकी आज्ञा नहीं मानते थे भरत जब युद्ध करने पहुँचे तो बाहुबलि भी भरत का आगमन सुनकर अपने सुभट सैन्य के साथ तक्षशिला से बाहर निकल पड़े⁵ 'आवश्यक निर्युक्ति' में कहा गया है कि उस उत्तरापथ में बाहुबलि की राजधानी तक्षशिला थी⁶ तथा भगवान ऋषभदेव भी बाहुबलि की राजधानी तक्षशिला गये। 'तब भगवान वृषभ ने वहली प्रदेश में विचरण करते हुए बाहुबलि की राजधानी तक्षशिला की ओर प्रस्थान किया'⁷ 'दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'निर्वाण काण्ड' में पोदनपुर में बाहुबलि की वंदना करते हुए उल्लेख किया है—'बाहुबलि तह वंदामि पोदनपुरे' यह पोदनपुर तक्षशिला का प्राचीन नाम है। प्रसिद्ध विद्वान मुनि जिन विजय ने भी अपना अभिमत व्यक्त किया है कि — पोदनपुर तक्षशिला का दूसरा नाम प्रतीत होता है विमलकृत सूरी 'पउम चरियं' में जहाँ-जहाँ तक्षशिला का नाम आता है वहाँ-वहाँ उसी के भाषान्तर स्वरूप

‘पद्मपुराण’ में पोदनपुर नाम आता है⁸

श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में बाहुबलि की राजधानी सर्वत्र तक्षशिला मान्य रही है, इस परम्परा के ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी बाहुबलि का चित्रण हुआ है वहाँ सभी जगह बहली या बाहीक देश और तक्षशिला का उल्लेख है।

‘कुवलय माला’ में तक्षशिला के वर्णन को ध्यान में रखकर विद्वान डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है कि ‘उद्योतन सूरि के लगभग 150 वर्ष पूर्व (लगभग 628 ई.) युआन चुआंग (सन् 778 ई. के लगभग) ने तक्षशिला को जिस समृद्ध नगरी के रूप में देखा था आठवीं सदी तक उसकी (समृद्धि) प्रसिद्धि वैसी ही बनी हुई थी। तक्षशिला परिखा ओर परकोटे से युक्त नगरी थी और जैन धर्म का वहाँ केन्द्र था क्योंकि तीर्थकर ऋषभदेव द्वारा तक्षशिला नगरी में आगमन और राजा बाहुबलि द्वारा वहाँ पर उनकी स्मृति में निर्मित किये जाने वाले रत्नमय विशाल धर्मचक्र की कथा आठवीं सदी में भी विख्यात थी। परवर्ती ग्रन्थों में भी इसके उल्लेख हैं।⁹

‘चउपन्महापुरिसचरियं’ में तक्षशिला को बाहुबलि की राजधानी कहा गया है जहाँ भरत का दूत सुवेग अयोध्या से अनेक ग्राम आकार, खेड़ा, मरकट आदि स्थानों को पार कर तक्षशिला स्थित बाहुबलि के भवन के द्वार पर पहुँचा।¹⁰

‘अभिधान राजेन्द्र कोष’ के अनुसार बहली देश में बाहुबलि की नगरी थी, ‘तक्षशिला बहलीदेशे बाहुबलेन्नर्गया’¹¹ कल्पसूत्र परिशिष्टपर्व, कुमार पाल-प्रतिषोध आदि अन्य प्राकृत ग्रन्थों के अनुशीलन से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि बाहुबलि को तक्षशिला का राज्य मिला था और यह तक्षशिला बहली देश में स्थित थी।¹²

पोदनपुर (तक्षशिला) का भौगोलिक क्षेत्र:

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान पुरातत्वेता कनिंघम के अनुसार यह स्थान कटक और रावलपिण्डी के मध्य शाहधेरी के निकट था। आजकल यहाँ इस प्राचीन नगरी के खंडहर पड़े हुए हैं।¹³

पोदनपुर और तक्षशिला दोनों की अवस्थिति सिंधदेश के उत्तर में निश्चित होती है। लगता है तक्षशिला के निकट ही पश्चिमोत्तर में गांधार की ओर पोदनपुर की अपनी स्वतन्त्र स्थिति रही और तब तक तक्षशिला का पार्दुभाव ही नहीं रहा होगा। बी.सी.ला. द्वारा इसकी पहचान पंजाब में रावल पिण्डी से बारह मील दूर स्थित शाहधेरी नामक स्थान के खंडहरों से की जाती है।¹⁴

महाकवि रङ्घू कृत ‘पासपुराण’ में सुरम्यदेश और वहाँ के पोदनपुर नगर का विस्तृत वर्णन करते हैं—‘इस प्रकार तीन लोकों में प्रथम जो जम्बूद्वीप है उसके गंगा से विभाजित भरत क्षेत्र की भूमि में सुरम्य नाम का देश है, वहाँ अनेक विपुल

आरामों वाले ग्राम बसते हैं जिनमें परिपूर्ण इच्छाओं वाले नागरिक जन निवास करते हैं, जहाँ वृषभ धिक्कारते हुए घूमते हैं और गायों के साथ धान्य चरा करते हैं जहाँ पर घना दूध देने वाली भैंसे हैं, जहाँ पर फलों एवं फूलों से युक्त श्रेष्ठ उद्यान है, जहाँ ग्वालिनों के द्वारा रास रचा जाता है उसको देख कर इन्द्र भी वहाँ रहने की इच्छा करते हैं जहाँ नारियाँ पौसरे (आंगन) में बैठकर प्रजापालन करती हैं, जहाँ शीलधारी नर विकार पूर्वक नहीं बौलते। जहाँ पुण्डरी (गन्ना) के खेत रस बहाते रहते हैं और नित्य नटजनों के समान शोभायमान होते हैं, जहाँ लोग सदैव निरूपद्रव रहते हैं, जहाँ धीवर भी सरोवर में जाल नहीं डालते वहाँ पोदनपुर नाम का प्रधान नगर है।¹⁵

‘हरिषण कथाकोश’ की 23 वीं कथा में कहा गया है कि ‘अथोत्तरापथे देश पुरे पोदन नामानि’ इसी प्रकार कथा 25 में ‘तथोत्तरापथे देशे पोदनारब्ये पुरेऽभवत्’ कहा है जिससे स्पष्ट है पोदनपुर उत्तरापथ में ही अवस्थित था।

‘रामायण’ के अनुसार भरत के पुत्र तक्ष और पुष्कर थे उन दोनों ने गांधार देश को जीता और दोनों ने अपने नाम पर तक्षशिला और पुष्करावती नामक नगरियाँ बसायीं। तक्षशिला नगरी बड़े महत्वपूर्ण स्थान पर बसायी थी वह पंजाब से काश्मीर तथा पंजाब से कपिश देश जाने वाले मार्ग पर नियंत्रण रखती थी। पुष्करावती नगरी कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदी के संगम पर थी।¹⁶

इस प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि पोदनपुर और तक्षशिला अलग-अलग नगर रहे हैं यदि ऐसा है तो पोदनपुर और तक्षशिला की सीमाएँ आस-पास ही रही होगी अथवा एक ही स्थान का कालान्तर के कारण अलग-अलग नाम प्रचलित हो गया है।

ई.पू. 326 में सिकन्दर ने तक्षशिला पर विजय प्राप्त की तथा उसके चार वर्ष बाद मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त ने इसे अपने राज्य में मिला लिया ई.पू. 190 में डेऊमिट्रियस ने इसे जीतकर ग्रीक राजाओं की भारतीय राजधानी बनाया।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र सम्राट अशोक ने अपने पुत्र कुणाल (प्रथम पत्नि का पुत्र) को उज्जैयनी में, तक्षशिला का उपरिक (गवर्नर) बनाया। कुणाल जन्म से ही सुंदर और सुकुमार था। उसकी आँखे कुणाल पक्षी की तरह सुन्दर थी, इस कारण अशोक की पत्नी तिष्वरक्षिता कुणाल पर मोहित हो गयी तथा कुणाल के समक्ष प्रस्ताव रखा विमाता के इस घृणित प्रस्ताव को कुणाल ने विनम्रता से अस्वीकार कर दिया तिष्वरक्षिता ने इसे अपना अपमान माना और उसकी शत्रु बन गयी तथा अवसर पाकर उसने तक्षशिला के पौरजनों को एक कपट-लेख सम्राट अशोक के नाम से भेजकर यह आदेश भिजवाया कि कुमार को अन्धा करवा दिया जाये, इस आदेश को पाकर पौरजन भयभीत हो गये। तब कुणाल ने सम्राट के आदेश को स्वीकार करते हुए अपने को अन्धा करवा लिया।

पश्चात् तक्षशिला में जिस स्थान पर कुणाल ने अपनी आँखें निकलवायी थीं वहाँ पर स्तूप बनवाया गया। यह स्तूप चीनी यात्री युआनचुअंग के समय तक वहाँ मौजूद था। इस स्तूप के खंडहर में 26 मील सिरकाय से 112 मील पूर्व में वरपल नामक गांव में पढ़े हुए हैं। इस नगर की भूमि पर सिरकाय, सिरमुख कुच्छा कोट गांव बस गये हैं।¹⁷

लिंगपुराण में नाभि के पुत्र ऋषभदेव द्वारा भरत को प्रदत्त राज्य के क्षेत्र का वर्णन आता है, उसमें कहा गया है कि उन्होंने हिमालय के दक्षिण में विद्यमान वर्ष (देश) भरत को दे दिया था इसलिए भारत के नाम पर उसका नाम पर पड़ा ‘हिमाद्रेदक्षिण वर्ष भरताय न्यवेदयत।’¹⁸ इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि पोदनपुर हिमालय पर्वत के दक्षिण भाग में स्थित नहीं था। अतः पोदनपुर हिमालय पर्वत के उत्तर पश्चिम अथवा पश्चिम में होना चाहिए। वैसे भी पोदनपुर की स्थिति हिमालय के पश्चिम में ही मान्य की जाती है।

कुक्कुट गिरि: महान व्याकरणाचार्य पाणिनी ने तक्षशिला के आस-पास का भौगोलिक वर्णन किया है उन्होंने अपने ग्रन्थ ‘अष्टाध्यायी’ में तत्कालीन प्रचलित छह पहाड़ों के नाम दिए हैं जो इस प्रकार हैं—‘वनर्गीयोः संज्ञायाँ कोटर किंशुलकादीनाम्।’¹⁹ (1) किंशुलकागिरि (2) शाल्वकागिरि (3) अजनागिरि (4) भंजनागिरि (5) लोहितागिरि (6) कुक्कुटागिरि²⁰

बाहुबलिस्सय रायहाणी तक्खसिला में उल्लेख है कि यह नाम अत्यन्त अपरिचित है, ऐसा जान पड़ा है कि यह प्राचीन भौगोलिक सामग्री किसी एक समय सूचीबद्ध की गयी होगी। पाणिनी ने उसे उसी क्रम से अपना लिया होगा। भारत के उत्तर पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान से बलूचिस्तान तक उत्तर दक्षिण दौड़ती हुई पहाड़ों की ऊँची दीवार है उसी की बड़ी चोटियों के ये नाम जान पड़ते हैं। कुक्कुटगिरि भी इसी प्रदेश की कोई श्रृंखला है, जैसा कि संभव प्रतीत होता है।²¹

उत्तर भारत की इस कुक्कुटगिरि पर ही सम्भवतः बाहुबलि ने तपस्या की थी और इसी दौरान उस पर्वत पर रहने वाले कुक्कुट सर्पों ने उनके चरणों पर बामियाँ बनायी थीं।

‘अभिधान राजेन्द्र कोष’ के तीर्थकल्प 16 के अनुसार चरणेश्वर राजा द्वारा निर्मित जिनमंदिर से विभूषित कुक्कुटेश्वर नाम का जैन तीर्थ था। इस जैन तीर्थ से यह तो स्पष्ट है कि बाहुबलि के साथ ‘कुक्कुट जिन’ विशेषण अकारण नहीं जुड़ा है। गोम्मटसार में इसी कुक्कुटजिन को चामुण्डराय द्वारा निर्मित ‘दक्षिण कुक्कुट जिन’ को नमस्कार किया गया है।²²

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के इस कथन से इस अनुश्रुति को बल मिलता है कि बाहुबलि ने तक्षशिला (पोदनपुर) से निकलकर इसी कुक्कुटगिरि पर तप

किया हो और तपकी अवधि में बाहुबलि के तन पर जिन सर्पों ने अपनी बामियाँ बनायी थीं वे कुक्कुट सर्प थे। इन्हीं के कारण वह प्रदेश आवागमन के लिए दुर्गम माना जाने लगा था। इसी कुक्कुटगिरि पर तपस्या करते और कुक्कुट सर्पों से घिरे हुए बाहुबलि उत्तर भारत के ‘कुक्कुट जिन’ कहे जाते रहे होंगे। तभी चामुण्डराय के समय श्रवणबेल्लोल के बाहुबलि को ‘दक्षिण कुक्कुट जिन’ कहा गया।²³

तक्षशिला में जैन धर्मः

आचार्य जिनसेन द्वारा (10वीं-11वीं शताब्दी) चामुण्डराय की माँ के लिए ‘पोदनपुर में भरत द्वारा निर्मित 500 धनुष की विशाल प्रतिमा का निर्माण और कुक्कुट सर्पों द्वारा उस प्रतिमा के आस-पास अपने निवास बनाने से लेकर पंचमकाल में दर्शन दुर्लभ होने का उल्लेख करना।’ यह स्पष्ट करता है कि भरत जी ने अपने भ्राता बाहुबलि को केवल्य होने पर उनके देहाकार की प्रतिमा का निर्माण करवाया था। जैसा कि श्रवणबेल्लोल के शिलालेख से स्पष्ट है।

तीर्थकर ऋषभदेव का पोदनपुर (तक्षशिला) से वापिस आने पर पोदनपुर नरेश बाहुबलि ने ऋषभदेव सहित अनेक सिद्धजनों की स्मृति स्वरूप कई मील परिधि बना रखनों से वेष्टित धर्मचक्र बनवाया था। सर जॉनमार्शल ‘तक्षशिला’ में लिखते हैं ‘तक्षशिला नगर के ऐतिहासिक समय को स्थापित करने के लिए अधिकतम अमितव्यी श्रेय जैन समुदाय के लिए सुरक्षित रखा गया था। ऐसा वर्णन किया गया है कि करोड़ों वर्ष पूर्व प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव तक्षशिला विहार के लिए गये थे और अनेक सिद्ध जनों के पदचिह्नों पर बाहुबलि भगवान के राज्यसिंहासन तथा धर्मचक्र का निर्माण करके उनको प्रतिष्ठित किया था। ऐसा कहते हैं कि धर्म चक्र की परिधि व शिखर कई मील की हुआ करती थीं।²⁴

प्रसिद्ध लेखक आर.जे. स्टेवेनसन का मत है—दिगंबर जैन धर्म प्राचीन समय से लेकर अब तक निरन्तर अस्तित्व में है—अतः यह हमें इस निष्कर्ष के लिए प्रेरित करता है कि ग्रीक लोगों ने पश्चिमी भारत में जिन जिम्नोसोफिस्टों का वर्णन किया है वे जैन लोग थे, वे न तो बौद्ध थे न ब्राह्मण थे।²⁵

ए.के. चटर्जी लिखते हैं ‘हम ‘आवश्यक नियुक्ति’ और ‘आवश्यक चूर्णि’ से भी यह जानकारी प्राप्त करते हैं कि बाहुबलि ने तक्षशिला में रखनों से निर्मित एक धर्मचक्र स्थापित किया था।’ ‘विविध तीर्थ कल्प’ में भी तक्षशिला का बाहुबलि के साथ सम्बन्ध बताया गया है। तक्षशिला प्राचीन भारत की एक प्रमुख नगरी थी। अतः यह स्वाभाविक है कि जैन धर्मानुयायियों ने इस नगरी में जैन धर्म का विस्तार और प्रभाव अवश्य किया होगा।²⁶

रेल्हरेंड जे स्टीव्हन्सन (अध्यक्ष—रॉयल एशियाटिक सोसायटी) अपनी

म्यूजियम रिपोर्ट में लिखते हैं—‘सिकन्दर ने दिग्म्बर जैनों के सन्त समुदाय को तक्षशिला में देखा था, उनमें से कालोनस कल्याण नामक दिग्म्बर जैन महात्मा फारस तक उनके साथ गये थे। कालखंड के इस युग में यह 24 तीर्थकर द्वारा निरूपित किया गया, उनमें भगवान महावीर अन्तिम हैं’²⁷

तक्षशिला के समीपवर्ती जैन संस्कृति केन्द्र :

जिन जनपद: वहाँ तक्षशिला में एक जिन नाम का शोभा सम्पन्न महान जनपद था, वहाँ एक जैन बिहार था जो बाल्मीकि के ऊपर था और वह जन का आश्रयभूत था।

कापिसी: प्राचीन भारत के उत्तर पश्चिम भाग में स्थित इस स्थान पर ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में जैन संस्कृति पुष्टि पल्लवित होती रही। इस बात का विश्वास करने के लिए हमारे पास सबल प्रमाण है कि भारत के इस भू-भाग पर कई जैन केन्द्र समृद्ध थे। प्राचीन नगरी कापिसी में एक बड़ी जैन बस्ती थी²⁸

इस कापिसी की यात्रा चीनी यात्री युआन चुआंग ने सातवीं सदी में प्रारम्भ की थी। प्रसिद्ध विद्वान कनिंघम ने अफगानिस्तान के ओपिनियन से एक कापिसी की पहचान की है। सम्भवतः यह आधुनिक कुशान नगर है²⁹

सिंहपुरः सिंह शब्द से सिंहपुर का निर्माण हुआ है पुष्टदन्तकृत ‘महापुराण’ में कहा गया है—‘भरत से बाहुबलि ने कहा मुझे पोदनपुर की भूमि आदिनाथ जिनेन्द्र ने प्रदान की है यदि यह स्वीकार नहीं तो सिंह से सिंह का मुकाबला हो जाये³⁰ सम्भवतः इसी स्थान पर भरत और बाहुबलि का युद्ध हुआ था इस लिए इसका नाम सिंहपुर रूढ़ हो गया। युआन चुआंग की जीवन यात्रा की कुछ किताबों में यह वर्णन मिलता है कि सिंहपुर पहाड़ों एवं घाटियों के मध्य स्थित था और वह शहर 700 स्प् (140 मील) तक्षशिला से दक्षिण पूर्व की तरफ था³¹ तक्षशिला से (लगभग 140 मील) सिंहपुर नगर की पहचान प्रसिद्ध विद्वान स्टेन और कनिंघम ने पंजाब (पाकिस्तान) के केतस नगर (साल्टरेंज) से की है। स्टेन ने यहाँ पर जैन पुरातत्व की विविध सामग्री खोज निकाली है उनका मत है कि सिंहपुर की जैनकला एलोरा और अकाई की जैनकला से उत्कृष्ट है यह जैनियों के (प्रसिद्ध) पवित्र जैन स्थान के रूप में प्रसिद्ध था³²

आचार्य विद्यानंद जी ‘बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला’ में लिखते हैं ‘वस्तुतः जैन ग्रन्थों अनुसार सिंहपुर ग्यारहवें तीर्थकर श्रेयांशनाथ का जन्मस्थान है। कुछ विद्वान सिंहपुर की पहचान बनारस के पास सिंहपुरी से करते हैं। किन्तु यह पंजाब (पाकिस्तान) का सिंहपुर, जैन ग्रन्थों के अनुसार सही जन्मस्थान जान पड़ता

है’। अपने मत की पुष्टि में एक ऐतिहासिक उदाहरण को भी उन्होंने प्रस्तुत किया है³³ इसी पुस्तक के सहयोगी लेखक डॉ. प्रेम सुमन भी इसी मत से सहमत होते हैं। सातवीं शताब्दी में रचित ‘वरांग चरित’ में भी श्रेयांशनाथ के पवित्र स्थान के रूप में सिंहपुर का वर्णन है।

प्रसिद्ध विद्वान फर्गुसन एवं बर्गस ने अपनी पुस्तक ‘केवटेम्प्लस ऑफ इंडिया’ में लिखा है ‘सिंहपुर के साधु दिग्म्बर साधु थे और उनके पास जो मूर्ति थी वह बुद्ध की नहीं महावीर की थी’।

श्री नगर (काश्मीर):

प्रसिद्ध कवि कल्हण ने 1147 ई. सन् के लगभग ‘राजतरंगिणी’ में लिखा है—

यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिन शासनम्।

शुष्क लेत्रवितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमंडलैः ॥ 1-101

धर्मारण्य विहारान्तर्वितस्तात्रपुरेऽभवद्।

यत्कृतं चैत्यमुसेधावधिप्राप्यक्ष मेक्षणम् ॥ 1-102

सत्यप्रतिज्ञ राजा अशोक पृथ्वी का शासक हुआ वह बड़ा पुण्यात्मा था। जैन धर्म को स्वीकार कर उसने शुष्क लेत्र और वितस्ताल नाम के दोनों स्थानों पर अनेक स्तूप बनवाये। वितस्वावपुरके धर्मारण्य विहार में इतना ऊँचा जैन मंदिर बनवाया था जिसकी ऊँचाई का आंकलन करने में दर्शकों की आँखें असमर्थ हो जाती थी।

धनाद्य श्रेष्ठि ने धन जन से परिपूर्ण 96 लाख मुद्रा खर्च करके दिव्यभवनों से विभूषित बहुत बड़ा (कश्मीर में) श्री नगर नाम का नगर बसाया।

स षणवत्या गेहानां लक्ष्मीसमुज्जवलैः।

गरीयसीपुरीं श्रीमांश्चक्रे श्रीनगरीं नृपः ॥ 1-103³⁴

इस ग्रन्थ से ऐसा लगता है कि बाहुबलि का राज्य तक्षशिला से काश्मीर तक फैला हुआ था³⁵ अपभ्रंश भाषा में हस्तलिखित ‘बाहुबली चरित’ (धनपाल) में बाहुबली का राज्य काश्मीर तक फैला हुआ बताया गया है। वितस्ता नदी भी दोनों नगरों के समीप थी, एक जैन राजा द्वारा (मीर) श्री नगर को समृद्ध करने के पीछे भी यही भावना थी³⁶

तक्षशिला (पोदनपुर) में ब्रात जैन धर्मी:

काफिरिस्तान (कोहेस्तान) के पहाड़ी प्रदेश में जिस ग्रह के आयुध जीवी थे वे पाणिनी के शब्दों में ‘राजनीतिक दृष्टि से ब्रात सञ्जक थे’, (5/3/113) वे लोग

उत्पेथ जीवी थे। वेदों में ब्रात्यों का वर्णन है ब्रात्य यज्ञविरोधी थे, वे निजी जीवनचर्या में ब्रतों का कठोरता से पालन करते थे, आत्मसाधना उनका दृढ़ विश्वास था ३६ अर्थर्वेद (15/18/5) में कहा गया है कि ब्रात्य दिन और रात्रि में सभी के पूजनीय हैं, 'तैतरीय ब्राह्मण' में कहा है कि 'जिसके कुल में पिता, पितामह आदि ने सुरापान न किया हो वह ब्रात्य है'। 'प्रश्नोपनिषद्' के शंकर भाष्य में 'ब्रात्य को स्वभाव से शुद्ध श्रमण परिवार कहा है'। इस प्रकार के संदर्भों से ब्रात्य और श्रमणों को एक माना गया है। ब्रात्य जैन धर्म के प्राचीन परिपालकों में से हैं। तक्षशिला के समीप और कुकुटगिरि के आस-पास जिनब्रात समूहों का उल्लेख पाणिनी ने किया है वे जैन धर्म से संबंधित प्रतीत होते हैं। बाहुबली के राज्य में जैन धर्म में अनेक जातियाँ सम्मिलित थीं, उनमें ब्रात्य भी रहे होंगे ३७ जिससे संकेत मिलता है कि तक्षशिला का प्राचीन नाम पोदनपुर था।

यद्यपि दक्षिण भारत में भी पोदनपुर का उल्लेख मिलता है लेकिन यह बाहुबली के राज्य की राजधानी नहीं माना जा सकता है, एक ही नाम के अनेक नगर वर्तमान में भी दृष्टव्य होते हैं। आचार्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण में दक्षिण भारत में पोदनपुर होने का कथन किया है—इसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में एक सुरम्य नाम का बड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है उस नगर में पराक्रम आदि से प्रसिद्ध अरविन्द नाम का राजा राज्य करता था, उसे पाकर प्रजा ऐसी सन्तुष्टि थी, जैसे कि प्रजापति भगवान आदिनाथ को पाकर सन्तुष्टि थी ३८ विचारणीय यह है कि जब आचार्य गुणभद्र प्रसंगवश आदिनाथ का उल्लेख करते हैं तो पोदनपुर के संदर्भ में भी बाहुबली का नाम अवश्य ही उल्लेखित करते हैं, लेकिन उन्होंने वहाँ पर भारत के पोदनपुर नगर की भौगोलिक स्थिति ही बताई है।

अतः हिमालय के पश्चिम में ही बाहुबली के राज्य की राजधानी पोदनपुर जो आज तक्षशिला के नाम से जाता है प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ:

1. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 66
2. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 50
3. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 60
4. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 48
5. पउम चरियं 4/38
6. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 180-181
7. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 49
8. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 49
9. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 66

10. चउपन महापुरिसचरियं पृष्ठ 44-46
11. अभिधानराजेन्द्र कोष एवं बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला
12. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 50
13. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 50
14. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 51
15. पासणाह चरित 1/6
16. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 61
17. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 52
18. लिङ्गपुराण 1/47/23
19. अष्टाध्यायी 6/3/117
20. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 64
21. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 64
22. गोम्मटसार (गाथा) 64
23. पाणिनी कालीन भारत वर्ष (डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल) एवं बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 65
24. तक्षशिला सरजान मार्पल (1913) पृष्ठ 11
25. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 65
26. A Comparative History of Jainism (Delhi 2000) पृष्ठ 85
27. Royal Asiatic Society (1890-91)
28. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 69
29. A Comparative History of Jainism (Delhi 2000) पृष्ठ 85
30. On Yuan-Chawang's Travels in India पृष्ठ 249
31. महापुराण 16/19
32. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 70
33. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 70
34. राजतरंगिणी 1/103
35. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 72
36. ब्राह्मण तथा संस्कृतियों का दार्शनिक विवेचन डॉ. जगदीशचन्द्र दीक्षित
37. बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला पृष्ठ 77 78
38. उत्तर पुराण 73/6-7

संस्कृति

वस्तुतः संस्कृति शब्द इतना व्यापक शब्द है जिससे बहुत से मानव समाज में समीचीन क्रिया का बोध होता है, जो उसके आचार के कारण समाज की मूल परम्परा से ही प्रारम्भ होकर समाज को प्रस्तुत करती है। वास्तव में संस्कृति किसी देश, समाज, जाति का प्राण है जिससे न केवल पहचान मिलती है बल्कि जीवन भी मिलता है।

मूल रूप से 'संस्कृति' संस्कृत भाषा का शब्द है, इसमें 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में 'कितन्' प्रत्यय है। संस्कृति शब्द की इस व्युत्पत्ति से हमें उत्तम कार्य या 'श्रेष्ठ' कार्य या 'परिष्कृत' कार्य का बोध होता है लेकिन संस्कृति शब्द की निष्पत्ति से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में इस शब्द का उपयोग होता है। प्रायः पृथ्वी के किसी भी भूखंड पर रहने वाले मानव सभ्यता के आचार, विचार, परिष्कार को ही उस समाज की संस्कृति माना जाता है। डॉ. जयदेव विद्यालंकार के अनुसार 'संस्कृति' शब्द में पृथ्वी के किसी भी भूखंड की मानसिक क्षमता एवं प्रगति का एक दीर्घकालीन इतिहास प्रकट होता है।

डॉ. सम्पूर्णानंद के अनुसार 'संस्कृति' वह आधारशिला है, जिसके आश्रय से जाति, समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।¹ सुप्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार 'संस्कृति' एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी तरह व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगंध और दूध में मक्खन।² इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता युग युगान्तर में होता है।²

सी. राजगोपालाचार्य ने संस्कृति की परिभाषा करते हुए लिखा है किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम संस्कृति है।¹ संस्कृति समाज का दर्पण है, संस्कृति अपने मूल रूप के साथ विकास को भी समाहित करती जाती है। प्रथम तो संस्कृति की अमरता उसके ठोस धरातल और समसामायिक परिस्थितियों को समीचीन रूप से अपने अनुकूल करने अथवा संघर्ष करने की क्षमता पर निर्भर करती है। जिस संस्कृति में अपने मूल स्वरूप को बचाये रखने की क्षमता नहीं होती, वह संस्कृति नष्ट हो जाती है अथवा अपने मूल स्वरूप को खोकर परिवर्तित हो जाती है।

संस्कृति के स्थान पर कहीं-कहीं सभ्यता शब्द का प्रयोग किया जाता है, यह दोनों समानार्थी भाषित होते हैं लेकिन दोनों शब्दों के भाव-भाषण में भिन्नता है, सभ्यता मानव समाज का बाह्य ढांचा है, जबकि संस्कृति शब्द से समाज के मूल ढांचे का बोध होता है। सभ्यता समाज के विकास को इंगित करती है जबकि संस्कृति का अर्थ व्यापक है जिसमें सभ्यता समाहित हो जाती है। किसी भी समाज की संस्कृति उसकी सभ्यता की निर्माती है। अंग्रेजी में संस्कृति को Cultur तथा सभ्यता को Civilization कहते हैं। दोनों ही शब्द अपने मूल रूप से अर्थ में भी भिन्न हैं।

भारतीय संस्कृति:

हमारा प्रतिपादित विषय भारतीय उपमहाद्वीप की पुष्पित, पल्लवित संस्कृतियाँ हैं, जिनके मूलरूप से दो ही भेद हैं— श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति डॉ. जयदेव विद्यालंकार ने इन दोनों संस्कृतियों की विशेषताओं के आधार पर भेद किया है तथा उन्होंने इन दोनों संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है।³

डॉ. ज्योतिप्रसाद नृतत्व विज्ञान एवं पुरातात्त्विक अन्वेषणों से प्राप्त निष्कर्ष तथा प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर लिखते हैं 'प्राचीनतम काल में जब मनुष्य की सभ्यता का सर्वप्रथम उदय हो रहा था, कम से कम भारत वर्ष से संबंधित मनुष्य जाति तीन प्रधान समुदायों में विभक्त थी, जिनके आचार - विचार और संस्कृति एक दूसरे से भिन्न थीं।

प्रथम समुदाय के मनुष्य उत्तरी भारत के पूर्वी मैदानी भागों में गंगा, यमुना के दोआव से लेकर अंग, मगध पर्यन्त निवास करता थे, ये लोग शान्तिप्रिय और शाकाहारी थे। लोक-परलोक, आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म, जीववादआदि में विश्वास करते थे, मूर्ति पूजक थे, महापुरुषों की भक्ति करते थे। द्वितीय समुदाय के मनुष्य उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व के अधिकतर पर्वतीय प्रदेशों तक सीमित थे, इस समुदाय के लोग विद्याधर कहलाते थे, वे कला-कौशल, उद्योग, धन्धे, विज्ञान में बहुत आगे थे लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से प्रथम समुदाय की अपेक्षा लघु थे। तृतीय समुदाय के मनुष्य भारतीय मानव वंश की ही एक शाखा थी जो किसी बहुत समय पूर्व में मध्यदेशीय मूल जाति से पृथक होकर उत्तर पश्चिम के पर्वतीय प्रदेशों की ओर चली गयी थी। यह समुदाय ज्ञान, विज्ञान दोनों में ही बहुत पीछे तक पिछड़ा रहा। पशुपालन इस समुदाय का प्रधान कर्म रहा। तृतीय समुदाय की कालान्तर में तीन शाखाएँ हो गयीं। प्रथम शाखा के लोग तो हिन्दुकुश पर्वतमाला के दर्दे से पार होकर उत्तर एवं मध्य एशिया में बस गये, द्वितीय शाखा के लोग पश्चिम की ओर युरोप के यूनान आदि देशों में बस गये, तृतीय शाखा के लोग पश्चिम ईरान आदि क्षेत्रों

में बस गये। तृतीय समुदाय की इन शाखाओं का आपस में सम्पर्क चिरकाल तक बना रहा, कालान्तर में सभी ने परिस्थिति जन्य सभ्यता का विकास प्रारम्भ कर दिया तथा पश्चात् वर्ती लोगों को आर्य अथवा ईण्डो आर्य के नाम से पहचाना गया।

प्रथम समुदाय के लोग श्रमण संस्कृति के पुरोहा समझते जा सकते हैं, जबकि द्वितीय समुदाय के लोग विद्याधर जाति के लोग माने जा सकते हैं, जिन्हें द्रविड़ों का पूर्वज कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही उनके प्रेरक एवं धार्मिक मार्गदर्शक मध्यदेश के वे मानववंशी मूल आर्य थे, जो तीर्थकरों के आत्मधर्म और श्रमण संस्कृति के उपासक थे।¹⁴

सिन्धु घाटी की सभ्यता, मिश्र एवं पश्चिमी एशिया की सुमेरियन, अस्सुर, बाबुली आदि सभ्यताओं में दृष्टव्य समानता से डॉ. ज्योति प्रसाद के उपर्युक्त कथन को बल मिलता है। इन सभ्यताओं के मध्य आपस में एक दूसरे पर सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रभाव लम्बे समय तक बने रहे लेकिन हिन्दुकुश पर्वत के दर्दे को पार कर उत्तर पश्चिम की ओर जाने वाले समुदाय अपने लोगों की संस्कृति को भूल गये तथा जब वे परिस्थितिजन्य परम्पराओं से निर्मित संस्कृति को लेकर अपने मूल स्थान की ओर वापिस आए तो भेजन, भजन, असन सब में आमूल चूल परिवर्तन लिए हुए थे। वे अपने नवीन सस्कारों से दृढ़ लम्बे समय तक भारत भूमि को प्राप्त करने के लिए लड़ते रहे तथा विजयी भी होते रहे। बहुत लम्बे समय तक वे अपनी नवीन सांस्कृतिक विरासत के साथ ही बने रहे लेकिन कालान्तर में वे भारतीय संस्कृति में अपनी विरासत के साथ रच-पच गये। उन्होंने भारत देश की ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ भारतीय श्रमण संस्कृति का स्वरूप स्वीकार तो किया लेकिन आग्रह अपना ही पुष्ट करते रहे।

श्रमण संस्कृति की पीठका:

बालगंगाधर तिलक प्रचलित श्रमण संस्कृति को आदिकाल से स्वीकार करते हैं ‘ग्रंथों तथा सामाजिक आख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म (श्रमण संस्कृति) अनादि से हैं, यह विषय निविवाद और मतभेद रहित हैं, सुतरा इस विषय में इतिहास के सबल प्रमाण हैं..... जैन धर्म प्राचीनता में पहले नम्बर पर है प्रचलित धर्मों में जो प्राचीन धर्म हैं, उनमें भी यह प्राचीन है। भगवान महावीर स्वामी जैन धर्म को पुनः प्रकाश में लाये वे 24 वे अवतार थे उनके पहले भगवान नेमि पाश्व आदि नाम के 23 अवतार (तीर्थकर) और हुए हैं जो कि जैन धर्म को प्रकाश में लाये इससे जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है, इनके अहिंसा परमो धर्मः के उदार सिद्धान्तों ने वैदिक संस्कृति पर चिर स्मरणीय छाप डाली है।

प्रो. नीलकण्ठ शास्त्री का मत है—‘अपने दिग्म्बर धर्म, योग, मार्ग, वृषभ

आदि विभिन्न लांछनों की पूजा बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है, अतः यह मूलतः अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।¹⁵ 1817 में पादरी रेवरेण्ड एब्बे जे.ए. डुवाई द्वारा फ्रांसीसी भाषा में लिखित पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद में किया तथा जैन धर्म के बारे में अपना अधिमत व्यक्त करते हुए लिखा कि ‘निसंदेह जैन धर्म ही सारे संसार में एक सच्चा धर्म है और यही समस्त मनुष्यों का आदि धर्म है।’

जे.सी.आर. फर्लांग ने बौद्ध धर्म ने प्राचीन इसाई धर्म को कौन से ऐतिहासिक साधनों से प्रभावित किया इसकी गवेषणा करते हुए लिखा ‘यह निसंदेह स्वीकार करना होगा कि इस धर्म (बौद्ध धर्म) ने जैन धर्म को स्वीकार किया था, जो वास्तव में अरबों - खरबों वर्षों से करोड़ों मनुष्यों का प्राचीन धर्म था, वे आगे लिखते हैं जैन धर्म के प्रारम्भ को जान पाना असम्भव है।’ मेजर जे.सी.आर. फर्लांग ने लिखा है कि ‘ईसा से पहले 2500 वर्षों तक बल्कि अज्ञात समय से भारत में द्रविड़ों का राजशासन था, उस समय उत्तर भारत में एक प्राचीन और अतीव सुसंगठित धर्म अर्थात जैन धर्म प्रचलित था जिसके सिद्धान्त, सदाचार और तपश्चरण उच्च कोटि का था।’¹⁶

जे.सी.आर. फर्लांग के इस कथन से यह बात और स्पष्ट होती है कि बौद्ध संस्कृति के साधु श्रमण, जैन श्रमण जैसे ही सिद्धान्तों का पालन करने हेतु तत्पर रहते थे तथा वैदिक संस्कृति में जो मुनि हुए उन पर दिग्म्बर जैन श्रमण संस्कृति की विशेष छाप थी। सम्भवतः यही कारण रहा कि प्राचीन ग्रन्थ महाभारत ग्रन्थ में अनेकों संशोधन होने के पश्चात् भी जैन धर्म के अनेकों सिद्धान्तों को देखा जा सकता है। वाल्मीकि कृत ‘रामायण में भी श्रीराम चन्द्र के पिता दशरथजी का श्रमणों को आहार कराने का उल्लेख प्राप्त होता है।

रेवरेण्ड एब्बे जे.ए. डुवाई ने अपने शोध ग्रन्थों में पहले ही सत्यता को स्वीकार कर लिया था ‘जैन धर्म ही प्राचीन धर्म है, वे लिखते हैं निसंदेह जैन धर्म ही सारे संसार में एक सच्चा धर्म है और यही मनुष्य का आदि धर्म है।’

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के अनेकानेक मत हैं जिससे श्रमण संस्कृति की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है लेकिन विस्तार के कारण उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता। श्रमण संस्कृति ने (जैन धर्म ने) मूल से लेकर आज तक अपने नियम, सिद्धान्तों में परिस्थिति जन्य परिवर्तन नहीं किया। यह संस्कृति आज भी अपने सिद्धान्तों, नियमों को उसी प्रकार स्वीकार करती है जैसी कि यह अपने मूलस्वरूप में पूर्वकाल में थी। इस संस्कृति के नाम में परिस्थिति जन्य परिवर्तन भले ही आये लेकिन यह संस्कृति अपने मूल सिद्धान्तों के साथ भी यथाजात रूप में अडिग अटल अवस्था में आज भी यथावत विद्यमान है।

श्रमण संस्कृति के मूलाधार 'श्रमण' शब्द की व्युत्पत्ति पालि प्राकृत के मूल शब्द 'समण' से है जिसका संस्कृत रूपान्तर श्रमण, मागधी में 'शमण', अपभ्रंश में 'सवणु' कन्नण में 'श्रमण' तथा युनानी में मेगेस्थनोज ने 'सरमनाई' चीनी यात्री हेनेशांग ने 'श्रमणेरस' स्वीकार किया है।¹⁰

लोक में 'श्रमण' ही प्रचलित है, संस्कृत में 'श्रमण' शब्द श्रम धातु से बना है, जिसका अर्थ परिश्रम है। भगवती आराधना में 'श्रमण' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है, 'श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः श्रमण शब्दस्य पुंसिप्रवृत्ति निमित्त तपः क्रिया श्रामण्यं' अर्थात् जो तपस्या करता है वह श्रमण है, श्रमण शब्द की पुरुषत्व में निमित्त तप क्रिया श्रामण्य है।¹¹ दशैवकालिक में कहा गया है कि दूसरों से नहीं लेता वह सच्चा श्रमण है।¹²

दर्शन के क्षेत्र में श्रमण को दो सीमाएँ मिलती हैं प्रथम तो वे जो किसी न किसी रूप में परमसत्ता की अकल्पना में स्वसत्ता से ही श्रम को स्थापित करते हुए आत्मसत्ता में ही उद्यमी होते हैं। द्वितीय वे जो किसी न किसी रूप में परमसत्ता की कल्पना कर उसमें अपना श्रम स्थापित कर सन्तुष्ट होते हैं।

श्रमण संस्कृति पर आलम्बित दर्शन:

1. मूल श्रमण संस्कृति:

महाभारत काल से पूर्व श्रीराम के काल से पूर्व राजापद्मरथ के समय (18 वे तीर्थकर अरहनाथ का काल) जब रक्षाबन्धन पर्व चला।¹³ उसके पूर्व प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भूत के पूर्व से लेकर सांस्कृतिक विकास के साथ ही यह परम्परा यथाजात रूप में दिगम्बर मुनि अवस्था में अहिंसादि सिद्धान्तों के साथ स्वात्मा को निज पुरुषार्थ से परमात्मा में परिवर्तित कर जन्म-मरण से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर 'परस्परोपग्रहो जीवाणाम'¹⁴ के साथ आज तक विद्यमान हैं।

ईसा पूर्व 370 के लगभग चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में इस मूल श्रमण परम्परा का परिस्थितियों के कारण विभाजन होकर परिवर्तित श्रमण परम्परा श्वेताम्बर श्रमण परम्परा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार आदि से प्रचलित यह परम्परा दो भागों में विभक्त हो गयी।¹⁵ (1) दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति (2) श्वेताम्बर जैन श्रमण संस्कृति।

2. बौद्ध श्रमण संस्कृति:

23 वें तीर्थकर पाश्वनाथ के काल में महावीर स्वामी के जन्म के पूर्व गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ) का जन्म हुआ तो उन्होंने गृहस्थ अवस्था को छोड़कर कुछ काल तक दिगम्बर अवस्था स्वीकार कर इसके सिद्धान्तों का पालन किया। अत्यन्त कठिन साधना होने के कारण उन्होंने इस साधन के साधन का त्यागकर शिथिल आचरण

के साथ श्रमण परम्परा के सिद्धान्तों एवं संज्ञा से युक्त होकर बौद्ध श्रमण परम्परा प्रारम्भ की। इस प्रकार एक ही काल में मूल श्रमण संस्कृति के 24 वें तीर्थकर महावीर तथा बौद्ध श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने श्रमण परम्परा को अपने-अपने सिद्धान्तों अनुसार मजबूती प्रदान की। फलस्वरूप बौद्ध श्रमण संस्कृति का अंकुरण, पल्लवन होकर वह कालान्तर में खूब फूलती फलती रही। लेकिन इसा पूर्व दूसरी शताब्दी से भारत में यह अपने अस्तित्व के लिये लड़ती रही।

3. वैदिक श्रमण संस्कृति:

वैदिकोंतर काल में जब मुनियों ने बाह्य आड्म्बर एवं क्रियाकाण्डों से मुक्त होकर भारत में प्रवाहित सांस्कृतिक धारा से प्रभावित होकर ईश्वर को आधार बनाकर आत्मा की पहचान कर अपने आपको देह तत्व से भूलकर आत्म तत्व का चिन्तन किया तो वैदिक परम्परा में प्रथम बार नवीन चिन्तन प्रारम्भ हुआ जिससे वैदिक श्रमण संस्कृति का जन्म हुआ। ब्राह्मण संस्कृति के सांख्य मत में 'श्रमण' शब्द प्रचलित रहा है।

मूल श्रमण संस्कृति:

मूल श्रमण संस्कृति के यथाजात रूप (नग्न/दिगम्बर) में (प्रथम श्रमण) नाभिराय एवं मरुदेवी के पुत्र ऋषभदेव प्रथम श्रमण के रूप में जाने जाते हैं, जिन्हें वृषभ लांछन के साथ वृषभदेव तथा कर्मभूमि की संस्कृति कालारम्भ के आदि में उत्पन्न होने से आदिनाथ के नाम से जाना जाता है। वे इस श्रमण सांस्कृतिक परम्परा की शृंखला का शुभारम्भ करने वाले प्रथम पुरुष थे, ऋषभदेव को ब्राह्मण ग्रन्थकार ब्रह्मा के अष्टम अवतार के रूप में स्वीकार करते हैं, जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'ऋग्वेद' के साथ ही यजुर्वेद, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, विष्णुपुराण, लिंगपुराण, हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थों में ऋषभदेव के व्यक्तित्व को श्रद्धा एवं सम्मान से स्वीकार किया गया है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस संस्कृति का बहुत वर्णन प्राप्त होता है ऋषभदेव से लेकर 24 वें तीर्थकर महावीर के काल तक श्रमण संस्कृति में। आत्म तत्व की खोज के साथ हिंसादि कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए अपनी आत्मा के समान ही अन्य जीवों की आत्मा है के समर्थन के साथ ही निरन्तर आगे बढ़ती रही।

मूल श्रमण संस्कृति में श्रमण का स्वरूप:

श्रमण संस्कृति में यथाजात रूप अर्थात् कृत्रिमता से दूर, प्रकृति जैसा ही रूप एवं अन्तरंग परिणाम, जिसमें मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ सहकारी होना आवश्यक है। बाह्य नग्नता एवं अतरंग नग्नता से युक्त (कषाय आदि से मुक्त) ही श्रमण संस्कृति की पहचान रहे। श्रीमद्भागवत में भी ऋषभदेव को यथाजात रूप कहा गया

है, श्रमण संस्कृति में प्रथम सदी के ख्याति प्राप्त आचार्य श्रमण कुन्दकुन्द स्वामी अपने ग्रन्थ प्रवचनसार यथाजात रूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं:

जधजाद रूब जादं उत्पाइद के समसुगं सुद्ध ।

रहिदं हिंसादी दो अप्पिकम्मं हवदि लिंग ।

मुच्छारम्भ विजुतं जुतं उपयोग जोग सुदीहिं ।

लिंगं परावेक्खं अपुणब्धव कारणं जोणहं ॥¹⁶

इस प्रकार दिगम्बर यथाजात रूप नग्न होकर अपने केशों को (सिर एवं दाढ़ी मूँछों के बालों को) उखाड़ फेंकते हैं, हिंसादि पापों से मुक्त रहकर मोह (मूर्च्छा) से दूर होकर अपनी शुद्ध आत्मा के चिन्तन में (निरन्तर रत) रहते हैं। श्रमण संस्कृति के इन श्रमणों की आचरण नियमावली होती है, जिसमें इनके मूल गुण एवं उत्तर गुणों का उल्लेख होता है। श्रमण इन मूल गुणों से प्रथक नहीं हो सकते, इनमें दोष लगाने पर दीक्षा गुरु से अथवा आचार्य से प्रायश्चित लेकर पुनः इनका पालन करते हुए अपने आत्म कल्याण में रत हो जाते हैं।

श्रमण बनने के पूर्व व्यक्ति को सम्यक् दर्शन (सम्यक श्रद्धान) और सम्यक ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक होता है, उसके पश्चात् ही आचरण ग्रहण किया जाता है। जिससे श्रमण त्रिरत्नों से युक्त हो जाता है, डॉ. पंकज शर्मा जैन दर्शन को (श्रमण संस्कृति को) त्रिरत्नों से अलंकृत स्वीकार करते हुए लिखते हैं जैन धर्म में मोक्षप्राप्ति के लिए त्रिरत्नों का पालन करना आवश्यक बतलाया गया है, ये त्रिरत्न हैं, सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यक चारित्र। सिन्धुघाटी की सभ्यता से प्राप्त सील में यह त्रिरत्न तपस्यारत योगी के सिर पर तीन सिंगों के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं, पास में ही मानव द्वारा पूजा करते हुए दर्शाया गया है, कहीं-कहीं पर यह 'त्रिशूल' के रूप में मान्यता को प्राप्त होते हैं, हस्तिनापुर में स्थित भूगर्भ प्राप्त पाषाण की प्रतिमा में त्रिशूल का चिह्न तथा केवलज्ञान रूपी त्रिनेत्र अंकित हैं।

जैन दर्शन में सम्यकदर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक चारित्र की एकरूपता को मुक्ति पथ स्वीकार किया गया है¹⁷

सम्यक् दर्शन : इसके बिना न तो ज्ञान सम्यक हो सकता है और न ही चारित्र सम्यक चारित्र नाम पा सकरता है। सम्यक दर्शन धर्म का मूल है।¹⁸ आचार्यों का स्पष्ट कहना है सम्यक दर्शन से हीन व्यक्ति मोक्षमार्गीं नहीं हो सकता।¹⁹ आचार्य समन्तभद्र सम्यकदर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं। तीन लोक, तीन काल में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सम्यक दर्शन के समान जीव का कल्याण कर सकती है। सम्यकत्व से युक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेता है, जब कि सम्यकत्व से हीन नग्न दिगम्बर साधु भी सम्यादृष्टि गृहस्थ से हीन हो जाता है।²⁰ मात्र साधुता महत्वपूर्ण नहीं है।

सम्यक् दर्शन से युक्त होने पर ही साधु का मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है, सम्यक दर्शन की प्राप्ति से जीव की अभद्र परिणति भद्रता में परिणत हो जाती है।²¹ उसके भावों में (विचारों में) अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाता है। चिन्तन परिवर्तित हो जाता है। पं. दौलतराम जी ने सम्यक् दर्शन को मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी स्वीकार किया है, इसके बिना न ज्ञान होता है, न चारित्र।²² तो यह सम्यक् दर्शन वास्तव में है क्या? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य उमा स्वामी कहते हैं—तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक् दर्शन कहते हैं।²³ अर्थात् जीव, अजीव, आस्त्र, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों के प्रति समीचीन श्रद्धान होना सम्यक् दर्शन है। यह विश्वास होना कि संसार में यह जीव सात तत्त्वों के समीचीन रूप से नहीं जानने पर संसार में भ्रमता रहता है। इन सात तत्त्वों का समीचीन ज्ञान होने पर उसका विश्वास दृढ़, अतिदृढ़ होता जाता है तथा आत्मा को सम्यक् दर्शन और सम्यक ज्ञान एक साथ प्रकट हो जाता है, सम्यक् दर्शन के साथ ही जीव अपनी आत्मा को तथा अन्य दूसरे जीवों की आत्मा को एक जैसा स्वीकार करने लगता है। जीव तत्त्व से अजीव तत्त्व (शरीर, सम्पत्ति आदि) को अपने से भिन्न मानने लगता है, संसार के सभी चेतन अचेतन पदार्थ से मेरी आत्मा भिन्न है, मैं स्वयं का कर्ता हूँ, जीव अपनी आत्मा में ही आत्मा को षट्कारक बना लेता है।

सम्यक् ज्ञान: सम्यक् दर्शन होने के साथ ही जीव (आत्मा) का ज्ञान जो पूर्व में मिथ्या था। सम्यक् ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है, अब उसका ज्ञान आत्मोन्मुख होकर निज कल्याण में लग जाता है। सामान्य से ज्ञान का विस्तार सम्पूर्ण लोक प्रमाण है, लोक में जो भी चर अचर पदार्थ हैं, सब ज्ञानका विषय है, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान दोनों युगपत् एक साथ ही होते हैं, जैसे प्रकाश का आगमन तम का हरण। पूर्वाचार्यों ने ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम सम्यक् दर्शन के पूर्व का ज्ञान, जो कि तीन प्रकार का होता है। कुमति ज्ञान (2) कुश्रुतज्ञान (3) कुअवधिज्ञान। यह तीनों ज्ञान सम्यक् प्रकार से वस्तु के स्वरूप को पहचानने की सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर पाते हैं। द्वितीय सम्यक् दर्शन के पश्चात् का ज्ञान, जिससे ज्ञान वस्तु के स्वरूप को समीचीन रूप से ज्ञान लेता है। सम्यक् ज्ञान पाँच प्रकार का होता है:

मतिज्ञान: जीव को प्राप्त इन्द्रिय और मन की सहायता से जो पदार्थ जाने जाते हैं, वह ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान: मतिज्ञान पूर्वक जाने वाले पदार्थ को विशेष रूप से ज्ञानना 'श्रुतज्ञान' कहलाता है।

अवधिज्ञान: मनुष्यों में यह ज्ञान किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों को ही प्रगट होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव की मर्यादा को लिए हुए जो ज्ञान दूर (इन्द्रिय ज्ञान से दूर) स्थित पदार्थों को अपने ज्ञान से ज्ञान लेता है वह ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता

है। यह ज्ञान अपनी विशेषताओं के कारण अवान्तर भेदों से युक्त माना गया है।

मनः पर्ययज्ञानः: यह ज्ञान अपनी विशिष्टता के कारण विशेष व्यक्तियों को ही होता है, दिग्म्बर मुद्रा के धारी किन्हीं-किन्हीं मुनियों को होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए हुए जो ज्ञान दूसरे व्यक्ति के मन में स्थित पदार्थ (विचार) को जान लेता है वह ज्ञान मनः पर्ययज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान अपनी विशेषताओं के कारण दो अवान्तर भेदों से युक्त है, विपुलमति मनः पर्ययज्ञान और ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान।

केवलज्ञानः: यह ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान का शिरोमणि है, इस ज्ञान के प्रगट होने पर सम्पूर्ण ज्ञान इसी ज्ञान में समाहित हो जाते हैं, इसीलिए इस ज्ञान को केवलज्ञान कहा जाता है। अतिश्रेष्ठ उन मुनियों के जिनके संसार और कर्मबन्धन अतिअल्प रह गये हैं, ऐसे महापुरुषों को प्रगट होता है। इस ज्ञान के प्रगट होते ही तीनों लोकों, तीनों कालों के सम्पूर्ण चराचर पदार्थ युगपत् दर्पणवत् ज्ञान में आ जाते हैं। इस ज्ञान को प्रगट करने वाले व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान् अथवा केवली भगवान् कहे जाते हैं।

सम्यक् चरित्रः: सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञान होने पर व्यक्ति सम्यक् चरित्र की ओर उन्मुख होता है तथा प्रारम्भ में अणु रूप में चारित्र ग्रहण कर मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ता अथवा सम्पूर्ण चारित्र का ग्रहण कर महाब्रती बन जाना सम्यक् चरित्र माना जाता है।

श्रमण बनने का कारणः

संसार के श्रेष्ठतम् सुखों का भोग करने वाला, कंचन आदि का वैभव और एक कामिनी से लेकर सहस्रों कामनियों द्वारा प्रदत्त शारीरिक और मानसिक सुख से अतृप्त, सहस्रों, लाखों नौकर चाकरों की सेवा से असन्तुष्ट, लाखों करोड़ों पशुओं की सेवा एवं लाखों यानों से प्रदत्त सुविधाओं से असुविधा महसूस करने वाले, अपने बल एवं शक्ति से सहस्रों राजाओं के द्वारा वन्दनीय चक्रवर्ती सम्राट् स्वयं की मान आदि कषाय से अपने आपको अतृप्त अधूरा महसूस करने वाला मात्र एक क्षण में कंचन, कामिनी, राज्य, वैभव, नौकर-चाकर परिवार सब त्यागकर वस्त्राभूषण का त्याग कर सिर एवं चेहरे के केशों का लुंचन करके अकेला घने बन में स्वच्छ शिला पर बैठकर जब आत्मचिन्तन करता है तो वह सुख हजारों चक्रवर्तियों का एक साथ प्राप्त सुख एवं सन्तुष्टि से अनन्त गुनी सुख एवं सन्तुष्टि प्राप्त होता है।

कैसा है यह सुख कि संसारी व्यक्ति मुनि बनते ही उसमें अपनी सुध-बुध खोकर अखंडसुख को प्राप्त कर लेता है, टोडरमल जी छहडाला में लिखते हैं—

‘यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लहयो।

सोइन्द्र, नाग, नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो॥

तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधिकाननदह्यो।

सब लख्यौ केवलज्ञान करि, भविलोक को शिवमग कह्यो॥²⁴

अनन्तकाल से असन्तुष्ट एवं अतृप्त यह आत्मा मुनि मुद्रा को धारण कर सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाता है, सांसारिक चाहत से मुक्त होकर अपनी आत्मा में षट्कारक लगाता हुआ अपने अशुभ पापमय कर्मों को नष्ट करता हुआ मोक्ष पथ पर चलकर अनन्तकाल के लिए सिद्धालय में अनन्त सिद्धों के साथ विराजमान हो जाता है।

मरणः मरण किसी को भी इष्ट नहीं है, कोई भी संसारी देहधारी मरण को प्राप्त नहीं होना चाहता, इसलिए संसार के अधिकांश धर्म मनुष्यों को बेहतर जीवन जीने (आदर्श-जीवन) की शिक्षा देते हैं। लेकिन जैन धर्म दुनिया का ऐसा एक मात्र धर्म है जो आदर्श जीवन के साथ ही मृत्यु को महोत्सव पूर्वक वरण करने की शिक्षा देता है इस धर्म के अनुयायी चाहें वे श्रमण हों या श्रावक (गृहस्थ) सभी सुमरण की भावना प्रतिदिन भाते हैं एवं प्रयासरत भी रहते हैं। जैन दर्शन में सल्लेखना अथवा संथारा के नाम से इसका उल्लेख पाया जाता है।

लेकिन इसके लिए एक विशेष प्रक्रिया है जिसके अनुसार ही मनुष्य श्रमण बनकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, प्रत्येक श्रमण अपने जीवनभर की साधना से अपने मरण को सुमरण में बदलने हेतु पुरुषार्थ करते रहते हैं।

मरण को जैन दर्शन में पाँच भागों में बांटा गया है:

- (1) बाल-बाल मरण
- (2) बाल मरण
- (3) बाल पंडित मरण
- (4) पंडित मरण
- (5) पंडित-पंडित मरण

बाल-बाल मरणः संसार के लगभग सभी जीवों का मरण ऐसे ही होता है, जीव देह के राग में अभ्यस्त मरण का प्रतिकार करता हुआ अन्त में मरण को प्राप्त हो जाता है।

बाल मरणः जीव अपने संयोग से, पुरुषार्थ पूर्वक अपनी देह और आत्मा को अलग-अलग मानता हुआ देह में राग भाव न लाते हुए समता पूर्वक मरण को स्वीकार कर लेता है।

बाल पंडित मरणः मरण के पूर्व से जीव आत्मा और शरीर को भिन्न मानता हुआ अपनी शाश्वत आत्मा को पुष्ट करने हेतु अपनी सामर्थ्य अनुसार छोटे-छोटे व्रतों को(अणुव्रतों) अङ्गीकार करता हुआ व्रतों के प्रति सजग रहकर जीवन-मरण की आशा से रहित स्वाभाविक जीवन जीता हुआ साम्यभाव पूर्वक सहज मरण को प्राप्त कर लेता है।

पंडित मरणः महाब्रतों के धारी श्रमण अपने व्रतों की रक्षा करते हुए देह आत्मा की भिन्नता को मानते हुए व्रतों के माध्यम से आत्म पक्ष को अति सबल करते हुए अति पुरुषार्थ पूर्वक व्रतों के पालन में दृढ़ रहते हुए शरीर एवं कर्मों से लड़ते हुए

कषायों के अतिकृश हो जाने पर साम्य भावपूर्वक शरीर का परित्याग कर देते हैं।

पंडित-पंडित पंडित मरण: श्रमण संस्कृति के महानायक ऐसे महान दिव्य पुरुष जिन्होंने महान पुरुषार्थ कर कर्मों को नष्ट कर दिया, जिससे वह संसार के बन्धनों से मुक्त होकर जन्म-मरण से मुक्त हो अनादि से प्राप्त देह एवं आत्मा की भिन्नता को मानते हुए आत्मा में लीन होकर लोक के अग्रभाग में कर्मों को त्याग कर सिद्ध शिला पर अनन्तकाल के लिए अनन्तानन्त सिद्धों के साथ विराजमान हो जाते हैं।

समाधिमरण (सल्लेखना): समान भावों से मरण को प्राप्त करना समाधिमरण है तथा भली भाँति काम और कषाय का लेखन अर्थात् कृश करना सल्लेखना है।

सल्लेखना और आत्महत्या में अन्तरः

सल्लेखना और आत्महत्या अथवा आत्मघात में प्रथम दृष्टया ही अन्तर दृष्टव्य हो जाता है, देह की क्षीणता जान अल्पकाल में मृत्यु अवश्यम्भावी (निश्चित) जानकर विषाद रहित हो समतापूर्वक जीवन एवं मृत्यु के मध्य हो जाना सल्लेखना पूर्वक किया जाने वाला समाधिमरण है²⁵

आत्महत्या अथवा आत्मघात में परिस्थिति जन्य प्रतिकूलता में मनोनुकूल कार्य न हो पाने के कारण मानसिक असन्तुलन में तीव्र विषाद के कारण मात्र मृत्यु ही एक मात्र समाधान भासित होने पर व्यक्ति विष भक्षण आदि के द्वारा अपने जीवन को समाप्त कर लेता है।

आत्मघाती मृत्यु पूर्व तथा मृत्यु पश्चात् दुःख ही दुःख को प्राप्त होता रहता है²⁵, जबकि सल्लेखना में क्षपक समतापूर्वक ही देह का त्याग करने की भावना से कार्य करता हुआ मोक्ष पथ पर आरूढ़ रहता है जिससे मृत्यु पूर्व साम्य परिणाम और मृत्यु पश्चात् सुखों को प्राप्त करता है।

सल्लेखना को नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं कानूनी मान्यता प्राप्त है। सल्लेखना करने वाले क्षपक के प्रति जगत में श्रद्धा और पूज्यता का भाव होता है, जबकि आत्महत्या करने वाले को नैतिक एवं सामाजिक रूप से निकृष्ट और पापी माना जाता है। धार्मिक दृष्टि से आत्महत्या महापाप मानी जाती है, कानूनी रूप से आत्महत्या करना अपराध की श्रेणी में भी आता है।

एक सैनिक युद्धस्थल में मृत्यु को निकट जानते हुए भी शत्रु के संहार एवं मृत्यु का यथाशक्य बचाव एवं प्रयत्न करने पर भी वह वीर गति को प्राप्त हो जाता है, लेकिन आत्मघाती तीव्र विषाद में यथाशक्य मृत्यु को ही प्राप्त करना चाहता है, सल्लेखना धारक क्षपक जीवन मरण के भावों से ऊपर उठकर जीवन में धारण किए

गये व्रतों का यथाशक्ति मृत्यु पर्यंत पालन कर साम्य भाव से देह त्याग देता है।

महापुरुष जीवन के अन्तिम समय में समाधिमरण को सहज भाव से धारण करने को तत्पर रहते हैं, कोई भी महापुरुष न तो आत्मघात करता है, ना ही आत्मघात को प्रेरित करता है। उल्लेख प्राप्त होता है विनोदा भावे ने मृत्यु को समीप जानकर सल्लेखना पूर्वक देह का त्याग किया था²⁶

अन्तरग एवं बाह्य क्रियाओं के कारण सल्लेखना को दो भागों में विभाजित करके आचार्यों ने कथन किया है—आत्म संस्कार के अनन्तर उसके लिए (श्रमण) ही क्रोधादि कषाय रहित हो अनन्त ज्ञानादि गुण लक्षण वाली परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों को कृश करना भाव सल्लेखना है एवं उस भाव सल्लेखना के लिए काय कलेष रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है इन दोनों रूप आचरण करना सल्लेखना काल है²⁷ जैन दर्शन के ग्रन्थों में सल्लेखना का बहुत विस्तार से उल्लेख है, सुधी पाठकों को संदर्भित ग्रन्थों का आलम्बन लेना चाहिए।

सल्लेखना लेने के कारणः

सल्लेखना कौन-कौन से कारण उपस्थित होने पर लेनी चाहिए। इस प्रकरण में इतिहास प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र स्वामी सल्लेखना के बारे में निप्रलिखित विचार प्रस्तुत करते हैं—

उपसर्गं दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतीकारे ।

धर्माय तनु विमोचन माहुः सल्लेखना मार्याः ॥²⁸

अप्रतिकार उपसर्ग आ जाने पर अर्थात् ऐसा उपसर्ग जिसका प्रतिकार न किया जा सके, मरण सम्भव लगने लगे, दुर्भिक्ष आने पर जब व्रतों का पालन सम्भव न हो, शरीर अत्यन्त कमजोर हो चला हो, इन्द्रियाँ काम करने में असमर्थ होने लगी हो, असाध्य रोग हो गया हो जिससे शरीर के कार्य करने की क्षमता क्षीण हो चली हो, तब श्रमण धर्म के पालन में देह के त्याग हेतु सल्लेखना ग्रहण करता है।

श्रमण अथवा गृहस्थ (श्रावक) सल्लेखना को अधिकतम 12 वर्ष पूर्व धारण कर शनै-शनै मृत्यु महोत्सव की तैयारी करता है तथा परिस्थिति जन्य सल्लेखना कम से कम अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट से कम समय) में भी धारण की जा सकती है।

सल्लेखना के काल में सजगता:

जैसे मंदिर का निर्माण शिखर पर कलशारोहण के साथ ही पूर्णता को प्राप्त होता है वैसे ही व्यक्ति के द्वारा जीवन में धारण किया गया संयम सल्लेखना पूर्वक

समाधिमरण के पश्चात् ही जीवन की सार्थकता का द्योतक होता है। इसलिए सल्लेखना के काल में सल्लेखना लेने वाले क्षपक को अत्यन्त सावधान और सजग होना आवश्यक होता है, क्षपक की एक चूंक जीवन भर की साधना को निष्क्रिय साधन में बदल सकती है, इसलिए क्षपक को सजग रहने के लिए निर्यापक आचार्य के निर्देशन में 48 मुनिराज क्षपक के साथ सजग और तत्पर रहते हैं, इतने मुनियों का सानिध्य न प्राप्त होने पर भी कम मुनि भी सल्लेखना करवा सकते हैं, अधिकतम 48 मुनि और कम से कम 2 मुनि भी सल्लेखना करा सकते हैं¹⁹

श्रमण के मूलगण:

मूलगण वे गुण हैं जो श्रमण द्वारा प्रारम्भ से ही प्रधान रूप धारण किये जाते हैं एवं इनका पालन करना अनिवार्य होता है। यद्यपि 'मूल' शब्द अनेक अर्थ में रहता है, फिर भी यहाँ मूल का अर्थ प्रधान लिया गया है, उसी प्रकार 'गुण' में विद्यमान अर्थ ग्रहण किया गया है। अतः उत्तरगुणों के लिए आधारभूत प्रधान अनुष्ठान को मूलगुण कहते हैं।

दिग्म्बर जैन परम्परा के श्रमण 28 मूलगुण का अनिवार्यतः निर्दोष पालन करते हैं तथा उत्तर गुणों का भी यथासम्भव पालन करते हैं, ऐसा माना जाता है, कि 28 मूलगुणों के निर्दोष पालन से ही 34 उत्तर गुणों का पालन हो सकता है।

28 मूलगुणों में 5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रिय निरोध, 6 आवश्यक (षडावश्यक), शेष 7 गुण सम्मिलित हैं।

पाँचमहाव्रत :

अहिंसा महाव्रत: मन से, वचन से, काय से (शरीर से) अहिंसा धर्म का पालन करना। किसी भी जीव को मेरे द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे ऐसी भावना सहित क्रिया करना।

सत्यमहाव्रत: पूर्ण रूप से सत्य धर्म का पालन करना वचन से सदैव सत्य भाषण करना, कर्कश, निष्ठुर, अप्रिय एवं सावद्य वचन का त्याग।

अस्तेयमहाव्रत (अचौर्य महाव्रत): ग्राम, नगर, मार्ग, स्थान आदि में किसी की भूली हुई, गिरी हुई, रखी हुई वस्तु को न लेना, न उसकी प्राप्ति की भावना करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत: अपनी और पर की देह से आसक्ति छोड़कर शुद्ध ज्ञान दर्शनादि स्वभाव रूप आत्मा में जो प्रवृत्ति करता है वह ब्रह्मचर्य महाव्रती है, वह दश प्रकार के अब्रह्मा का त्याग करता है—(1) स्त्री विषयाभिलाशा (2) वीर्य विमोचन (3) संसक्त द्रव्य सेवन (4) इन्द्रिय अवलोकन (5) स्त्री सत्कार (6) स्वशरीर संस्कार, (7) अतीत भोगों का स्मरण (8) अनागत भोगों की कामना (9) इष्ट

विषय सेवन ²⁰

अपरिग्रह महाव्रत (आकिंचन्यव्रत): सभी प्रकार के अन्तरंग और बाह्य परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है। इस प्रकार बाह्य परिग्रह संख्या की दृष्टि से दस प्रकार के तथा अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार के माने जाते हैं।

बाह्य परिग्रह: धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु (मकानादि) रूप (चांदी) सुवर्ण, कुप्प, भाण्ड (बर्तनादि) द्विपद (नौकर-चाकर) चतुष्पद (पशु जैसे—हाथी, घोड़ा, गाय आदि)।

अन्तरंग परिग्रह: मिथ्यात्व (अवास्तविक पर श्रद्धा करना) क्रोध, मान, माया, लोभ तथा नो कषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद)। इन परिग्रहों के प्रति इच्छा भी नहीं करने पर श्रमण के अपरिग्रह महाव्रत पालन होता है, मूर्च्छा का त्याग करना ही आकिंचन्य व्रत है।
पाँच समिति:

सम+इति दो शब्दों से मिलकर समिति की रचना हुई है, सम् का अर्थ है, सम्यकपूर्वक अथवा समीचीन रूप से, इति से तात्पर्य गति अर्थात् प्रवृत्ति करना सम्यक पूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। समिति के पाँच उपभेद किए गये हैं—

ईर्या समिति: प्रासुक मार्ग से दिन में आगे की तरफ चार हाथ (छः फुट) प्रमाण भूमि को देखकर तथा भूमि पर विचरण करने वाले जीवधारियों की रक्षा हो, मेरे द्वारा कष्ट न हो, ऐसी भावना से एक-एक पग आगे रखकर चलना, ईर्या समिति है।

भाषा समिति: चुगली करना, निंदा करना, आत्म प्रशंसा करना आदि का परित्याग करके हित-मित प्रिय वचन बोलना अर्थात् स्व पर के हित के लिए प्रिय वचनों को आवश्यकतानुसार मर्यादित रूप में बोलना भाषा समिति है।

एषणा समिति: दिग्म्बर जैन श्रमण को अपनी क्षुधा शान्त करने के लिए आहार कैसे ग्रहण करना चाहिए। इसका उल्लेख है उद्गम आदि 46 दोषों से रहित, कृत कारित अनुमोदना, नौ विकल्पों से रहित, भोजन में रागद्वेष रहित, समभाव से बिना निमंत्रण स्वीकार करें, विभा बेला पर (दिन के समय में) दाता द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक पड़गाहन करने पर भोजन करन। भोजन के अन्तरायों से, अंगार आदि दोषों से, भोज्य वस्तु सम्बन्धी शंका आदि दोषों से तथा उद्गम और उत्पादन आदि 46 दोषों से रहित वीर चर्या के द्वारा प्राप्त पूप रुधिर आदि दोषों से तथा अधः कर्म नामक महान हिंसा दोषों से रहित, भाव से शुद्ध अपना और पर का उपकार करने वाले शरीर की स्थिति को बनाए रखने में समर्थ विधिपूर्वक भक्ति के साथ (नवधा भक्ति पूर्वक) ब्राह्मण, क्षत्रिय और सत्यूदृ के द्वारा दिया गया भोजन समय पर शीत

उष्ण आदि में समान भाव से उचित प्रमाण में आहार लेने वाला तपस्वी (दिग्म्बर जैन श्रमण) एषणा समिति का पालक होता है³¹

आदान निक्षेपण समिति: पिछ्छी, कमंडलु, शास्त्र तथा ज्ञान के उपकरण आदि को सावधानी पूर्वक देखभाल कर शोध कर (मार्जन करके) उठाना और रखना आदान निक्षेपण समिति है।

उत्सर्ग समिति अथवा प्रतिष्ठापन समिति: एकान्त हरित व त्रसकाय रहित, गुप्त, दूर, बिल रहित, चौड़े व लोक निन्दा तथा विरोध रहित स्थान में मल मूत्र का क्षेपण करना उत्सर्ग अथवा प्रतिष्ठापन समिति है³²

पञ्चेन्द्रिय निरोध अथवा पञ्चेन्द्रिय जय: आचार्य योगीन्दुदेव ने परमात्म प्रकाश में लिखते हैं 'ये पञ्चेन्द्रिय विषय क्षणभंगुर हैं, बारम्बार दुर्गति के दुःख देने वाले हैं, उन विषयों का सेवन अपने कन्धे पर कुलहाड़ी मारने जैसा है। इसी कारण दिग्म्बर जैन श्रमण पञ्चेन्द्रियों कि विषयों पर विजय प्राप्त करते हैं। तथा परमसुख में ठहर कर निरन्तर शुद्धोपयोग कर भाव करते हैं'³³

1. स्पर्शन इन्द्रिय निरोध: जीव और अजीव से उत्पन्न हुए कठोर, नरम, ठंडा, गर्म आदि आठ भेदों में स्पर्शन इन्द्रिय जन्य विषय में सुख अथवा दुःख रूप भाव नहीं करना अथवा हर्ष विषाद नहीं करना।

2. रसना-इन्द्रिय निरोध: जिह्वालम्पटा के त्याग सहित खट्टा मीठा कडवा कषायला आदि स्वाद में रसना इन्द्रिय विषय में रुचि अरुचि बिना प्रासुक एवं निर्दोष भोजन को ग्रहण करना।

3. घ्राण-इन्द्रिय निरोध: प्राकृतिक एवं निमित्तक गंध के सुगंध दुर्गंध रूप में घ्राण इन्द्रिय विषय भूत पदार्थों में राग द्वेष नहीं करना।

4. चक्षु-इन्द्रिय निरोध: चेतन एवं अचेतन पदार्थों को देखकर सुन्दर व असुन्दर वर्ण आकारादि से भेदकर राग द्वेष रूप परिणाम न करना।

5. कर्णेन्द्रिय - निरोध: सात स्वर आदि शब्द तथा ढोलक वीणा आदि से उत्पन्न ध्वनि में मधुर कर्कश भेद करके रागद्वेष रूप परिणाम न करना।

श्रमण के घडावश्यक:

श्रमण (साधु) को अपने उपयोग की रक्षा के लिए नित्य ही छः क्रियाएँ करनी आवश्यक हैं, इन्हें घडावश्यक कहा जाता है।

समता या सामायिक: जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियाग, सुख, दुःख, भूख-प्यास आदि में साम्य भाव रखना सामायिक या समता है।

स्तुति: आदि तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर वर्तमान तीर्थकर महावीर स्वामी तक 24 तीर्थकरों के गुणों का स्तवन करना स्तुति है।

बंदना: चौबीस तीर्थकरों में से किसी एक तीर्थकर की एवं पंचपरमेष्ठियों में से किसी एक की स्तुति करना बन्दना है।

प्रतिक्रमण: ब्रतों के पालन में लगे दोषों की आलोचना तथा निन्दा गर्हा करना प्रतिक्रमण है। साथु जन दिन में तीन बार प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण सात प्रकार के होते हैं—दैवसिक रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, संवत्सरिक (वार्षिक), उत्तमार्थ, प्रतिक्रमण।

प्रत्याख्यान: आगामी काल में दोष न करने की प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान है अथवा सीमित काल के लिए आहार आदि का त्याग करना प्रत्याख्यान है।

कायोत्सर्ग: परिमितकाल (सीमित समय) के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग से शरीर की शक्ति शिथिल हो जाती है तथा आत्मिक शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

शेष सात गुण:

उपर्युक्त मूलगुणों के अतिरिक्त मुनियों को शेष सात गुणों का पालन भी अनिवार्य होता है, तब ही 28 मूल गुण पूर्ण होते हैं, ये सात गुण हैं—

अस्नानब्रत: मुनियों के स्नान करने का त्याग होता है, क्योंकि स्नान से शरीर पर रहने वाले सूक्ष्म जीवों के घात होने की संभावना होती है, अतः उनके अस्नान ब्रत होता है।

भूमि शयन: रात्रि में एक करबट से थोड़ा शयन करने के लिए भूमि, शिला, सूखेतृण या लकड़ी का ही उपयोग करना विस्तर आदि पर शयन न करना।

अचेलकत्व: किसी भी प्रकार से वस्त्र, पत्र, चर्म, आदि से शरीर को न ढकना अचेलकत्व गुण है, यह गुण दिग्म्बर जैन श्रमणों में पुरुष श्रमणों में ही होता है।

केशलोंच: दो माह से लेकर चार माह के मध्य में किसी भी दिन प्रतिक्रमण एवं उपवास सहित अपने हाथों से सिर दाढ़ी एवं मूँछों के केशों को उखाड़ना केशलोंच गुण हैं, महिला साध्वी भी अपने हाथों से सिर के केशों को उखाड़ फेंकती है।

अदंत धावन : अंगुली, नख, दातुन, छाल, मंजन आदि से दांतों को साफ नहीं करते हैं क्योंकि दांतों के मध्य रहने वाले सूक्ष्म जीवों को घात हो सकता है।

स्थिति भोजन: बिना किसी पात्र (बर्तन) के अपने हाथों को भोजन पात्र बनाकर दीवाल आदि आश्रय रहित चार अंगुली के अन्तर से समपाद खड़े होकर आहार ग्रहण करना।

एकभुक्ति या एकभक्त: दिन रात में सूर्योदय के 72 मिनट पश्चात् एवं सूर्यास्त के 72 मिनट पूर्व (3 घड़ी) में एक बार भोजन करना, एक भुक्ति गुण है।

उपर्युक्त 28 मूलगुणों का दिगम्बर जैन श्रमण को पालन करना अनिवार्य है, साधिवयाँ भी अचेलकत्व के अतिरिक्त शेष 27 मूलगुणों का पालन करती हैं।

इन्हीं 28 मूलगुणों की रक्षा के लिए 22 परिषह सहन एवं 12 प्रकार के तप (छः अन्त रंग और छः बहिरंग) को 34 उत्तरगुणों में सम्मिलित किया है, वे निम्नलिखित हैं।

उत्तरगुणः

28 मूल गुणों के अतिरिक्त दिगम्बर जैन श्रमण के 34 उत्तरगुण भी होते हैं जिनका पालन मूलगुणों की अपेक्षा अनिवार्य नहीं होता लेकिन साधुजन इन उत्तरगुणों के प्रति बहुमान रखते हुए यथासम्भव पालन करने का प्रयास करते हैं। 34 उत्तरगुणों में 22 प्रकार के परिषह सहन करना और 12 प्रकार के तप तपना सम्मिलित हैं—

बाईस परिषह जयः दिगम्बर जैन श्रमण परिषह जय करते हैं इनकी संख्या 22 होती है, आचार्य उमा स्वामी तत्त्वार्थ सूत्र में साधु के लिए परिषह जय का कारण प्रस्तुत करते हैं—

मार्गाच्यवनः निर्जरार्थ – परिषोडव्याः परिषहाः अर्थात् मार्ग से च्युत न होने के लिए जो सहन करने योग्य हो वे परिषह हैं। आगे के सूत्र में वह परिषहों के नामों का उल्लेख करते हैं। क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंसमषक – नागनारित – स्त्री-चर्या – निषद्या – शश्या क्रोश – बध – याचना – लाभ-रोग – तृण स्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार – प्रज्ञा-ज्ञाना-दर्शनानि³⁴

क्षुधा परिषह जयः निर्दोष भोजन प्राप्त हो तब ही भोजन करना अन्यथा समतापूर्वक अनेक दिनों तक भूख सहन करना अथवा उपवास कर लेना क्षुधा परिषह जय है।

पिपासा परिषह जयः भीषण गर्भी में भी नंगे तन चलने पर भी निर्दोष भोजन के साथ एक बार ही जल ग्रहण करना, नहीं मिले तो प्यासे ही रहना पिपासा परिषह जय है।

शीत परिषह जयः अत्यन्त शीत के समय पर भी नग्न रहकर शीत को सहन करते हैं, देह पर पाला अथवा ओस जम जाने पर भी उसे नहीं हटाते हैं, यह शीत परिषह जय है।

उष्ण परिषह जयः तीव्र गर्भी का प्रतिकार नहीं करते, अनशन (उपवास) में भी दावाग्नि जन्य दाह आतप आदि के कारण गला सूखने पर भी उसके प्रतिकार के हेतुओं को जानते हुए भी उनका चिन्तन तक नहीं करते। उष्ण परिषह जय है।

दंश मशक परिषह जयः साधुजन दीमक, चींटी, कीट, मक्षिका, मधुमक्खी, बिच्छु, सर्प, आदि के उपद्रव को भी समता से सहन करते हैं।

राजा श्रेणिक द्वारा यशोधर मुनि के गले में मृत सर्प डालने पर उनके शरीर पर हजारों चीटियों के द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाने पर भी अपने आसन से नहीं हिले। इस काल में भी आचार्य शान्ति सागर को सामायिक के काल में एक विशाल सर्प आकर लिपट जाता है, तो भी वे अपनी सामायिक से च्युत न होकर यथा स्थान यथा आसन पर बैठे रहे। ऐसे ही अनेक-अनेक प्रसंग हैं दंश मशक परिषह जय के।

नग्नता परिषह जयः सदैव यथाजात बालक अवस्था की तरह नग्न तथा अविकारी रहना नग्न परिषह जय है।

अरति परिषह जयः इन्द्रिय विषयों से विरत रहकर विषय भोग की कथाओं से दूर गीत, संगीत, बादियंत्र से दूर शून्य स्थान में रहकर आत्म चिन्तन आदि करना, अरति परिषह जय है।

स्त्री परिषह जयः नव यौवना सुन्दर स्त्री के बाधा पहुँचाने पर भी अपनी इन्द्रियों को कछुए की तरह समेट लेते हैं, स्त्री परिषह जय है।

चर्या परिषह जयः देश काल के अनुसार संयम के साथ गमनागमन करते हैं, जो खड़ाऊ आदि पदरक्षक वस्तुओं के उपयोग के बिना ही नंगे पैर गमन करते हैं, पाषाण, कंकड़, पत्थर, कांटे आदि के लगाने से उत्पन्न पीड़ा से विचलित नहीं होते, यान-वाहन आदि का स्मरण भी नहीं करते, यह चर्या परिषह जय है।

निषद्या परिषह जयः बन, पर्वत, गुफा, शून्यागार (सूने भवन), आदि में सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं में नियत काल तक आसन लगाकर (निषद्या पूर्वक) बैठते हैं अथवा खड़े होते हैं, अनेक आसनों को स्थिरता से धारण करते हुए जरा भी शरीर को चलायमान नहीं करते हैं। सिंह, व्याघ्र, व्याल आदि के उपसर्ग से भी आसन से नहीं छिगते हैं, ऐसे मुनियों के निषद्या परिषह जय होता है।

शश्या परिषह जयः रात्रि में एक ही करवट से अल्पनिद्रा को प्राप्त करते हैं, करवट नहीं बदलते हैं, यह शश्या परिषह जय है।

आक्रोश परिषह जयः अज्ञानी जीवों के निन्दा रूप, अवज्ञा कारक, असभ्य वचनों के प्रतिकार की क्षमता होने पर भी शान्त भाव से सहन कर लेते हैं, आक्रोश परिषह जय है।

बध परिषह जयः जो मुनि तीक्ष्ण शस्त्र, मुद्गार, मूसल आदि के द्वारा पीड़ित होने पर भी, मारने वाले पर रंचमात्र भी कलुषता नहीं करते, शान्त भाव से सहन करते हैं तथा शत्रु मित्र में हमेशा सम्भाव रखते हैं, बध परिषह जय है।

याचना परिषह जयः प्राणों का वियोग होने की स्थिति में भी आहार, औषधि, वस्तिका आदि के लिए दीन होकर याचना नहीं करते हैं, याचना परिषह जय है।

अलाभ परिषह जयः दिवस में एक बार निर्दोष भोजन करते हैं, यदि

किसी प्रकार से अन्तराय अथवा अलाभ हो जाए और वे मुनिराज भोजन न कर सकें अथवा अल्प भोजन ही ग्रहण कर सके तो ऐसे में अलाभ को तप का हेतु मानकर लाभ की तरह ही भाव रखते हैं यह उनके अलाभ परिषह जय है।

रोग परिषह जय: शरीर की प्रकृति के विरुद्ध वातादि विकार रूप रोग उत्पन्न हो जाते हैं, अनेक व्याधियों के प्रकोप होने पर भी जल्लोषधि, सर्वोषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ होने पर भी जिनसे अपना तथा अन्य का शरीर स्वस्थ हो जाता है, उन ऋद्धियों का उपयोग न करते हुए देह की अशुचिता का चिन्तन करते हैं ‘यह शरीर रोग का घर है, अनित्य है’, आदि प्रकार से समता भाव से आत्मचिन्तन करते हैं, रोग परिषह जय कहलाता है।

तृणस्पर्श परिषह जय: सूखा तिनका, कठोर कंकड़, कांटा, तीक्ष्ण मिट्टी शूल आदि के बिन्धने से पैरों में वेदना होने पर भी चित्त चलायमान नहीं करते, यह तृणस्पर्श परिषह जय है।

मल परिषह जय: जलकायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए जिन्होंने मरण पर्यंत अस्नान ब्रत स्वीकार किया है, तीक्ष्ण सूर्य की किरणों जनित तप से उत्पन्न हुए पसीने में जिनके देह से मल चिपक गया है, उस मल (मेल) में किसी प्रकार का विकल्प नहीं करते यह मल परिषह जय है।

सत्कार पुरस्कार परिषह जय: मैं महा तपस्वी हूँ, मैंने बहुत बार पर वादियों को जीता है तो भी कोई मुझे उत्साह से आसन नहीं देता, कोई मुझे नमस्कार नहीं करता, मेरी भक्ति नहीं करता। इन भावों से मुक्त होना सत्कार पुरस्कार परिषह जय है।

प्रज्ञा परिषह जय: मैं अंग पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ तथा शब्द शास्त्र, न्याय शास्त्र और अध्यात्म शास्त्र में निपुण हूँ मेरे आगे दूसरे जन कुछ भी ज्ञान वान नहीं हैं, इस प्रकार का जो ज्ञान मद होता है, उसका निरास होना (निरसन होना) प्रज्ञा परिषह जय है।

अज्ञान परिषह जय: यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता है पशु के समान है, इत्यादि तिरस्कार के वचनों को साधुजन सहन करते हैं मैंने परम दुष्कर तप का अनुष्ठान किया है, फिर भी मुझे ज्ञान का अतिशय प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार विचार नहीं करना अज्ञान परिषह जय है।

अदर्शन परिषह जय: परम वैराग्य की भावना से मेरा हृदय शुद्ध है मैंने समस्त पदार्थों के रहस्य को जान लिया है, मैं अरहंत, सिद्ध आचार्य साधु और धर्म का उपासक हूँ, चिरकाल से प्रव्रजित हूँ, तो भी मेरे ज्ञान का अतिशय अभी तक प्रकट नहीं हुआ। यह प्रव्रज्या (दीक्षा) अनर्थक है, ब्रतों का पालन निरर्थक है, इत्यादि बातों का दर्शन विशुद्धि के योग से मन में विचार नहीं करते, अदर्शन परिषह जय है।
तप:

तप दो प्रकार के होते हैं, 1. बाह्य तप 2. आभ्यन्तर तप

बाह्य तप:

आचार्य उमा स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में बाह्य तप का इस प्रकार उल्लेख किया है, अनशनावमौदर्य वृत्ति-परिसंख्यान-रस परित्याग विविक्त शव्यासन कायकलेशा बाह्य तपः। अर्थात् अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शव्यासन और काय कलेश

अनशन तप: अनशन का अर्थ है उपवास अर्थात् चारों प्रकार के आहार का त्याग -(खाद्य, लेह, पेय, स्वाद, का पूर्ण रूप से त्याग)

अवमौदर्य तप: भूख से कम खाना अवमौदर्य है। इसे उनोदर भी कहा जाता है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप: भिक्षा के इच्छुक मुनि का एक घर या वस्तु आदि विषयक संकल्प। जैसे—ऐसा होगा तो आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा आज आहार नहीं करेंगे। यह वृत्तिपरिसंख्यान है।

रस परित्याग तप: घृत आदि गरिष्ठ रसों का त्याग करना रस परित्याग है।

विविक्त शव्यासन तप: जीवों की पीड़ा से मुक्त शून्य घर, गुफा, कन्दरा आदि में शयन करना विविक्त शव्यासन है।

काय कलेश तप: साम्यभाव धारण कर शरीर को कष्ट देने वाले सात्त्विक तप करना कायकलेश है।

आभ्यन्तर तप:

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार कथन किया है—प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यानानयुत्तरम्। अर्थात् प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान (यह छह) आभ्यन्तर तप हैं।

प्रायश्चित्त तप: प्रमाद जन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित्त तप है।

प्रायश्चित्त तप के 9 प्रकार होते हैं:

आलोचना: गुरु के समक्ष 10 दोषों को टालकर अपने दोषों का निवेदन करना आलोचना नामक प्रायश्चित्त तप है।

प्रतिक्रमण: गुरु के समक्ष मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन करना प्रतिक्रमण या प्रश्चित्त कहलाता है।

तदुभय: गुरु आज्ञा से शिष्य प्रतिक्रमण करता है उसके द्वारा जो आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है, तदुभय प्रायश्चित्त कहलाता है।

विवेक: जिस वस्तु के न खाने का नियम हो उस वस्तु के बर्तन या मुख में आ जाने पर अथवा जिन वस्तुओं से कषाय उत्पन्न हो उन सब वस्तुओं का त्याग कर देना विवेक नामक प्रायश्चित्त तप है।

व्युत्सर्गः नियत काल पर्यंत शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति का त्याग कर देना व्युत्सर्ग प्रायश्चित तप है।

तपः उपवास आदि छह प्रकार का बाह्य तप तप प्रायश्चित है।

छेदः दिन, मास, वर्ष आदि समयावधि का दीक्षाकाल छेद अथवा कम कर देना छेद प्रायश्चित तप है। किसी दोष विशेष के कारण गुरु अपने वरिष्ठ शिष्य की दीक्षा काल कम कर देता है जिससे वरिष्ठ शिष्य कनिष्ठ शिष्य माना जाता है।

परिहारः दिन, मास, वर्ष आदि नियत काल तक शिष्य को संघ के पृथक कर देना परिहार नामक प्रायश्चित तप है।

उपस्थापना: महाब्रतों का मूलोच्छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना नामक प्रायश्चित तप है।

प्रायश्चित करने से व्रतों की शुद्धि होती है, भावों की शुद्धि होती है, धर्म में दृढ़ता आदि होती है अतः निर्दोष व्रतों की आराधना करने की इच्छा वाले आराधक को नव प्रकार का प्रायश्चित अवश्य ही करना चाहिए।

विनय तपः

यह द्वितीय प्रकार का आभ्यन्तर तप है, विनय तप के चार भेद कहे गये हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्रौपचारा³⁵ अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्र उपचार यह चार भेद विनय तप के कहे गये हैं।

ज्ञान विनयः बहुत आदर के साथ मोक्ष के लिये ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञान विनय है।

दर्शन विनयः शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित तत्वार्थ श्रद्धान करना दर्शन विनय है।

चारित्र विनयः निर्दोष चारित्र का पालन करना चारित्र विनय है।

उपचार विनयः आचार्य उपाध्याय आदि को देखकर खड़े होना, उनके पीछे-पीछे चलना उन्हें नमस्कार करना, उनके परोक्ष होने पर मन, वचन, काय से नमस्कार करना उनके गुणों का स्मरण करना आदि उपचार विनय है। विनय तप से चारित्र विशुद्ध होता है। सम्यक्, आराधना सिद्ध होती है तथा मुक्ति का द्वार खुलता है, इसीलिये कहा है ‘विणयो मोक्षद्वारं।’

वैयावृत्त तपः

वैयावृत्त तप दस प्रकार का कहा गया है।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्। इन दस प्रकार के साधुओं की वैयावृत्त करना। वैयावृत्त भेद की अपेक्षा वैयावृत्त दस प्रकार का है।

दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति में साधुओं के उनके आधात्मिक और चारित्रिक स्तर अनुसार श्रमणों के भेद किए गये हैं, जिनको दिगम्बर जैन श्रमणों के प्रकार में उल्लिखित किया गया है। इन दस प्रकार के मुनियों को व्याधि होने पर प्रासुक औषधि, भक्त पान आदि (भोजन, पानी आदि) पथ्य, वस्तु, स्थान, संस्तर आदि के द्वारा उनकी वैयावृत्त करनी चाहिए एवं आवश्यकतानुसार श्लेष्म, मल-मूत्र आदि को तन से साफ कर उनके अनुकूल वैयावृत्त करना चाहिए। ग्लानि को जीते बिना, मान को जीते बिना वैयावृत्त कभी नहीं हो सकती। इसलिए वैयावृत्त को अन्तरंग तप कहा गया है।

स्वाध्याय तपः

वाचना पृच्छनानु प्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशः³⁶ वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश स्वाध्याय के पाँच भेद हैं:

वाचना: आगम ग्रन्थों (निर्दोष ग्रन्थों) का शुद्ध शब्द और अर्थ दोनों का पढ़ना वाचना स्वाध्याय है।

पृच्छना: पृच्छना अर्थात् पूछना। संशय के निवारण हेतु पूछना अथवा तत्त्व चर्चा करना, पृच्छना स्वाध्याय है।

अनुप्रेक्षा: जाने हुए शब्द का अर्थ का पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

आम्नायः उच्चारण के शुद्धि पूर्वक पाठ को पुनः-पुनः दुहराना आम्नाय है।

धर्मोपदेशः धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना (कहना, प्रवचन करना) स्वाध्याय है।

स्वाध्यायः स्वाध्याय से प्रज्ञा का विकास, उत्कृष्ट संवेग, प्रशस्त अध्यवसाय, आचार की विशुद्धि, तप की वृद्धि, संशय की समाप्ति, मिथ्या मत का खंडन और सम्यकत्व में दृढ़ता आदि होती है।

व्युत्सर्ग तपः

बाह्याभ्यन्तरोन्पध्योः³⁷ बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि का त्याग व्युत्सर्ग तप कहाजाता है। व्युत्सर्ग का अर्थ है व्युत्सर्जन करना अर्थात् आत्मा से एकत्व को प्राप्त नहीं होने वाली सभी बाह्य वस्तुओं का त्याग जैसे धन, धान्य, वास्तु आदि तथा अन्तरंग विभाव क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों एवं देह के प्रति ममत्व भाव का जीवन भर अथवा नियत काल तक के लिए त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग तप से निस्संगता, निर्भयता प्राप्त होती है तथा आशा (इच्छा) का परिहार होता है।

ध्यानः

उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्ता-निरोधो ध्यानमान्तर्मुहुर्तात्³⁸

अर्थात् उत्तमसंहनन (वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन) वाले के एक विषय में लगातार चित्त की वृत्ति रोकना या लगाना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है। ज्ञान का निश्चयपना ध्यान है। यहाँ शुभध्यान को ही तप के अन्तर्गत माना गया है। ध्यान पुरुषार्थ पूर्वक किया जाता है, ऐसा श्रेष्ठ ध्यान करने वाले अन्तर्मुहूर्त में ही घातियाकर्मों नाश कर केवलज्ञान सहित अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य को प्राप्त कर लेते हैं।

ध्यान के चार भेद होते हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसार में वृद्धि करते हैं इसलिये यह ध्यान तप में गर्भित नहीं होते हैं जबकि पुरुषार्थ पूर्वक किए गये धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष पथ को प्रदर्शित करते हैं। जैन श्रमण संस्कृति में ध्यान का बहुत विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है।

श्रमण के भेदः

जैन श्रमण संस्कृति में श्रमणों के चारित्र, ज्ञान एवं पद की अपेक्षा से 4 भेद होते हैं, अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन्हें परमेष्ठी कहा जाता है तथा 'सिद्ध' अवस्था श्रमण की परम निर्वाण फल अवस्था है इसको मिलाकर परमेष्ठी पञ्च परमेष्ठी कहलाते हैं, पञ्च परमेष्ठी दिगम्बर जैन संस्कृति के प्राण हैं, महामंत्र णमोकार में इन पाँचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। श्रुत लिपिबद्ध होने के पूर्व से यह मंत्र श्रुतपरम्परा में युग के आदि से विद्यमान था।

अरिहंत (अर्हन्त):

श्रमणों में अत्यन्त श्रेष्ठ पद माना गया है, अरिहंत पद साधु की अन्तिम परिणति का पद है, जिसमें कर्मों का नाश कर परमात्मा होकर जन्म मरण से मुक्त होकर जीव को सिद्ध अवस्था प्राप्त होने वाली होती है। अरिहन्त 18 दोषों से रहित तथा चार अनन्त चतुष्टय, अष्ट प्रातिहार्य एवं चौंतीस अतिशय से युक्त होते हैं³⁹

अरिहंत के अरहंत, अर्हन्त, जिन, सकलपरमात्मा, सयोगकवली जैसे समानार्थी नाम भी प्राप्त होते हैं। अति प्राचीन ग्रन्थ ध्वला में अरिहन्त की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अतिशय पूजा के योग्य होने से अर्हत संज्ञा प्राप्त होती है⁴⁰, इसी प्रकार की व्याख्या साधुओं का नियमावली ग्रन्थ मूलाचार में प्राप्त होती है—जो नमस्कार करने योग्य है, पूजा के योग्य है और देवों में उत्तम हैं वे अर्हत हैं। तथा वंदना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा और सत्कार के योग्य हैं, मोक्ष जाने के योग्य हैं इस कारण से अर्हत कहे जाते हैं⁴¹

सामान्यता अरिहंत दो प्रकार के होते हैं: तीर्थकर और सामान्य। विशेष पुण्य सहित अरिहंत जिनके कि पाँच कल्याणक महोत्सव मनाए जाते हैं, तीर्थकर कहलाते हैं⁴² शेष सर्व सामान्य अरिहंत कहलाते हैं तीर्थकरों के ही पाँच कल्याणक होते हैं।

गर्भ कल्याणकः तीर्थकर भगवान महान पुण्यशाली जीव होते हैं, उन्हें जगत का सम्पूर्ण वैभव प्राप्त करने की क्षमता होती है, तीर्थकर के गर्भ में आने के पूर्व से लेकर जन्म के 9 माह तक कुल 15 माह तक उनके जन्म स्थान पर कुबेर द्वारा प्रतिदिन रत्नों की वर्षा की जाती है। दिक्क कुमारी देवियाँ माता की परिचर्या व गर्भ शोधन करती हैं तथा तीर्थकर के गर्भ में आने के पूर्व में (माता को) रात्रि में 16 उत्तम स्वप्न आते हैं⁴³

जन्म कल्याणकः तीर्थकर के जन्म होने पर सभी देव सौर्धम इन्द्र के निर्देशन में जन्म महोत्सव मनाने पृथ्वी पर आते हैं, कुबेर नगर की शोभा करते हैं, इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाती है, माता को मायानिद्रा में सुलाकर एक मायामयी पुतला लियाकर बालक भगवान (तीर्थकर बालक) को लाकर इन्द्र की गोद में देती है, इन्द्र ऐरावत हाथी पर बालक को बैठाकर सुमेर पर्वत पर ले जाता है, वहाँ पांडुकशिला पर तीर्थकर का क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया जाता है, इन्द्र तांडव नृत्य आदि मायामयी आश्चर्य कारी लीलाएँ करते हुए प्रसन्न होते हैं, पश्चात् बालक को माता के लिए सौंपकर समस्त देव देवलोक चले जाते हैं⁴⁴

तप कल्याणकः कुछ काल तक राज्यादि का भोगकर किसी एक दिन वैराग्य के आने पर संसार की असारता को समझकर वन जाने हेतु उद्यत होते हैं। कुबेर द्वारा तैयार पालकी में बैठकर वे तपोवन में पहुँचकर वस्त्रालंकार आदि का त्यागकर दिगम्बर होकर अपने हाथ से अपने बालों को उखाड़ देते हैं तथा 'ऊँ नमः सिद्धेभ्यः' कहकर स्वयं दीक्षा लेकर वेला-तेला (दो दिन के उपवास अथवा तीन दिन के उपवास) का नियम लेकर एक शिला पर बैठ जाते हैं, नियम पूर्ण होने पर आहार हेतु निकलते हैं।

ज्ञान कल्याणकः तीर्थकर भगवान को तपस्या उपरान्त आत्मचिन्तन करते समय चारघातिया कर्मों के नाश के साथ ही केवलज्ञान (सर्वश्रेष्ठ ज्ञान) प्रगट हो जाता है तथा वे अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य से युक्त हो जाते हैं, कुबेर इन्द्र की आज्ञा से समवशरण की रचना करता है जिसमें 12 सभाएँ होती हैं, इन सभा स्थलों पर देव, मनुष्य, साधु, अर्थिकाएँ, पशु यथास्थान बैठकर तीर्थकर के सर्वांग से निकले उपदेश को जो गणधर द्वारा विश्लेषण कर कहा जाता है, इसे दिव्य ध्वनि कहते हैं।

तीर्थकर को केवलज्ञान होते ही उनकी देह परम पवित्र हो जाती है तथा गोलाकार बने समवशरण में तीर्थकर भगवान चारों दिशाओं से एक जैसे ही दिखाइ देते हैं। सभा अष्ट प्रातिहार्य अष्टमंगल द्रव्य से सुशोभित होती है तथा चौबीस तीलियों वाला धर्मचक्र सभामंडप की शोभा बढ़ाता है, समवशरण में चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ हुआ करते हैं। तीर्थकर के विहार के समय देवों द्वारा धर्मचक्र को

आगे-आगे ले जाया जाता है, समवशरण में एक दूसरे के विरोधी जीव जैसे—शेर-हिरण आदि एक साथ बैठकर भगवान की दिव्य ध्वनि को श्रवण करते हैं तथा अपनी-अपनी पात्रानुसर उसे ग्रहण करते हैं।

मोक्ष कल्याणक: आयु के अन्तिम समय आने पर भगवान उत्कृष्ट ध्यान करते हुए योग निरोध द्वारा चार अघातिया कर्मों का नाश कर देते हैं तथा लोक के अग्र भाग में वेदेही होकर अनन्त काल के लिए विराजमान हो जाते हैं। देवता आकर उस स्थान पर देह के शेषांश का यथायोग्य संस्कार करते हैं।

केवली: ऐसे साधु मुनि जिन्होंने अपने तप के फल से शुद्धात्मा को पहचान कर उसका चिन्तन एवं ध्यान करते हुए चार घातिया कर्मों को समाप्त कर दिया है तथा केवल ज्ञान को प्राप्त कर लिया है अरिहंत को भी केवली कहा जाता है जिनकी निम्न प्रकार की संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं-

अन्तकृत केवली: जो मुनि केवलज्ञान प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त काल में (अल्प समय में) देह को त्यागकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, अन्तकृत केवली कहे जाते हैं।

उपसर्ग केवली: ऐसे मुनि जिनके द्वारा उपसर्ग सहन करते हुये केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, उपसर्ग केवली कहलाते हैं।

मूक केवली: ऐसे मुनि जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी वे उपदेश नहीं देते, मूक केवली कहलाते हैं।

अनुबद्ध केवली: एक केवलज्ञानी साधु को मोक्ष हो जाने पर दूसरे मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हो जाने वाले अनुबद्ध केवली कहे जाते हैं। जैसे—महावीर स्वामी के निर्वाण (मोक्ष) जाने पर गौतमगणधर को तथा गौतमगणधर के मोक्ष जाने पर श्रीधर को केवलज्ञान का होना।

समुद्घात केवली: केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त (कम) रहने और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहने पर वे शेष कर्मों की स्थिति आयु कर्म के बराबर करने के लिए समुद्घात करते हैं, ऐसे मुनि समुद्घात केवली कहलाते हैं।¹⁵

आचार्यः

जो संघ के संग्रह (दीक्षा) और निग्रह (शिक्षा/प्रायश्चित) देने में कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण (आचरण) वारण (निषेध) और साधन (ब्रतों की रक्षा करने वाली क्रिया) में निरन्तर उद्यत हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहा जाता है।¹⁶ यह आचार्य श्रमणों में श्रेष्ठता को प्राप्त पद है, आचार्य अपने श्रमण संघ के नायक होते हैं, वे दीक्षा देकर और यथायोग्य प्रायश्चित देकर श्रमणों के मोक्षपथ में सहायक होते हैं।

जो दर्शन ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं एवं दूसरे साधुओं से कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।¹⁷

मूलाचार ग्रन्थ में आचार्य परमेष्ठी के निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया गया है, आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, आपायदर्शनोद्योत, उत्पीलक होता है तथा अपरिश्रावी, निर्वापक, प्रसिद्ध, कीर्तिमान और निर्यापक के गुणों से परिपूर्ण होते हैं। बोध पाहुण टीका में आचार्य को आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित, आसनादि, आयापायकथी, दोषभाषक, अत्रावक, सन्तोषकारी, निर्यापक ये अष्ट गुण तथा अनुद्विष्ट भोजी शय्याशन और आरोग्य भुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठ सद्गुण, प्रतिकर्मी षण्मासयोगी, दो निषद्यक, 12 तप, 10 धर्म, 3 गुसि, 5 आचार तथा 6 आवश्यक सहित 36 गुणों से युक्त कहा गया है।¹⁸

उपाध्यायः

वे श्रमण जो पठन पाठन में युक्त हैं, जिन्हें 11 अंग एवं 14 पूर्व का ज्ञान होता है वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं, श्रमण के 28 मूलगुणों के अतिरिक्त इनमें 25 गुण और भी होते हैं। ध्वला ग्रन्थ में उपाध्याय के गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है। चौदह विद्यास्थानों के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरो अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आचरण में श्रेष्ठता सहित परम्परा से प्रवाह मान श्रुत आगम का ज्ञान तथा व्याख्यान करने की योग्यता जिन साधुओं में होती है, उन्हें उपाध्याय की श्रेणी में मान्य किया जाता है।

साधु : अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय एवं गणधर, केवली, श्रुत केवली आदि अनेक नामों से विभूषित अथवा पदधारी, सभी साधु श्रमण अथवा साधु की ही श्रेणी में ही माने जाते हैं। लोक में इनकी संख्या 3 कम 9 करोड़ हो सकती है, अर्थात् 8 करोड़ 99 लाख 99 हजार 997 साधु सम्पूर्ण लोक में अधिकतम् एक साथ हो सकते हैं। साधुओं के आगम में पुलाक वकुश, कुशील, निग्रन्थ और स्नातक पाँच भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁹ इनमें से अनेक साधु अपने तप के माध्यम से अनेक प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं। कभी-कभी तो साधुओं को यह ऋद्धियाँ प्रकट होने पर भी उनके ज्ञान में नहीं आती, कारण साधु इन ऋद्धियों का सांसारिक कार्य में उपयोग करना उचित नहीं मानते। भीषण उपसर्ग और परिषहों से युक्त साधुओं का तप मात्र मोक्ष प्राप्ति हेतु ही होता है।

ऋद्धियाँ:

यह ऋद्धियाँ 8 प्रकार की होती हैं, जिनके भेद प्रभेद होने पर इनकी संख्या 64 हो जाती हैं, अतः लोक में 64 ऋद्धियाँ प्रसिद्ध हैं। दिग्म्बर साधुओं में से

किन्हीं-किन्हीं साधुओं में एक से अधिक ऋद्धियाँ तप के प्रभाव से प्रकट हो जाती हैं।

बुद्धि ऋद्धि:

बुद्धि ऋद्धि के उसके स्वभावानुसार 18 भेद होते हैं।

केवल ज्ञान ऋद्धि: त्रिकाल के समस्त रूपी अरूपी पदार्थ अपने गुण पर्याय सहित प्रकट दृष्टव्य होते हैं।

मनः पर्ययज्ञान ऋद्धि: दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जान लेना यह मनः पर्यय ऋद्धि है, यह दो प्रकार की होती है। (1) विपुलमति मनः पर्यय ऋद्धि (2) ऋजुमति मनः पर्यय ऋद्धि

अवधि ज्ञान ऋद्धि: देश काल की मर्यादा से युक्त रूपी पदार्थों को जान लेना अवधि ज्ञान ऋद्धि है।

वीर्यबुद्धि ऋद्धि: किसी ग्रन्थ के एक श्लोक ग्रहण से सम्पूर्ण ग्रन्थ का ज्ञान हो जाना वीर्य बुद्धि ऋद्धि है।

कोष्ठबुद्धि ऋद्धि: अलग-अलग सुने वार्ता के अक्षर का अलग-अलग ज्ञान बना रहना मिश्रित न होना कोष्ठबुद्धि ऋद्धि है।

सभिन्स्रोत ऋद्धि: 12 योजन लम्बे 9 योजन चौडे क्षेत्र के शब्द एकत्र कर एक काल में भिन्न-भिन्न श्रवण करना सभिन्स्रोत ऋद्धि है।

पदानुसारिणी ऋद्धि: आदि मध्य अन्त के एक-एक शब्द से ही समस्त ग्रन्थ कण्ठस्थ हो जाना पदानुसारिणी ऋद्धि है।

दूरस्पर्शत्व ऋद्धि: आठ प्रकार के ज्ञान का बहुत दूर से स्पर्श हो जाना दूरी स्पर्शन ऋद्धि है।

दूरास्वादित्व ऋद्धि: मनुष्य क्षेत्र के रसों का स्वाद जान लेना दूरी रस ऋद्धि है।

दूरघाणत्व ऋद्धि: बहुत दूर के सुगंध दुर्गन्ध को जान लेना दूरी गंध ऋद्धि है।

दूरावलोकन ऋद्धि: प्रत्येक पदार्थ को बहुत दूर से देख लेना एवं जान लेना दूरावलोकन ऋद्धि है।

दूरश्रवणत्व ऋद्धि: सात प्रकार के स्वर और पाँच प्रकार के वादित्र ध्वनि को बहुत दूर से सुन लेना दूरी श्रवण ऋद्धि है।

दस पूर्वित्व ऋद्धि: ऋद्धि के द्वारा दस पूर्व (आगम ग्रन्थों) का ज्ञान होना दस पूर्व ऋद्धि है।

चौदह पूर्वित्व ऋद्धि: ऋद्धि के द्वारा चौदह पूर्व (आगम ग्रन्थों) का ज्ञान

होना, चौदह पूर्व ऋद्धि है।

प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि: इस ऋद्धि के द्वारा गुरु के उपदेश के बिनाही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप में बृद्धि होती है।

वादित्व ऋद्धि: इस ऋद्धि के द्वारा वाद में विजय प्राप्त हो। प्रतिवादी पराजित हो जाता है।

प्रज्ञा श्रमणत्व ऋद्धि: पदार्थों के भेद को बिना शास्त्र पढ़े जान लेना प्रज्ञा श्रमणत्व ऋद्धि है।

अष्टांग निमित्त बुद्धि ऋद्धि: पशु पक्षियों की भाषा से, ग्रहण क्षेत्र से, पृथ्वी के कम्पन से, सामुद्रिक ज्ञान से, वस्त्र, शस्त्र, पशुपक्षी, अग्नि से, तिल, मस्सा आदि सहित श्रीवत्स, शंख चक्र आदि चिह्नों से, स्वप्नों से इस प्रकार आठ प्रकार से अशुभ को जान लेना।

औषध ऋद्धि:

औषध ऋद्धि के आठ भेद हैं, जिन तपस्वियों को यह ऋद्धि प्राप्त हाती है उनके सम्पर्क से दूसरे व्यक्ति स्वस्थ हो जाते हैं।

विप्रुषांषधि ऋद्धि: तपस्वी मुनि की विष्ठा से मूत्र से रोगी के सर्वरोग दूर हो जाते हैं।

मलौषधि ऋद्धि: मुनि के नाक, कान आदि का मल रोगी के लग जाने से रोगी के सर्व रोगों का नाश हो जाता है।

आमर्षांषधि ऋद्धि: दरिद्री को मुनि के शरीर का स्पर्श हो जाए तो दरिद्रता नष्ट हो जाती है।

जल्लौषधि ऋद्धि: मुनि के शरीर का पसीना लग जाने से दरिद्रता अथवा रोग नष्ट हो जाते हैं।

क्षेवलौषधि ऋद्धि: दरिद्री एवं रोगी मनुष्य को मुनि का मूत्र, कफ, थूक लग जाए तो दरिद्रता एवं रोग नष्ट हो जाता है।

सर्वोषधि ऋद्धि: मुनि के शरीर से स्पर्श कर जो हवा आवे उस हवा के स्पर्श से ही रोगी के रोग नष्ट हो जाते हैं।

दृष्टि निर्विष ऋद्धि: सर्प के काटे अथवा विषभक्षण किए मनुष्य को मुनि के देखने मात्र से व्यक्ति निर्विष हो जाता है।

विष नाशन ऋद्धि: मुनि को भोजन में विष देने पर भी उन्हें विष से बाधा नहीं होती।

क्षेत्र ऋद्धि:

यह ऋद्धि दो प्रकार की होती है।

अक्षीण महानस ऋद्धिः: मुनि जिस श्रावक के घर में आहार लें तो उस श्रावक के घर में उस दिन भोजन अटूट हो जाता है।

अक्षीण महालय ऋद्धिः: मुनि जिसके चौके में आहार लें तो उसमें चक्रवर्ती की सेना (लाखों मनुष्य) के भोजन करने पर भी भोजन कम नहीं होता।

बल ऋद्धिः

इसके तीन भेद होते हैं।

मनोबल ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारी मुनिवर सम्पूर्ण आगम का अन्तर्मुहूर्त में (48 मिनिट के अंदर) मन में पाठ कर लेते हैं।

बचन बल ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारी मुनिवर (अन्तर्मुहूर्त) में द्वादशांग का वाणी द्वारा पाठ कर लेते हैं।

काय बल ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारी मुनिवर पहाड़ के समान भारी बोझ शरीर से उठा लेते हैं।

तप ऋद्धिः

यह ऋद्धि सात प्रकार की होती है।

घोर तप ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारी मुनि शमशान आदि घोर भयानक स्थानों में निशंक होकर ध्यान लगाकर परिष्ह रस्ते कर लेते हैं।

महत् तप ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि निर्विघ्न 108 व्रत का क्रम पूर्वक पालन कर उपवास कर लेते हैं।

उग्रतप ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि एक दो अथवा तीन दिन तथा पक्ष मासादि का उपवास प्रारम्भ कर मरणासन होने पर भी विचलित नहीं होते।

दीप्ति ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि के घोर तप करने पर भी शरीर की कान्ति न घटती।

तस तप ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि के वस्तु के ग्रहण करने पर उसका मल मूत्र मांस कुछ भी न बने अर्थात् भोजन का मल मूत्रादि रूप परिणत न होकर भस्म हो जाना।

घोर पराक्रम ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि के तीनों लोकों के संहार करने की शक्ति से युक्त हो जाते हैं। रोग आदि के होने पर भी अनशन आदि ब्रतों का अतिचार रहित पालन करते रहते हैं।

अघोर ब्रह्मचर्य ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं जिससे स्वप्न में भी चित्त चलायमान नहीं होता तथा महामारी युद्ध आदि नहीं होते हैं।

...रस ऋद्धिः

रस ऋद्धि के चार भेद हैं।

पयस्त्रवा ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि जिस गृहस्थ के घर में भोजन करें तो उनके पाणिपात्र में रूक्ष भोजन भी क्षीर रस रूप में परिणमन होजाए और उस दिन रसोई दुग्ध मय हो जाए।

धृतस्त्रवा ऋद्धिः: इस ऋद्धि धारक मुनि जिस गृहस्थ के घर भोजन करें तो उस दिन उसका समस्त रूक्ष भोजन भी धृत सहित हो जाए।

मधुस्त्रवा ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि जिस गृहस्थ के घर भोजन करें तो उस दिन का भोजन मिस्टरस हो जाए।

अमृतस्त्रवा ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि जिस गृहस्थ के घर भोजन करें तो उस दिन उसकी रसोई अमृतमय हो जाये।

विक्रिया ऋद्धिः

इस ऋद्धि के निम्नलिखित भेद हैं।

अणिमा ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि इस ऋद्धि के बल से अपना शरीर छोटा कर सकते हैं।

महिमा ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि अपना शरीर दीर्घ कर सकते हैं।

लघिमा ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि ऋद्धि के बल से आक वृक्ष के समान हल्का शरीर धारण कर सकते हैं।

गरिमा ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनिराज अपने शरीर को बहुत भारी कर सकते हैं।

प्राप्ति ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि पृथ्वी पर बैठे उत्कृष्ट ऊँचाई वाले पर्वत (सुमेर पर्वत) को पैर के अंगूठे से स्पर्श कर सकते हैं।

प्राकाम्य ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि समुद्र, तालाब के जल में थल के समान ही गमन कर सकते हैं।

ईशत्व ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि अपनी इच्छा के अनुसार वैभव युक्त हो सकते हैं।

वशित्व ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि मनुष्य तथा पशुओं को अपने वश में कर सकते हैं।

अप्रतिधात ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि पर्वत, कोट आदि को भेदकर निर्विरोध चल सकते हैं।

अन्तर्ध्यान ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि मनुष्यों की दृष्टि से अगोचर होते हुए स्वयं सबको देख सकते हैं।

कामरूपित्व ऋद्धिः: इस ऋद्धि के धारक मुनि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि

का रूप अपनी इच्छानुसार बना सकते हैं।

क्रिया ऋद्धिः

इस ऋद्धि के दो मूल भेद हैं। (1) चारण ऋद्धि (2) आकाश गामिनी ऋद्धि—

1. चारण ऋद्धि: चारण ऋद्धि के 8 भेद हैं।

जलचारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि थल की तरह जल पर गमन कर सकते हैं।

जंघाचारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर चल सकते हैं।

पुष्पचारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि पुष्पों पर पैर रखते हुए गमन कर सकते हैं, फिर भी पुष्प नहीं टूटते।

फल चारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि वृक्षों में लगे फलों पर चलें तो भी फल न टूटें।

पत्रचारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि पत्तों पर पैर रखकर चलें तो भी पत्ते नहीं टूटते हैं।

शयन चारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि कोमल तंतु वाली बेल पर पैर रखकर चलें तो भी बेल न टूटे।

तन्तुचारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि मकड़ी के जाले के तन्तुओं पर पैर रखकर चलें तो भी तन्तु नहीं टूटते।

अग्निशिखा चारण ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि यदि अग्नि की लौ पर पैर रखकर चलते हैं तो भी उनके पैर नहीं जलते हैं।

2. आकाश गामिनी ऋद्धि: आकाश गामिनी ऋद्धि दो प्रकार की होती है।

पद्मासन ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि पद्मासन में बैठे हुए आकाश में गमन कर सकते हैं।

कायोत्सर्ग ऋद्धि: इस ऋद्धि के धारक मुनि खड़े-खड़े ही आकाश में गमन कर सकते हैं⁵⁰।

दिग्म्बर जैन श्रमणों के यह उपर्युक्त ऋद्धियाँ प्रकट हो सकती हैं लेकिन वर्तमान में मुनि की देह पूर्व (भूतकाल) के मुनियों की देह की तरह सबल एवं संघनन न होने के कारण ऐसे तप का उल्लेख नहीं मिलता जिससे मुनियों के ऋद्धियाँ प्रकट हो सकें।

ऋद्धि और सिद्धि में पर्याप्त भिन्नता है, आज सिद्धि तो प्राप्त की जा सकती है, लेकिन ऋद्धि प्राप्त करने का उल्लेख इसा पूर्व के मुनियों के ही मिलता है।

श्रमण संस्कृति के संस्थापक : महाश्रमण ऋषभदेव

ऐसे महाश्रमण वर्तमान चौबीस तीर्थकरों में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव अयोध्यानगरी के राजा नाभिराय की प्रिय रानी मरुदेवी के गर्भ में महान पुण्य सहित तीर्थकर प्रकृति के धारक आषाढ़-कृष्ण द्वितीया के दिन गर्भ में आये इसके साथ ही मरुदेवी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न दिखायी दिये इन स्वप्नों का फल राजा नाभिराय से जानकर महारानी मरुदेवी बहुत प्रसन्न हुई। अयोध्या में पन्द्रह माह की रूल वृष्टि पूरी होने पर नौ माह पश्चात् महारानी मरुदेवी ने चैत्रकृष्ण नवमी को एक बालक को जन्म दिया जिसके जन्म कल्याणक का उत्सव मनाने हेतु सौर्धम इन्द्रसहित अनेकों देव-देवियाँ अयोध्या में उपस्थित हुईं। इन्द्र ने बालक का जन्माभिषेक करके अत्यन्त प्रसन्नता प्रगट कर बालक का नाम ऋषभदेव रखा तथा पैर में वृषभ लांछन देखकर इनका चिन्ह वृषभ घोषित किया। कालान्तर में इन्हें वृषभदेव या वृषभनाथ संज्ञा भी प्राप्त हो गयी। एक लाख पूर्व की आयु शेष रहने पर चैत्र कृष्ण नवमी के दिन नृतकी नीलांजना की मृत्यु देखकर वैराग्य को प्राप्त हो गए। भरत सहित सभी पुत्रों को अलग-अलग राज्य सौंपकर अन्तर बाहर से नग्न हो तपस्या करने लगे। एक वर्ष एक माह सात दिन पश्चात् हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के यहाँ उनके भ्राता श्रेयांश के हाथों से प्रथम बार अपने कर पात्र में इच्छुरस का आहार ग्रहण किया। कठिन तप के फलस्वरूप ऋषभ देव को फाल्युन कृष्ण एकादशी के दिन पाँचवा ज्ञान केवलज्ञान प्रकट हुआ। देवों ने आकर समवशरण की, रचना की इनके समवशरण 84 गणधर सहित 84000 मुनि, 350,000 आर्यिका, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ थी, कैलाश पर्वत पर उनका समवशरण था उसी स्थान पर योग निरोध करके माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त कर जन्म-मरण से मुक्त हो गए।

श्रमण संस्कृति के अनुसार प्रकृतिप्रदत्त व्यवस्था (भोग भूमि व्यवस्था) के अन्तिम कालखंड में सभ्यता के विकास में मील के पत्थर 14 कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ से उत्पन्न ऋषभदेव ने अपने ज्ञान से संत्रस्त एवं अज्ञानी प्रजाजनों को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प यह षड्कर्म करने का उपदेश देकर तथा निर्देशक बनकर कर्मजन्य व्यवस्था का प्रारम्भ कर मनुष्यों को प्रकृति पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति से मुक्त कर प्रकृति का दोहन कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का मार्ग प्रशस्त कर, युग के आदि से ही कर्मशील पुरुष के रूप में प्रजा को सुखी करने वाले महान पुरुष, नन्दा, सुनन्दा जैसी सुघड़ श्रेष्ठ नारियों के पति चक्रवर्ती भरत तथा महान तपधारक महाबलशाली बाहुवलि तथा ब्राह्मी सुन्दरी जैसी श्रेष्ठ कन्यासहित 100 सन्तानों के पिता के साथ ही साथ उनके प्रथम तथा श्रेष्ठ गुरु, अति प्राचीन लिपि ब्राह्मी के निर्माता, अंक विद्या,

पशु परीक्षा विधि आदि समस्त विधाओं के ज्ञाता, कर्मभूमि पर भोग विलास के साधनों से मुक्त श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक, राज्य वैभव आदि के सुखों को तिलांजलि देकर यथाजात नग्न दिगम्बर मुद्रा में कठिन तपस्या करने वाले, षड्मास निराहारी तथा श्रमण चर्या के प्रतिपादक को श्रमण चर्यानुसार विधि न मिलने पर षड्मास से अधिक दिनों तक निराहार रहते हुए परमतत्त्व निज आत्मा में लीन होने हेतु पुरुषार्थ करते रहने वाले तथा अन्त में चार घातिया कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान को प्राप्त कर कैलाश पर्वत पर देव निर्मित समोवशरण में विराजमान होने वाले कैलाशपति, प्रथम तीर्थकर आदिनाथ के नाम से ख्याति प्राप्त महाश्रमण वृषभनाथ, विश्व के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में स्तुत्य तथा वैदिक संस्कृति में विष्णु के अष्टम अवतार के रूप में पूज्यता को प्राप्त करने वाले तथा मनु की पाँचवीं सन्तान के रूप में मान्य, सर्वमान्य व्यक्तित्व के धनी, विश्व के प्रथम महापुरुष जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से जगत में कर्म का उपदेश देते हुए तथा स्वयं कर्म करते हुए जन्म से कर्म और कर्म से मोक्ष तक का पथ प्रदर्शित करने वाले, ऐसे ऋषभदेव जिनकी शरण में क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या देव सभी सुख का अनुभव करते हुए मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं ऋषभदेव अपने साथ अपने सम्पूर्ण परिवार को भी मोक्ष पथ पर आरूप करने में सहकारी बनें, इस प्रकार प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव स्तुत्य एवं वंदनीय हैं।

श्रमण संस्कृति के अग्रणी पुरोहा, महाश्रमण ऋषभदेव का जीवन राज्य व्यवस्था, त्याग, तपस्या, केवलज्ञान प्राप्ति एवं समोवशरण के वैभव तथा धर्मोपदेश का भी विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वे एक मात्र ऐसे व्यक्तित्व हैं जिनका यशोगान प्राचीन सभ्यता प्राचीन धर्मों तथा प्राचीन ग्रन्थों से लेकर आज तक किया जाता रहा है लेकिन उनके काल का अनुमान लगाना कठिन है, उनके काल का वर्णन जैन पुराण ग्रन्थों में समय का माप सागर के प्रमाण से करते हैं। संसार में सर्वप्राचीन प्रतिमाएँ भी ऋषभदेव की ही प्राप्त होती हैं।

तपस्या काल में इनके सिर के बाल अधिक लम्बे हो जाने के कारण इन्हें कहीं-कहीं पर केशी ऋषभदेव अथवा 'केशी' शब्द से ही इनका उल्लेख प्राप्त होता है। जैन दर्शन में अनेकों प्राचीन प्रतिमाएँ ऐसी हैं, जिन पर तीर्थकर का लांछन (चिह्न) न होने पर भी बाल कन्धे तक होने के कारण वे प्रतिमाएँ प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की प्रतिमा ही मानी जाती है। उल्लेख प्राप्त हैं 20वें तीर्थकर मुनिसुन्नत के काल में श्रीपाल ने रत्नसानुपर्वत के मध्य रत्नसंचयानगर के राजा कनककेतु के ऋषभदेव जिनमन्दिर में केशों वाले ऋषभदेव की प्रतिमा के सामने स्तुति की थी⁵¹ हरिवंशपुराण एवं सुकुमाल चरित्र में भी कंधों तक लटके केशों वाली प्रतिमा का उल्लेख मिलता है⁵² ऋग्वेद में कहीं-कहीं पर केशी सहित वृषभ का उल्लेख है।

कर्क दवेवृषभोयुक्त आसीद, अवावचीत् सारथीस्य केशी ।

दुर्धर्युक्त द्रवतः सहानस ऋचन्तिष्मा निष्पदोमुद्गलानीम् ।⁵³

तात्पर्य यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियों पराइ-मुखी हो गयी थीं, योग युक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर वे अन्तर्मुखी हो गयीं।

किन्हीं ऋचाओं में अकेले वृषभ का उल्लेख मिलता है, जैसे 'विद्या बद्धे वृषभो शेरवीति महादेवो मत्योनाविवेश ।⁵⁴

किन्हीं ऋचाओं में अकेले केशी शब्द का ही उल्लेख मिलता है, जैसे केष्यग्निं केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी ।
केशी विशं स्वर्द्वशे केशीदं ज्योति रूच्यते ।⁵⁵

केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है केशी समस्त उत्तरायण विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है, केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान ज्योति केवलज्ञानी) कहलाता है। डॉ. हीरालाल के अनुसार 'केशी की यह स्तुति उक्त वातरसना मुनियों के वर्णन में की गयी है, जिससे यह प्रतीत होता है, कि केशी ऋषभदेव वात रसना मुनियों के वर्णन के प्रधान थे'⁵⁶

ऋषभदेव का वैदिक धारा पर विशेष प्रभाव है, विशेषकर भागवत पुराण और विष्णु पुराण में ऋषभदेव के जीवन का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है तथा यह भी स्वीकार करने योग्य है कि वैदिक ऋषियों ने भगवान ऋषभदेव से दिगम्बर मुनि मार्ग की शिक्षा ग्रहण की थी, भागवत पुराण और उपनिषदों से भी यह कथन प्रमाणित होता है।

केशी अहंत ऋषभ प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थकर और प्रथम धर्म चक्रवर्ती थे, अग्नि पुराण के अध्याय 10 वायु पुराण अध्याय 33 में ऋषभ देव के पुत्र भरत का उल्लेख मिलता है⁵⁷ ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार इक्षवाकु वंशोद्भव, नाभिसुत, मरुदेवी के नन्दन महादेव ऋषभ ने दस प्रकार के (क्षमादि) धर्म का प्रवर्तन किया⁵⁸

शिव पुराण के अध्याय 4 में पार्थिव श्रेष्ठ ऋषभ सब क्षत्रियों से पूजित थे तथा स्वयं शिव आदि तीर्थ में अवतरित हुए⁵⁹ ब्रह्माण्डपुराण में भी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।

ऋषभ, पार्थिव श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम्⁶⁰

बौद्ध ग्रन्थ 'धर्मपद' में 'ऋषभदेव सर्वश्रेष्ठ वीर थे, कहा गया है।

वहीं आर्यमंजूश्री में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—

प्रजायते! सुतो नाभिं तस्यापि सुतमुच्यते ।

नाभितो ऋषभपुत्रो वे सिद्ध कर्म द्रणव्रतः ॥

तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हेमवते गिरै ।

ऋषभस्य भरतः पुत्रः^{६१}

अर्थात् प्रजापति के पुत्र नाभि हुए, उनके पुत्र ऋषभ थे जो कृतकृत्य और दृढ़व्रती थे, मणिचर उनका यक्ष था : हिमवान पर्वत (कैलाश पर्वत) पर वे सिद्ध हुए। उनके पुत्र का नाम भरत था^{६२}

दि फिलोसफीज ऑफ इंडिया का यह उल्लेख ऋषभदेव के परिपेक्ष्य में बहुत उल्लेखनीय है कि पाण्डाणकाल के अवसान पर कृषिकाल के प्रारम्भ में पहले तीर्थकर ऋषभदेव हुए जिन्होंने मानव सभ्यता का पाठ पढ़ाया। प्रागैतिहासिक काल के महापुरुषों के अस्तित्व को सिद्ध करने के साधन उपलब्ध नहीं इसका अर्थ यह नहीं कि वे हुए ही नहीं^{६३} आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण में चैत्रकृष्ण नवमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाणा। नक्षत्र तथा ब्रह्म नामक महायोग में तीन ज्ञान से शोभित, जगत वल्लभ पुत्र को मरुदेवी ने जन्म दिया, नाभिराजा रूपी उदयाचल से उदय को प्राप्त ऋषभदेव रूपी सूर्य बहुत शोभायमान हुआ^{६४}

बलभद्र ऋषभदेव के बारे में लिखते हैं ऋषभदेव का व्यक्तित्व सार्वभौम रहा है, उनकी इस सार्वभौम ख्याति और मान्यता के कारण भारत के सभी प्राचीन धर्मों ने उन्हें समान रूप से उपास्य माना है, ऋषभदेव को जो स्थान और महत्व जैन धर्म में प्राप्त है वही स्थान और महत्व उन्हें वैदिक धर्म में भी प्राप्त है,। एक में उन्हें आद्य तीर्थकर मानकर मोक्ष मार्ग के प्रणेता स्वीकार किया गया है तो दूसरे में उन्हे भगवान का अवतार मानकर मोक्ष मार्ग का आद्य प्रणेता माना गया है, वेदों में उनका वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है तो हिन्दु पुराणों में उनके चारित्र में कुछ अतिरिंजना कर दी। इन दोनों ही बातों की परत उधाड़कर हम ज्ञाने के तो इनमें भी वही चारित्र मिलेगा जो जैन पुराणों में है इसलिए हमारा विश्वास कि जैन धर्म और वैदिक धर्म की दूरी को कम करने के लिए ऋषभदेव भगवान की मान्यता एक सुदृढ़ सेतु बन सकती है^{६५}

श्रीमद्भागवत का विषय महाभारत काल से 7 वीं शताब्दी तक उसके पश्चात्कर्ता काल में भी उसी प्रकार स्तुत्य रहा। जिसमें ऋषभदेव का विस्तार से वर्णन किया गया है, अध्याय 5 में उल्लेखित है कि भगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ में आए, उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरसना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया तथा भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को केवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ^{६६} भागवत पुराण का यह उल्लेख ‘ऋषभदेव ने महामुनियों को उपदेश देने हेतु भक्ति, ज्ञान, वैराग्य रूप परमहंस ने घर समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया और शरीर मात्र परिग्रह के साथ उन्मत्त के समान नग्न हो गये। बिखरे केश (आत्मतत्त्व) लिए आहवनीय अग्नि को धारण करके ब्रह्मावर्त देश से चल प्रव्रजित

हुए^{६७} इसी प्रकार भरत के चक्रवर्ती बनकर देश में अखंड राज्य करने से देश का नाम भारत हुआ का उल्लेख भी प्राप्त होता है। ‘येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशति’^{६८} भागवत पुराणकार ने ऋषभदेव के तप काल का भी विस्तार से वर्णन किया है, यद्यपि ऋषभदेव अखिल लोकपालकों के आभूषण थे तथापि उनके जड़वत अवधूतीय वेश, भाषा और आचरण से उनका भगवत्य प्रभाव परिलक्षित नहीं होता था^{६९}

भागवत पुराणकार ने उनके लिए ‘नाभेरसा वृषभ’ कहकर परमहंस, योग का उल्लेख किया, आगे भागवतकार लिखते हैं—‘इति नानायोग चर्या चरणो भगवान् कैवल्यं पति ऋषभोविरतं परमं महानन्दानुभवं आत्मनि सर्वेषां भूतानात्मा भूते।’^{७०}

ऋग्वेद में ही ऋषभदेव को इंद्र द्वारा रथ और युद्ध समग्री देने का उल्लेख है, ‘त्वरं थं प्रभं से योधं मृष्यभावो युद्धयन्त वृषभदशाद्यम त्वं तु ग्रं वेत्सवे स चाहन्तवं तु जि ग्रणन्त्मिन्द तू तो।’ इससे जैन ग्रन्थों का यह कथानक कि तीर्थकरों के गर्भ में आने से पूर्व से लेकर मोक्ष हो जाने तक देवता तथा देवियाँ उनकी सेवा में तत्पर रहती हैं इस कथन का समर्थन होता है।

अर्थवेद में ऋषभदेव का यशगान इन्द्र से अधिक सामर्थ्यवान के रूप में किया गया है—अतिसृष्टो अपां वृषभोऽति सृष्टा अग्नयो दिव्या।^{७१} अर्थात इन्द्र द्वारा राज्य में वर्षा नहीं दी, तब वृषभ ने खूब जल बरसाया।

एक स्थान पर परीक्षित ने कहा है धर्म तत्त्व को जपने वाले ऋषभदेव ! आप धर्म का उपदेश कर रहे हैं। अवश्य ही आप वृषभरूप में स्वयं धर्म हैं, अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं वे ही आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं। धर्म वृद्धीषी धर्मज्ञ धर्मोसिवृषभ यद्धर्मकृतः स्थान सूचकस्थापि तद्भवे।^{७२}

‘लिंग पुराण’ में ऋषभदेव का वर्णन करते हुए पुराणकार लिखते हैं महामति नाभि की मरुदेवी नाम की पत्नी से ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह राजाओं में उत्तम था और सम्पूर्ण क्षत्रियों द्वारा पूजित था। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई जो अपने 100 भाइयों में बड़ा था। पुत्र वत्सल ऋषभदेव ने भरत की राज्य पद पर अधिषिक्त किया और स्वयं ज्ञान वैराग्य को धारण कर इन्द्रिय रूप महान सर्पों को जीतकर सर्वभाव से ईश्वर परमात्मा को अपनी आत्मा में स्थापित कर तपश्चर्या में लग गये। वे उस समय नग्न थे। जटाधारी, निराहार, वस्त्रहीन तथा मलिन थे। उन्होंने सब आशाओं का त्याग कर दिया था। सन्देह का परित्याग कर दिया था और परम शिवपद (मोक्ष पद) को प्राप्त कर लिया था, उन्होंने हिमवान (हिमालय) के दक्षिण भाग को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान इसे भारतवर्ष कहते हैं।

भागवतकार ने ऋषभदेव के देह त्याग का वर्णन भी अपनी भाषा में किया

है। भागवत पुराण में ऋषभदेव के गर्भ में आने से लेकर उनकी देह छोड़ने का कथानक उल्लेखित है, जो जैन श्रमण संस्कृति से मेल न होने पर भी अनेक स्थानों पर मेल खाता है, इससे श्रमण संस्कृति के संस्थापक ऋषभदेव की ख्याति और अस्तित्व प्रगट होता है⁷³ ऐसे विष्णु पुराण के द्वितीय अध्याय में ऋषभदेव को स्वायंभुव 1 मनु, 2 प्रियवत, 3 आग्नीघ्र, 4 नाभि, 5 ऋषभ में ऋषभदेव के पूर्वजों का वर्णन किया गया है तथा इसी क्रम को भागवत कारने भी प्रस्तुत किया है⁷⁴

ऋषभदेव और शिवजी

अधिकांशतः: शिव जी को हिन्दु संस्कृति के देवों के देव महादेव के नाम से जोड़कर श्रद्धा सहित उनकी पूज्यता को स्वीकार करते हैं लेकिन कुछ तथ्य ऐसे हैं जिनके आधार पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शिव जी वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व भारतीय संस्कृति में मूर्ति पूजा के रूप में उपस्थित थे तथा उन्हें ऋषभदेव के नामान्तर के रूप में स्वीकार किया गया है। अधिकांश इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि, शिवजी वैदिक आर्यों के देवता नहीं थे, आर्यों के आगमन से पूर्व शिव की मूर्तियाँ भारत में विद्यमान थीं। जब वैदिक आर्य भारत में आए उस समय शिव जी के उपसकों की संख्या नगण्य नहीं थी। सिन्धु उपत्यका और मोहन जोड़ो, हडप्पा शाखा की खुदाई में शिव जी की मूर्तियों की उपलब्धि से भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में शिव जी की मान्यता बहुत प्रचलित थी, उन्हें शिव, महादेव, रुद्र आदि विविध नामों से पूजा जाता था⁷⁵

के.एम. पन्निकर लिखते हैं—Infact shiv and worship of Linga and other feature of popular Hinduism, were well established in India long long before the Arya come.⁷⁶

पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि वैदिक ग्रन्थों में ऋषभदेव को ब्रह्मा का अवतार माना गया है तथा ऋषभदेव और ब्रह्मा के नामों में भी समानता स्पष्ट होती है विष्णु पुराण में ब्रह्मा को नाभिज कहा गया है⁷⁷ जैन संस्कृति में ऋषभदेव नाभि के पुत्र होने के कारण नाभिज माने जाते हैं। आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण सहित अनेक ग्रन्थों सहित सहस्रनाम स्तोत्र में ऋषभदेव को हिरण्यगर्भ, प्रजापति, चतुरानन, स्वम्भू, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठि पितामह, लोकेश, आदि नाम प्राप्त होते हैं। ब्रह्मा के भी यह नाम पुराणों और कोशों में मिलते हैं⁷⁸ भागवत पुराण में ऋषभदेव को ब्रह्मा का अवतार स्वीकार कर रजोगुण सहित केवलज्ञान प्राप्ति की शिक्षा हेतु माना है। अयमवतारो रजसो पप्लुत कैवल्यो पश्चिकार्थः⁷⁹ अतः जिस प्रकार ऋषभदेव जैनियों के प्रथम तीर्थकर हैं उसी प्रकार हिन्दुओं के लिए साक्षात् विष्णु के अवतार हैं, दूसरी बात यह है कि प्राचीनता की दृष्टि से ऋषभदेव का अवतार राम और श्याम से अति प्राचीन माना गया है, इस अवतार का उद्देश्य

वातरसना मुनियों के धर्म को प्रगट करना बतलाया गया है⁸⁰

शिवपुराण के अनुसार ऋषभदेव और शिवशंकर एक ही हैं—

इत्थं प्रभावः ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे ।

सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः ॥⁸¹

इसलिए ऋषभदेव को शंकर का नवमा अवतार कहा गया है तथा वह अवतार सज्जनों की शरण और दीन बन्धु होगा। 'ईसान संहिता' में ऋषभदेव के मोक्ष कल्याणक तिथि पर शिवलिंग का प्रगट होना कहा गया है, इसे मात्र संयोग नहीं माना जाए बल्कि पूर्व द्वारा प्रचलित कथानकों का आधार ही होना चाहिए।

माघकृष्ण चतुर्दश्योमादि देवा महानिशि ।

शिवलिङ्गतयोद्भुतः कोटिसूर्य सम्प्रभः ॥⁸²

उपर्युक्त श्लोक में 'कोटि सूर्य सम्प्रभः' का जो उल्लेख है वह तीर्थकरों के मोक्ष कल्याण में देवों द्वारा अग्नि प्रज्वलित कर भगवान का मोक्ष कल्याणक मनाना में समानता प्रगट होती है।

विद्वानों का मानना है कि वास्तव में शिव ऋषभ का ही पर्यायवाची है जो ऋषभ का पवित्र चरित्र है, वही शिव है। जैनाचार्य हेमचन्द्र द्वारा सोमेश्वर के शिव मन्दिर में जाकर महादेव स्तोत्र की रचना द्वारा शिव को रागद्वेष रहित निर्विकार वीतराग सर्वज्ञ देव के रूप में स्तुति की थी। अतः ऐसे स्वरूप को लक्ष्य में रखकर वैदिक आर्यों के भारत में आने से पहले शिव की मान्यता उपास्य देव के रूप में थी⁸² जब वैदिक आर्य भारत आए तो उन्होंने पंजाब में आकर ऋग्वेद की रचना की और शिव को योगी और आध्यात्मिक उपास्य देव के रूप में चिह्नित किया और अपने अपने उपास्य देव के रूप में मान लिया⁸³

ऋषभदेव को शिवशंकर महादेव के रूप में मान्यता, सादृश्यता, समानता दृष्टव्य होती है वह मात्र संयोग नहीं माना जा सकता। केश, वृषभ, कैलाश पर्वत, शिवरात्रि, लिंग पूजा, त्रिरत्न, (त्रिशूल) गंगावतरण ऐसे सादृश्य साक्ष्य हैं जिनके आधार पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि श्रमण संस्कृति के ऋषभदेव हिन्दु संस्कृति में शिव रूप में स्वीकार किये गये हैं। विद्वानों ने ऋषभदेव के योग को कालान्तर में शिवशंकर के साथ समन्वित माना है।

केशः श्रमण संस्कृति में ऋषभदेव ही एक ऐसे तीर्थकर हैं जिनकी प्रतिमाएँ शताब्दी तक लम्बे बालों के रूप में प्राप्त होती हैं, अन्य सभी तीर्थकर की प्रतिमाएँ नगण्य केश वाली होती हैं, पद्मपुराण, आदिपुराण, हरिवंशपुराण में ऋषभदेव के बड़े केशों का वर्णन है। श्रीमद्भागवत और ऋग्वेद में भी बड़े बालों के कारण केशी ऋषभदेव को मान्य किया गया है, ऐसे ही हिन्दु संस्कृति में मात्र शिव जी को जटा (केश) युक्त स्वीकार किया है, अन्य देवों के लम्बे केशों का उल्लेख प्राप्त नहीं

होता।⁸⁴

नग्नता (दिगम्बरत्व): श्रमण संस्कृति में अन्तर-वाहा से वस्त्र और कपायों से रहित, नग्नता पूज्यता को प्राप्त होती है। शिव जी के भी नग्न रूप का उल्लेख प्राप्त होता है।

वृषभ: ऋषभदेव का लांछन वृषभ (बैल) है इसलिए अनेक स्थानों पर उन्हें वृषभदेव के रूप में स्वीकार किया जाता है, ऋषभदेव और वृषभदेव दोनों नाम से उनको जाना जाता है। शिव जी का भी लांछन वृषभ है, अतः वे भी वृषभनाथ स्वीकारे जाते हैं।⁸⁵

आदिनाथ: प्रथम तीर्थकर होने के कारण ऋषभदेव को आदि तीर्थकर आदिनाथ के नाम से प्रतिष्ठापित किया गया है शिव जी को आदिनाथ आदिदेव, महादेव के नाम से स्वीकार किया गया है।⁸⁶

कैलाश पर्वत: ऋषभदेव की केवलज्ञान कल्याणक भूमि एवं मोक्ष कल्याणक भूमि कैलाश पर्वत स्वीकार की गयी है, इन्द्र सहित अन्य देवताओं ने कैलाश पर्वत पर ऋषभदेव का मोक्ष कल्याणक मनाया। शिव जी की तपः स्थली भी कैलाश पर्वत मान्य की गयी है, कैलाश पर्वत को शिव जी का धाम माना जाता है।⁸⁷

गंगा नदी का उद्गम: जैन मान्यता के अनुसार गंगा नदी हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से निकलकर पूर्व की ओर फिर दक्षिण की ओर बहती है, वहाँ गंगा कूट नामक चबूतरे पर जटाजूट मुकुट वाली आदिनाथ की प्रतिमा को अभिसिक्त करती हुई गंगा प्रवाहित होती है। मान्यता है कि गंगा अवतरण के समय शिव जी की जटाओं में समाहित होकर विलीन हुई, पश्चात् वहाँ से पुनः प्रवाहित हुई।⁸⁸

मोक्ष कल्याणक तिथि और शिवरात्रि: जैन संस्कृति में ऋषभदेव (आदिनाथ) मोक्ष कल्याणक तिथि माघकृष्ण चतुर्दशी मान्य है तथा जैसा कि पूर्व में वर्णन किया गया है कि ईसान संहिता में शिवजी के उद्भव का उल्लेख माघकृष्ण चतुर्दशी का उल्लेख है,। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के पंचांगों में शिवरात्रि क्रमशः फाल्युन कृष्ण, चतुर्दशी तथा माघकृष्ण चतुर्दशी को मानी जाती है। 'काल माधवीय' नाम खंड में इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है, उत्तर भारत वाले मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से मानते हैं, जबकि दक्षिण वाले शुक्ल पक्ष से मानते हैं। वस्तुतः दक्षिण भारत वालों का जो माघ कृष्ण चतुर्दशी है वही उत्तर भारत वालों की फाल्युन कृष्ण चतुर्दशी है।⁸⁹

त्रिरत्न और त्रिशूल: जैन शास्त्रों में केवलज्ञान प्राप्ति के सिलसिले में अनेक स्थानों पर आलंकारिक वर्णन मिलते हैं, उन्होंने त्रिरत्न (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) रूप त्रिशूल से मोहनीय या मोहासुर का नाश किया अथवा शुद्ध लेश्या के त्रिशूल से मोह रूपी अन्धकासुर का वध किया। 'शुद्ध लेश्या त्रिशूलेन मोहनीय

रिपुर्हतः।⁹⁰ संसार का छेदन करने के लिए सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूपी त्रिशूल आवश्यक है तथा संसार में ही तीन दुर्लभ रत्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र हैं जिनसे मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है।

शिवजी त्रिशूलधारी और अंधकासुर के संहारक माने गये हैं इसलिए शिवमूर्ति के साथ त्रिशूल और नरकपाल बनाए जाते हैं।⁹¹

जैन ग्रन्थों की तरह यदि हम त्रिशूल एवं अंधकासुर को आलंकारिक शब्दावली लेकर व्याख्या करें तो ऋषभदेव और शिवजी एक ही व्यक्तित्व में दृष्टव्य होंगे। संस्कृत साहित्य में ऐसी आलंकारिक भाषा का उपयोग बहुतायत से प्राप्त होता है। यहाँ तक कि वेदों की अनेक ऋष्याओं की व्याख्या भी इसी आधार पर की गयी है। लम्बोदर, गजानन, पीताम्बर, चतुरानन जैसे शब्दों की व्याख्या करते समय हम त्रिशूल की भी जैन आगम अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र के रूप में व्याख्या करें तो 'त्रिशूल' का स्पष्ट अर्थ प्रगट होगा।

लिंग पूजा: जैन संस्कृति में कल्याणक भूमियाँ, मंगल भूमि के नाम से स्वीकार की गयी हैं, प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की निर्वाण भूमि कैलाश पर्वत भी पूज्य एवं मंगल भूमि है, भरत चक्रवर्ती ने ऋषभदेव की निर्वाणभूमि कैलाश पर्वत के आकार के घण्टे बनवाए थे।

संस्कृत में लिंग का अर्थ – पहचान अथवा पहचान के चिह्न से लिया जाता है, पुर्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग, पहचान के रूप में प्रयुक्त होते हैं, जननेन्द्रिय के रूप में इनका अर्थ स्वीकार करने से शब्दार्थ अति संकुचित हो जाता है और शब्द अपना अर्थ समाप्त कर देगा। तिब्बत में लिंग का अर्थ क्षेत्र से लिया जाता है एवं कैलाश पर्वत को तिब्बत में होने पर लिंग पूजा का अर्थ क्षेत्र पूजा से बनता है, यही क्षेत्र पूजा जैन संस्कृति में मिलता है, निर्वाण क्षेत्र सम्मेद शिखर, निर्वाण क्षेत्र गिरिनार, निर्वाण क्षेत्र कैलाश पर्वत। अतः तिब्बती लोगों की क्षेत्र पूजा कैलाश पूजा में बहुत समानता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है कि लिंग पूजा शब्द तिब्बत से आकर शिवलिंग कैलाश के आकार की मूर्ति के रूप में रूढ़ हो गया। हम शिव के शब्दार्थ की व्याख्या करें तो शिव का अर्थ मोक्ष और लिंग की अर्थक्षेत्र व अथवा पहचान तो शिव लिंग का अर्थ मोक्ष का क्षेत्र अथवा मोक्ष की पहचान होता है। घंटा, कैलाश पर्वत और शिव लिंग के आकार में बहुत समानता दृष्टव्य होती है।

श्रमण संस्कृति में ऋषभदेव को आदि लेकर 24 तीर्थकर हुए जिन्हें हम श्रमण संस्कृति के पुरोहा, महानायक, अग्रणी, आदि नामों से जान सकते हैं। उपर्युक्त वर्णन में ऋषभदेव का अति संक्षिप्त वर्णन किया है। 23 अबशेष⁹² तीर्थकरों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

श्रमण संस्कृति के महानायक

अजितनाथः

महान पुण्य प्रकृतियों के उदय से श्रमण संस्कृति के द्वितीय महानायक अजितनाथ जी का जन्म इक्ष्वाकु वंश के काश्यप गोत्री साकेत के राजा जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ से माघशुक्ला दशमी के दिन हुआ था। जन्म से 15 माह पूर्व ही सर्व धान्य संपदा एवं रत्नवृष्टि आदि शुभसंकेतों से साकेत नगरी अयोध्या सुशोभित हो गयी थी, देव देवियों का आवागमन अधिक होने लगा था। इन्द्र सहित अन्य देवताओं ने अजितनाथ को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर स्नान करवाया तथा पैर के अंगूठे को देखकर उनका लांछन हाथी घोषित कर बालक को माता के लिए सौंपकर जन्म कल्याण की खुशियाँ मनाकर स्वर्गलोक वापिस चले गये।

अजितनाथ ने 72 लाख पूर्व की आयु में अनासक्त वृत्ति से सिंहासनारूढ़ होकर संसार के कर्तव्यों का पालन कर माघ शुक्ला 10 के दिन वन में जाकर वस्त्राभूषण त्यागकर अपने पूर्वज ऋषभनाथ की तरह तप करते हुए पौषशुक्ल 11 के दिन केवलज्ञान प्राप्त कर सभी जीवों को उपदेश देते हुए चैत्र शुक्ल 5 को सम्मेद शिखर की टोंक से शेष कर्मों को नाश कर संसार जन्म मरण से मुक्त होकर सदा के लिए मोक्ष में विराजमान हो गए। अजितनाथ के काल में ही सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने कैलाश पर्वत के चारों ओर खाई बनाकर महान कार्य किया था, पश्चात् पुत्रों की मृत्यु का समाचार सुनकर अपने पौत्र भागीरथ को राज्य देकर तप ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त किया। भागीरथ का भी गंगा नदी के किनारे वस्त्राभूषण त्यागकर प्रतिमा योग धारण कर कठिन तप का उल्लेख आता है। इन्द्र ने भागीरथ के चरणों का प्रक्षालन क्षीर सागर के जल से किया, यही जल गंगा नदी में मिलकर उसकी पवित्रता बढ़ाने में महत्वपूर्ण कारण बना।

सम्भवनाथः

श्रावस्ती नगरी के अधिपति जितारि सुसेना के गर्भ से कार्तिक शुक्ला 15 (तिलोपणति के अनुसार) माघ शुक्ला 15 को महान पुण्यशाली बालक के जन्म पर पूर्ववत ऋषभदेव, अजितनाथ के जन्म के कल्याणक की तरह सम्भवनाथ के जन्म को महोत्सव में रूप में मनाया तथा इन्द्र ने पैर में चिह्न देखकर सम्भव नाम घोषित कर 'अश्व' लांछन घोषित किया। सम्भवनाथ अनासक्तवृत्ति से राजकाज करते हुए संसार के वैभव को भोगते हुए आश्विन सुदी 15 के दिन वन में जाकर वस्त्राभूषण त्याग कर महान तप तपते हुए कार्तिक कृष्ण 4 के दिन चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया तथा संसार में धर्म ध्वज फहराते हुए तीर्थकर सम्भवनाथ ने चैत्र शुक्ल 6 के दिन सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त कर जन्ममरण से मुक्त हो अपने

पूर्वजों की तरह लोक के अग्रभाग (मोक्ष) में सदा के लिए विराजमान हो गये।

अभिनन्दननाथः

राजा स्वयंवर इक्ष्वाकुवंशी के काश्यपगोत्र में उत्पन्न स्वयंवर अयोध्या के राजा थे, उनकी रानी सिद्धा के गर्भ से कार्तिकशुक्ल 15 को जन्मे अभिनन्दननाथ का इन्द्र सहित देवताओं द्वारा सुमेरु पर्वत पर अभिषेक किया गया तथा देवताओं द्वारा साढ़े बासठ करोड़ बाजे बजाए गये, इन्द्र ने ताण्डव नृत्यकर अतिप्रसन्नता प्रकटकर बालक मां को सौंपकर देवलोक गमन किया। युवा होने पर विवाह कर, राज्य वैभव को भोग, संसार के कर्तव्यों का पालन करते हुए, एक दिन में वैराग्य सूचक संकेत को देखकर जगत के वैभव एवं भोगों की क्षणभंगुरता स्वीकारते हुए समस्त वस्त्राभूषण त्यागकर माघ शुक्ल 10 के दिन एक हजार राजाओं के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर घोर तप तपते हुए 18 वर्ष पश्चात् असनवृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो? गये तथा पौष शुक्ला 14 के दिन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय, चार घातिया कर्मों की समाप्ति पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त किया देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की तथा भगवान को उचित स्थान देने हेतु विशाल समवशरण की रचना की, जिसमें विराजमान होकर अभिनन्दन नाथ ने मनुष्यों को, पशुओं को, देवों को सबके लिए एक समान उपदेश देते हुए शंकाओं का समाधान दिव्य ध्वनि से करते हुए असंख्य भव्य जीवों का कल्याण किया तथा आयु का एक माह शेष जानकर सम्मेद शिखर पधारे, वहाँ पर वैशाख शुक्ल 6 दिन को नश्वर देह को त्याग कर अपने पूर्वजों की तरह अनन्तकाल के लिए सिद्ध शिला पर विराजमान हो गये।

सुमतिनाथः

श्रमण संस्कृति के पञ्चम महाश्रमण तीर्थकर सुमतिनाथ थे, इनका जन्म ऋषभदेव के वंशज अयोध्या के राजा मेधरथ की रानी मंगला के गर्भ से हुआ था। गर्भ में आने के 6 माह पूर्व से अयोया नगरी में रत्नवृष्टि प्रारम्भ हो गयी थी जिससे यह संकेत मिलने लगे थे कि महान पुण्यशाली तीर्थकर प्रकृति का बन्ध प्राप्त करने वाले बालक का जन्म होने वाला है। चारों ओर प्रसन्नता का वातावरण था, चैत्र शुक्ला 11 के दिन रानी मंगला ने माता बनने का सौभाग्य प्राप्त किया और महान तेजस्वी, पुण्यवान बालक को जन्म दिया। तीर्थकर बालक का जन्म होते ही इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। इन्द्र ने उठकर तीर्थकर बालक को अपरोक्ष रूप से नमस्कार किया तथा देवताओं के साथ हर्ष भाव से ऐरावत हाथी पर सवार होकर अयोध्या नगरी आकर तीर्थकर बालक के समान में अयोध्या नगरी की तीन परिक्रमा लगाई। इन्द्राणी शन्ती को जन्म स्थान में भेजकर दूसरा मायामयी बालक माता के पास लिटाकर इन्द्राणी ने तीर्थकर बालक इन्द्र को दे दिया। इन्द्र के हर्ष की

सीमा नहीं रही उन्होंने विक्रिया से हजार नेत्र बनाकर बालक को देखा तथा ऐरावत हाथी पर विराजमान कर सुमेरू पर्वत पर ले जाकर सभी देवताओं के साथ मिलकर तीर्थकर बालक का अभिषेक कर, नृत्यगान आदि कर, प्रसन्नता प्रकट कर बालक का नाम सुमतिनाथ रखकर चकवा लांच्छन घोषित किया। शनै-शनै बालक की आयु के साथ साथ देह आकार में वृद्धि होने लगी। वह सुमतिनाथ जगत के सुखों को भोगते हुए, कर्तव्य का पालन करते हुए वैराग्य सूचक संकेत प्राप्त होने पर सबको नश्वर मानकर राज्य वैभव त्यागकर मोक्ष मार्ग प्रशस्त करने हेतु वन को गमन किया। दीक्षा लेते ही उन्हें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान के साथ मनः पर्ययज्ञान प्रगट हो गया इस प्रकार वे चार ज्ञान के धारी होने पर भी केवलज्ञान के प्रगट होने के पूर्व तक मौन पूर्वक कठोर तप तपते रहे। अन्त में सुहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे दो दिवस का उपवास लेकर केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। देवों ने पूजा कर समवशरण विभूति की रचना की जिसमें भगवान ने विराजमान होकर अपनी दिव्य ध्वनि से विभिन्न भाषा धारी जीवों को अपनी ओम्कार ध्वनि रूपी देशना से सन्तुष्ट कर असंख्य भव्य जीवों का मोक्षमार्ग प्रशस्त किया। विभिन्न देशों में विहार करते हुए जब एक माह आयु शेष बची, तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर जाकर समवशरण का त्यागकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र शुक्ल एकादशी को मघा नक्षत्र में संध्या काल में निर्वाण को प्राप्त किया।

पद्मप्रभ नाथः

कोशाम्बी नगर के इक्ष्वाकुवंशी कश्यप गोत्रीय धरणा (धीरण) राजा की रानी सुसीमा के गर्भ से षष्ठ्य-तीर्थकर पद्मप्रभ का जन्म हुआ। गर्भ में आने के छह माह पूर्व से कोशाम्बी नगरी में देवों द्वारा रत्नवृष्टि की जाने लगे। यह रत्नवृष्टि पद्म प्रभु के जन्मावतरण तक होती रही जिससे शुभ संकेत प्राप्त होने लगी। गर्भावतरण के समय रानी ने रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। स्वप्न में उन्होंने देखा कि एक मदोन्मन्त हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा है। प्रातः काल उन्होंने अपने स्वप्न के बारे में राजा धरण से स्वप्नों का फल जानकर बहुत प्रसन्नता पूर्वक रानी को यह सुनाया कि आपके गर्भ एक महान बालक का जन्म होने वाला है, जो तीर्थकर होगा। सुसीमा यह सुनकर बहुत प्रसन्न रहने लगी। इधर गर्भस्थ बालक के पुन्य प्रताप से देवियाँ रानी की सेवा में तत्पर हो गयी तथा माता को किसी प्रकार का क्लेश न हो इस बात का पूर्ण ध्यान रखने लगी नव माह पूर्ण होने पर रानी ने कर्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन एक महान पुण्यशाली तेजस्वी, ओजवान बालक को जन्म दिया, बालक का जन्म होते ही स्वर्गलोक में सिंहनाद, तुरई नगाड़े, की ध्वनि होने लगी। सौंधर्म इन्द्र ने अवधिज्ञान से तीर्थकर का जन्म जानकर सिंहासन से उठकर अपरोक्ष

रूप में प्रणाम कर तीर्थकर बालक का जन्म कल्याण मनाने हेतु विशाल देवों के समूह के साथ ऐरावत हाथी पर सवार होकर नृत्य ज्ञान करते हुए बाजे बजाते हुए स्वर्ग लोक से कोशाम्बी नगरी के लिए गमन किया। अति हर्ष भाव से इन्द्र आदि ने जन्म कल्याणक मनाकर बालक का नाम पद्मप्रभ रखकर तथा लांछन लाल कमल जानकर इन्द्र आदि देव अपने-अपने स्थान को चले गये।

वय और देह के बढ़ने के साथ ही त्रय ज्ञान के धारी पद्मप्रभ ने सांसारिक कर्तव्यों का पूर्णतया निर्वहन कर राज्य शासन का भलीभांति संचालन किया। कालान्तर में उनके हाथी की मृत्यु ने उन्हें विचलित कर दिया जिससे पद्मप्रभ को सांसारिक भोगों से विरक्ति हो गयी। उन्होंने वन में जाकर दीक्षा लेकर जन्म मरण की प्रक्रिया को समाप्त करने का विचार किया, तभी लौकांतिक देवों ने उनके विचार की अनुमोदना की। राजा पद्मप्रभ प्रभास गिरि नामक पालकी में सवार होकर कार्तिक शुक्ल 13 के दिन होकर वन में पहुँचे तथा वस्त्राभूषण त्यागकर अन्तर और बाह्य से दिगम्बर होकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा प्राप्त कर दो दिन के उपवास (वेला) का नियम लेकर आत्मतत्त्व का चिन्तन करने लगे। छह माह मौन पूर्वक तप करने के पश्चात् फाल्गुन कृष्ण 4 के दिन (चैत्र शुक्ला 15 का दिन भी उल्लेख प्राप्त होता है) चार घातियाकर्मों का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त कर बहुत समय तक मनुष्यों को, पशुओं को, देवताओं को उपदेश देते हुए मोक्ष मार्ग प्रशस्त करते रहे। आयु का अन्त जानकर सम्मेद शिखर पर पहुँच कर योग निरोध धारण कर फाल्गुन कृष्ण 4 को संसार के परिभ्रमण से मुक्त हो अन्तिम स्थल मोक्ष में अनन्त काल के लिए विराजमान हो गये, इधर देवों ने मिलकर उनका मोक्ष कल्याणक मनाया।

सुपार्श्वनाथः

प्राचीनकाल में काशी देश में वाराणसी नाम की एक नगरी थी, उसमें इक्ष्वाकुवंशी सुप्रतिष्ठित राजा राज्य करते थे, उनकी पृथ्वीषेणा रानी ने एक बार भाद्रपदशुक्ल रात्रि के पिछले प्रहर में 16 स्वप्न देखे तथा देखा कि विशाल हाथी उनके मुह में प्रवेश कर रहा है। प्रातः काल राजा से अपने स्वप्नों के बारे में कहा, राजा सुप्रतिष्ठित ने रानी को सन्तुष्ट करते हुए स्वप्नों का फल बताया कि, हे रानी! तुम्हारी कोख से महान तेजस्वी, महान पुण्य का धारक तीर्थकर बालक जन्म लेने वाला है, रानी के ऐसा सुनने पर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा, वे अब बहुत प्रसन्न रहने लगी तथा विशेष नियुक्त देवियाँ भी रानी की सेवा करने लगी। कालान्तर में गर्भावस्था के नौ माह पूर्ण होने पर ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन रानी ने त्रिलोकीनाथ त्रिलोकगुरु तीर्थकर बालक को जन्म दिया। समाचार सुनकर राज्य में सर्वजगह प्रसन्नता का वातावरण हो गया। इन्द्र देवताओं के साथ गाजे बाजे सहित आकर बालक को सुमेरू पर्वत की पांडुक शिला पर विराजमान कर अत्यन्त हर्ष भाव से भक्ति पूर्वक क्षीरसागर

के जल से अभिषेक कर तथा स्वास्तिक चिह्न देखकर उनका सुपाश्वर नाम घोषित कर माता को बालक वापिस करके जन्म कल्याणक मनाकर वापिस स्वर्गलोक चले गये। युवा होने पर पिता सुप्रतिष्ठित द्वारा सुपाश्वर का राज्याभिषेक किया, जिससे वे संसार के सभी उचित कार्य करते हुए राज्य वैभव का सुख भोगने लगे। कालान्तर में ऋतु परिवर्तन से जग की नश्वरता का संकेत प्राप्त होते ही उन्हें सांसारिक भोग विलास, वैभव क्षणभगुर दिखने लगे तथा अपने जीवन को सार्थक करने के लिए उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। स्वर्ग के वासी लौकान्तिक देवों ने आकर उनके वैराग्य की अनुमोदना करते हुए उनके भावों की प्रशंसा की तथा देवों द्वारा तैयार मनोगति नामक पालकी में विराजमान होकर ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन संध्याकाल में एक हजार राजाओं के साथ वस्त्राभूषण त्यागकर नग्न दिगम्बर होकर सुहेतक वन में आत्मकल्याण में रत हो गये तथा दूसरे दिन राजा महेन्द्र के यहाँ आहार चर्या होने पर देवों ने 'पञ्चाश्चर्य' प्रगट किए, वे नौ वर्ष तक आत्मकल्याणक में लीन रहते हुए कठोर तप तपते रहे तथा फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को उन्हे अन्तिम तथा सर्व श्रेष्ठ ज्ञान के वेलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्र ने देवताओं के साथ उनके केवलज्ञान की पूजा की तथा भगवान की देशना प्रगट हो इस भावना से विशाल वैभव सम्पन्न समवशरण की रचना की, जिसमें मनुष्यों, पशुओं, देवताओं आदि के भेदानुसार बैठने की व्यवस्था की गयी, बहुत काल तक सुपाश्वरनाथ भव्य जीवों को उपदेश देते रहे।

कालान्तर में जब उनकी आयु का एक माह शेष रहा तो उन्होंने सम्मेद शिखर पहुँच कर प्रतिमायोग धारण कर शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण का ध्यान कर योग निरोध करते हुए समस्त कर्म बन्धनों को समाप्त कर फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को पञ्च हृष्व अक्षर के समय में ही देह को त्याग सिद्ध शिला पर अनन्तानन्त सिद्धों के साथ अनन्तकाल के लिए विराजमान हो गये।

सुपाश्वरनाथ की प्रतिमाओं पर स्वास्तिक चिह्न के अतिरिक्त सर्पफण भी प्राप्त होता है, जिन प्रतिमाओं पर सर्प के पाँच फण होते हैं, वे प्रतिमा सुपाश्वरनाथ की मानी जाती हैं, जिन प्रतिमाओं पर सात फण या उससे अधिक फण होते हैं वे प्रतिमाएँ 23 वे तीर्थकर पाश्वरनाथ की मानी गयी हैं। आचार्य हेमचन्द्र कृत त्रिष्ठिश्लाका पुरुष चत्रिं में आया है कि सुपाश्वरनाथ भगवान के केवलज्ञान प्राप्ति पश्चात् समवशरण की रचना के पश्चात् जब वे समवशरण के सिंहासन पर विराजे तो इन्द्र ने उनके मस्तक पर सर्पफण युक्त छत्र लगाया। आचार्य ने इसका कोई कारण तो नहीं दिया, सम्भव है, इन्द्र ने जो छत्र लगाया था उसका आकार सर्प फण मंडल जैसा हो।

चन्द्रप्रभः

चन्द्रपुर नामक नगर के अधिपति काश्यपगोत्रीय महासेन राजा की लक्षणा रानी ने चैत्रकृष्णा पञ्चमी को रात्रि के पिछले प्रहर सोलह स्वप्न देखे रानी ने उन

स्वप्न का फल अवधिज्ञानी महाराज महासेन से पूछा तो महाराज बोले कि हे रानी ! तू महान पुण्यवान तीर्थकर की माता बनने वाली है, चूंकि रत्नवृष्टि आदि शुभसंकेत 6 माह पूर्व से ही हो रहे थे, रानी तीर्थकर की माता बनने की अनुभूति से अत्याधिक प्रसन्न रहने लगीं। श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी गर्भावस्था तक रानी की सेवा में उपस्थित रहने लगी। नव माह पूर्ण होने पर रानी लक्षणा का गर्भकाल पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी को महानपुण्यशाली तीर्थकर बालक ने भरतक्षेत्र के चन्द्रपुर में जन्म लिया। तीनों लोकों में ऐसे पुण्यशाली जीव के जन्म को अनुभव किया जाने लगा, सौधर्म इन्द्र ने सिंहासन से उठकर तीन कदम चलकर तीर्थकर बालक को प्रणाम किया तथा सम्पूर्ण वैभव के साथ चन्द्रपुरी में तीर्थकर बालक का जन्म कल्याणक मनाने हेतु चल दिया, अति हर्ष भावपूर्वक जन्म कल्याणक मनाकर इन्द्र तीर्थकर बालक का नाम चन्द्रप्रभ रख कर तथा लांच्छन चन्द्रमा घोषित कर शाची सहित सभी देवों के साथ स्वर्गलोक के लिए वापिस चला गया। यहाँ पर बालक की देह, कन्ति, लावण्य की यशगाथा दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त होने लगीं। अतिशय पुण्य के कारण देवगण तथा मनुज चन्द्रप्रभ की सेवा में तत्पर रहते थे।

कालान्तर में पिता महासेन ने चन्द्रप्रभ को अपना राज्य भार सौंप दिया चन्द्रप्रभ समस्त अधीन राजाओं के अधिपति तो थे ही, सुन्दर, आज्ञानुवर्ती नारियों के भी अधिपति थे। सुखपूर्वक राज्य वैभव का भोग करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करते रहे, लेकिन एक दिन दर्पण देखकर वे देह की क्षण भंगुरता समझ बैठे तथा राज्यवैभव को त्यागकर आत्मकल्याण हेतु तत्पर हुए। देवों द्वारा तैयार विमला नामक पालकी में विराजमान होकर पौष्कृष्ण एकादशी को सुहेतक वन में जाकर वैभव, वस्त्राभूषण को त्यागकर वेला का नियम लेकर नागवृक्ष के नीचे ध्यान लीन हो गये। इसी समय उन्हें चतुर्थ ज्ञान मनः पर्याज्ञान प्राप्त हो गये।

वे ध्यानरत थे, एक समय उनके चार घातिया कर्म समाप्त हो गये। देवों ने फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन उनके केवलज्ञान कल्याण की पूजा की तथा विशाल एवं वैभवशाली समवशरण की रचना की जिसमें विराजमान हो चन्द्रप्रभ भगवान ने लाल्के समय तक संसार के समस्त भव्य जीवों को सम्मान बताया तथा उनके मोक्षपथ में निमित्तकारण बनकर स्वयं आयु के अन्त में सम्मेदशिखर पहुँचे।

सम्मेद शिखर के चन्द्रगिरि शिखर (ललितप्रभ) पर प्रतिमायोग धारण कर एक माह तक ध्यान मग्न रहे। फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को सायंकाल में योग निरोध कर समस्त कर्मों का क्षय कर पञ्चहृष्व टोंक के काल के बराबर 14 वे गुण स्थान में रहते हुए एक समय में ही मोक्ष में विराजमान हो गये। देवों ने आकर भगवान के शेष देहांश का अग्नि संस्कार कर उसे क्षीर सागर में प्रवाहित कर दिया।

पुष्पदन्त (सुविधिनाथ):

उत्तर भारत में इक्ष्वाकुवंशी कश्यप गोत्री महाराज सुग्रीव काकंदी नगर के अधिपति थे, उनकी पटरानी जयरामा को फाल्युन कृष्ण नवमी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न दिखाई दिए, इन स्वप्नों का फल महाराज से जानकर वह बहुत प्रसन्न हुई क्योंकि इन सम्पूर्ण स्वप्नों का फल महान पुण्यवान, तेजस्वी तीर्थकर बालक के जीव का रानी के उदर में अवतरित होना था।

नौ माह में गर्भस्थ अवस्था पूर्ण होने पर मार्गशीष शुक्ला प्रतिपदा के दिन रानी जयरामा लोकोत्तर लोकोत्तम पुत्र को जन्म देकर जगत माता हो गयी। इन्द्र ने तीर्थकर बालक का जन्म होना जानकर अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ स्वर्गलोक से पृथ्वी पर हिमालय के दक्षिण में स्थित पवित्र नगरी काकंदीपुर की ओर प्रस्थान किया। शची द्वारा तीर्थकर बालक को लाकर सौधर्म इन्द्र द्वारा सुमेरु पर्वत की पांडुक शिला पर विराजमान कर क्षीर सागर के जल से अधिषेक कर प्रसन्नतापूर्वक ताण्डव नृत्य कर अति हर्ष भाव से कुन्द पुष्प के समान कान्ति वाले बालक का नाम पुष्पदन्त रखा तथा लांच्छन प्रगट होने पर मगर लांछन घोषित किया, पश्चात् इन्द्र अन्य देवी देवताओं के साथ तीर्थकर बालक को माता को सौंपकर अपने लोक वापिस चला गया।

तीर्थकर बालक जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के धारी थे, बाल्यावस्था पूर्ण कर योंवनावस्था की दहलीज पर आते ही पिता सुग्रीव ने अपना राज्य भार पुष्पदन्त को सौंपकर आत्म कल्याणक हेतु बन की ओर चले गये। पुष्पदन्त अपने कर्तव्यों का भली भाँति पालन करते हुए राज वैभव सांसारिक सुखों को लम्बे समय तक भोगते रहे। एक दिन वैराग्य सूचक संकेत उल्कापात को देखकर अपने जीवन को सार्थक बनाने हेतु सांसारिक सुख, वैभव, राजपाट को त्यागकर आत्म कल्याण हेतु उद्यत हुए। लौकान्तिक देवों ने आकर उनके इस विचार की बहुत प्रशंसा तथा अनुमोदना की। राजा पुष्पदन्त अपने पुत्र सुमति को राज्य सौंपकर मगसिर शुक्ला प्रथमा के दिन सूर्यप्रभा नामक पालकी में बैठकर बन में जाकर 1000 राजाओं के साथ वस्त्राभूषण, बाह्यवैभव को त्यागकर अन्तरंग वैभव प्राप्त करने के लिए ध्यान मन हो गये।

इस प्रकार अन्तरंग वैभव को प्राप्त करने हेतु चार वर्ष तपस्यारत रहने पर कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल में नागवृक्ष के नीचे आत्म ध्यान में लीन थे, उसी समय चार घातिया कर्म नष्ट हो गये और मुनि पुष्पदन्त केवलज्ञानी तीर्थकर बन गये। देवों ने केवलज्ञान कल्याण की पूजन की तथा भगवान की दिव्य देशना हेतु समवशरण की रचना की जिसमें मनुष्य, पशु देव सभी भव्य जीव भगवान की दिव्य ध्वनि का अपनी-अपनी भाषा में श्रवण कर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने लगे।

उन्हें केवलज्ञान पश्चात् समस्त आर्य खंड में विहार कर सद्गम का उपदेश देते हुए जब उन्हें लम्बा समय हो गया और आयु कर्म कुछ काल ही शेष रहा तो वह गिरिराज सम्मेद शिखर पहुँच कर प्रतिमा योग धारण कर, योग निरोध कर भाद्रपदशुक्ला अष्टमी को अपने पूर्वजों के साथ सिद्धशिला पर अनन्तकाल के लिए विराजमान हो गये कपूरवत देह का लोप हो जाने पर नख, एवं केश शेष बचने पर अग्निकुमार देवों ने उनका संस्कार कर दिया। इस प्रकार देवों ने भगवान पुष्पदन्त नाथ (सुविधिनाथ) का मोक्ष कल्याणक मनाया।

शीतलनाथः

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र सम्बन्धी मलय देश के भद्रपुर (भद्रिलपुर) नगर में इक्ष्वाकु कुल भूषण राजा दृढ़रथ राज्य करते थे, उनकी प्रियरानी सुनन्दा ने चैत्रकृष्ण अष्टमी के दिन रात्रि में सोलह स्वप्न देखे। रानी ने राजा से स्वप्नों का फल जाना कि उसकी कोख से महान तेजस्वी, महान पुण्यशाली तीर्थकर बालक का जन्म होने वाला है। छः माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि के माध्यम से शुभ संकेत तो प्रगट हो रहे थे, अब सोलह स्वप्नों के फल ने शुभ संकेतों की पुष्टि कर दी, श्री ही घृति आदि देवियाँ रानी सुनन्दा की सेवा में तत्पर हो गयी तथा रानी सदैव प्रसन्न रहे इस हेतु प्रयत्न करने लगी।

कालान्तर में नौ माह व्यतीत होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पुत्र जन्म हुआ, उसी समय बहुत भारी उत्सव के साथ देवगण आकर बालक को सुमेरु पर्वत पर ले गये, वहाँ उन्होंने बालक को पांडुकशिला पर विराजमान कर क्षीरसागर के जल से महाभिषेक किया तथा अत्यन्त हर्ष पूर्वक खुशियाँ मनाते हुए बालक का नाम शीतलनाथ रखा तथा उनके पैर के अंगूठे में कल्पवृक्ष की आकृति देख उनका लांछन कल्पवृक्ष घोषित किया।

जब शीतलनाथ यौवनावस्था में प्रवेशित हुए तो पिता दृढ़रथ ने उनका राज्याभिषेक कर अपना पद प्रदान किया। संसार के समस्त कर्तव्यों का पालन करते हुए वे वैभव पूर्वक सुख से सांसारिक भोगों को भोगने लगे। गति आदि शुभनाम कर्म, सातावेदीय, उत्तमगौत्र प्राप्त और अपघात मरण से रहित तथा तीर्थकर नामकर्म से युक्त आयुकर्म आदि सभी मिलकर उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध का उदय होने से उनके लिए सब प्रकार सुख प्रदान करते थे अतः उनके सुखों की उपमा नहीं की जा सकती है।

आयु का 1/4 भाग शेष रहने पर एक दिन बन में पाले को पिघलते देखकर जीवन की नश्वरता का अहसास हो गया 'मैं सुखी हूँ यह सुख है और यह सुख भी मुझे पुण्योदय से मिलेगा, यह बड़ा भारी मोह है, कर्म पुण्य रूप हो अथवा न हो यदि कर्म विद्यमान है तो उनसे इस जीव को सुख कैसे मिल सकता है' १३ ऐसे चिन्तन करते

हुए उन्होंने सांसारिक सुख के त्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया तथा अपना साम्राज्य अपने पुत्र को देकर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन शुक्रप्रभा पालकी में सवार होकर सहेतुक बन में चले गये, वस्त्राभूषण त्याग के साथ ही अन्तरंग मोह के कारण नष्ट होने के साथ दीक्षा के समय उन्हें चतुर्थ ज्ञान मनःपर्यज्ञान प्रगट हो गया। देवों ने भक्तिपूर्वक उनका दीक्षाकल्याणक मनाया, पूजा अर्चना की। द्वितीय दिवस आहार चर्या के लिए अरिष्टनगर में गये, राजा पुर्ववसु ने अत्यन्त भक्ति पूर्वक नवधा भक्ति से शीतलनाथ को आहार दिए प्रथम आहार पर देवों ने पञ्चाशचर्य प्रगट किये।

छद्मस्थ अवस्था में तप करते हुए तीन वर्ष पूर्ण होने के पश्चात् एक दिन दो दिन के उपवास का नियम लेकर बेल वृक्ष के नीचे आत्मचिन्तन रत हो गये शुक्ल ध्यान के प्रभाव से पौष कृष्णा चतुर्दशी को चार घातिया कर्मों का क्षय हो गया तथा केवलज्ञान प्रगट हो गया। देवों ने आकर भव्य जीवों के हितार्थ तथा भगवान को उनके पुण्य वैभव के अनुकूल विशाल एवं भव्य समवशरण की रचना की। शीतलनाथ भगवान के काल का यह प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन हुआ जिसमें देव, मनुष्यों और पशुओं के लिए औंकार रूपी दिव्यध्वनि निस्सरित हुई जिसे भव्य जीवों ने अपनी-अपनी भाषा में समझकर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

अनेक देशों में बिहार कर धर्मोपदेश के द्वारा बहुत भव्य मिथ्यादृष्टि जीवों को सम्प्रकृत्य आदि गुण स्थानों में प्रवेश कराते हुए वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे। एक माह का योग निरोध कर उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया और एक हजार मुनियों के साथ आश्विन शुक्ल अष्टमी के दिन सायंकाल के समय पूर्वांशाढा नक्षत्र में समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया।¹⁴

श्रेयांशनाथः

सिंहपुर नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी महाराज विष्णु सिंहपुर के अधिपति की महारानी सुनन्दा ने ज्येष्ठ कृष्ण षष्ठी के दिन रात्रि की अन्तिम बेला में सोलह स्वप्न देखे, एक हाथी मुख में प्रवेश कर रहा है इसी प्रकार के सोलह स्वप्नों का फल महाराजा विष्णु से पूछा। स्वप्नों का फल अतिशुभ जानकर तथा षडमासपूर्व से हो रही रत्न वृष्टि के शुभ संकेत से रानी सुनन्दा अत्यन्त प्रमुदित हुई तथा बहुत प्रसन्न रहने लगी, देवियाँ भी उनकी प्रसन्नता में सहयोगी होने लगीं।

नवमासपूर्ण होने पर फाल्युन कृष्णा एकादशी के दिन विष्णु योग में तीन ज्ञान के धारी महानपुण्यशाली तीर्थकर प्रकृति के धारी, तेजस्वी बालक का जन्म माता सुनन्दा के गर्भ से हुआ। भगवान का जन्म होने पर रोगी मनुष्य निरोगी तथा पापी जीव धर्मात्मा बन गये थे¹⁵ शीघ्र ही चारों निकाय के देव अपने शरीर और आभरणों की प्रभा के समूह से हर्षनाद करते हुए चारों ओर से आ गये थे, मनोहर दुन्दुभियाँ बजने लगीं, देव-नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं और गवैया मधुर गान गाने

लगे, सौधर्म इन्द्र देवताओं सहित बालक को सुमेर पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक कर श्रेयांशनाथ नाम रखकर तथा गेड़ा लांच्छन घोषित कर अत्यन्त हर्ष भाव से बालक को माता को सौंपकर अपने देव लोक वापिस चला गया। महान पुण्य के कारण देवगण बालक श्रेयांशनाथ का सहयोग करने लगे।

देह, वय और गुणों में लगातार वृद्धि को प्राप्त एक दिन अल्पावस्था पूर्ण कर यौवनावस्था में प्रवेश कर गये। पिता विष्णु महाराज ने अपना राज मुकुट श्रेयांशनाथ के मस्तक पर लगाकर श्रेयांशनाथ को महाराजा घोषित कर दिया। राजा के पुण्य के कारण प्रजा भी बहुत सन्तुष्ट एवं प्रसन्न थी। एक दिन महाराज श्रेयांशनाथ काल का चिन्तन करते हुए विचार कर रहे थे कि काल ही क्षण-क्षण में परिवर्तित हो रहा है, तो फिर चिर स्थायी क्या है? ऐसा चिन्तन करते हुए उनके मन में वैराग्य वर्धक विचार, वृद्धि को प्राप्त होने लगे, लौकान्तिक देवों ने उनके भावों की प्रशंसा कर उनके विचारों की अनुमोदना की। महाराजा श्रेयांशनाथ विमलप्रभा नामक पालकी में विराजमान हो फाल्युन कृष्णा एकादशी को मनोहर उद्यान में पहुँचे तथा एक सहस्र राजाओं के साथ वस्त्राभूषण त्यागकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की, दीक्षा ग्रहण के साथ ही उन्हें मनःपर्यज्ञान प्रगट हो गया।

श्रेयांशनाथ ने दो वर्ष कठोर तपकर आत्म शुद्धि का मार्ग प्रशस्त कर एक दिन, दो दिन के उपवास का नियम लेकर तुम्बर वृक्ष के नीचे बैठ गये तथा शुक्ल ध्यान में लीन होने के कारण माघ कृष्ण अमावस्या को उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। देवों ने आकर वाद्य यंत्रों से गगन गुंजायमान कर दिया तथा केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा भव्य और विशाल समवशरण की रचना की जिसमें श्रेयांशनाथ विराजमान हुए। भव्य जनों के हितार्थ दिव्य ध्वनि निस्सरित होने लगी।

अनेक देशों में उपदेश देते हुए विहार करते हुए श्रेयांशनाथ की आयु का एक माह शेष रहने पर वे सम्मेद शिखर पहुँचे तथा योग निरोध करते हुए श्रावण शुक्ला पूर्णमासी के दिन शेष कर्मों का नाश कर देह त्यागकर मोक्ष में विराजमान हो गये। यहाँ पृथ्वी पर देवों ने उनका निर्वाण कल्याणक मनाया।

श्रेयांशनाथ के काल में ही प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ तथा त्रिपृष्ठ का भाई विजय बलभद्र था, दोनों का अतुलनीय वैभव था, अत्यन्त आसक्ति पूर्वक आरम्भ और परिग्रह के कारण नारायण त्रिपृष्ठ मरकर नरक गया यह त्रिपृष्ठ ही मारिचि का जीव था जो आगे चलकर चौबीसवे तीर्थकर महावीर स्वामी हुए।

प्रतिनारायण अश्वग्रीव युद्ध स्थलों में त्रिपृष्ठ के हाथों मारा गया त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव का राज्य अपने श्वसुर ज्वलनजटी को समर्पित कर दिया, अब ज्वलनजटी उत्तर और दक्षिण दोनों विद्याधर श्रेणियों का अधिपति बन गया तथा त्रिपृष्ठ तीन खंड का अधिपति हो गया।

वासुपूज्यः

अंग देश की राजधानी चम्पापुरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी कश्यप गौत्रीय महाराज वसुपूज्य थे उनकी रानी जयवती को आषाढ़ कृष्णा षष्ठी की रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न आए। उन्होंने स्वप्न में देखा एक विशाल हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा है। ऐसे स्वप्नों का फल प्रातः काल में रानी को महाराज वसुपूज्य ने बताया कि यह अत्यन्त शुभ संकेत है, आपके गर्भ से अत्यन्त ओजस्वी, तेजस्वी, महानपुण्यशाली तीर्थकर बालक का जन्म होने वाला है। रानी अपने स्वप्नों का फल सुनकर अत्यन्त हर्ष विभोर हो गयी तथा अत्यन्त प्रसन्न रहने लगी। गर्भस्थ बालक की पुण्य प्रकृति के कारण अष्टकुमारियाँ ही श्री घृति आदि अष्टकुमारी देवियाँ रानी की सेवा में लग गयीं।

नौ माह पूर्ण होने पर चम्पापुर नगर में फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन सर्वजीव हितैषी, सत्यकथन करने वाले जन्म से त्रयज्ञान के धारी तीर्थकर बालक का जन्म हुआ। सौधर्म इन्द्र द्वारा संकेतों के माध्यम से तीर्थकर का जन्म होना जानकर अपने सिंहासन से उठकर उन्हें परोक्ष रूप से नमस्कार कर देव देवियों के साथ जन्म कल्याणक मनाने के लिए चम्पापुर नगर में पहुँचा तथा बहुत हर्ष भाव से वैभव पूर्वक जन्म कल्याणक मनाकर बालक का नाम वासुपूज्य रखकर तथा पद में भैंसे का चिह्न देखकर उनका लांछन भैंसा घोषित कर तीर्थकर बालक माता को सौंपकर अपने स्वर्ग लोक के लिए वापिस हो गया।

काल की परिवर्तन शीलता के साथ ही महानपुण्यशाली, त्रयज्ञान के धारी वासुपूज्यनाथ के वय के साथ देह, रूप, लावण्य, यश और गुणों में वृद्धि होने लगी। युवावस्था को प्राप्त होते ही उन्होंने प्राचीन परम्परा को तोड़ते हुए आजन्म ब्रह्मचर्य रहने का संकल्प कर कुमारावस्था में ही संसार की असारता को पहचान कर संसार को रागरूप, नाशवान, ममत्व से भरा हुआ, दुःख रूप जानकर इससे दूर होने का उपाय चिन्तन करते हुए आत्म कल्याण हेतु उन्मुख हो गये, लौकान्तिक देवों ने उनके विचारों की अनुमोदना तथा प्रशंसा की। पश्चात् फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को पुष्प्रभा नामक पालकी में विराजमान होकर चम्पापुरी के निकट ही मन्दारगिरि के बन में वस्त्राभूषण त्यागकर अन्तर बाह्य से दिग्म्बर हो गये, इसी समय इन्हें चतुर्थ ज्ञान मनःपर्यज्ञान प्रगट हो गया। अतः मुनि वासुपूज्य चतुर्ज्ञान के धारी हो गये।

छद्मावस्था का काल एक वर्ष महानतप तपते हुए वे कदम्ब वृक्ष के नीचे उपवास का नियम लेकर बैठ गये तथा आत्मचिन्तन में ही शुक्ल ध्यान में लीन रहने पर उनके चार घातिया कर्मों का नाश हो गया तथा पञ्चम ज्ञान केवलज्ञान प्रगट हो गया। देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजन की तथा तीर्थकर वासुपूज्य के योग्य विशाल एवं भव्य समवशरण की रचना की, जिसमें पहुँचकर भव्य जीव अपनी-

अपनी भाषा में देशना को समझने लगे तथा लोक एवं लोकोत्तर पदों को प्राप्त करने की भावना करते हुए अपना कल्याण मार्ग प्रशस्त करने लगे।

तीर्थकर वासुपूज्य ने सम्पूर्ण आर्य क्षेत्र में विहार करते हुए धर्म चक्र का प्रवर्तन किया तथा एक हजार वर्ष चम्पापुरी में ही धर्म चक्र का प्रवर्तन करते हुए आयु के अन्त में चम्पापुरी के निकट मन्दारगिरि के मनोहर उद्यान में रजतमालिका नदी के टट पर योग निरोध कर भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाश्वत पद सिद्धावस्था को प्राप्त किया, अग्निकुमार आदि देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजन की।

वासुपूज्य भगवान के तीर्थकाल में द्विपृष्ठ नारायण और अचल बलभद्र तथा तारक प्रतिनारायण हुए। प्रतिनारायण तारक की मृत्यु के पश्चात् दोनों भाई द्विपृष्ठ और अचल ने दिग्विजय कर वासुपूज्य भगवान के दर्शन किए।⁹⁵

विमलनाथः

कम्पिल नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी कृतवर्मा और उनकी रानी जयश्यामा सहित सभी परिजन और प्रजाजन सुखी थे। ज्येष्ठ कृष्ण दशमी को रात्रि के पिछले प्रहर में रानी जयश्यामा ने 16 स्वप्न देखे। प्रातः काल में अपने पति महाराज कृतवर्मा से उन स्वप्नों का फल जानकर रानी बहुत प्रसन्नता को प्राप्त हुई तथा रत्न वृष्टि आदि शुभ संकेतों से वह सन्तोष को प्राप्त हो रही थी। रानी की प्रसन्नता का कारण था कि वह अब रानी से जगत पूज्य तीर्थकर की माता बनने वाली हैं, जगत जननी बनने वाली हैं।

माघशुक्ला चतुर्दशी के दिन तीर्थकर बालक का जन्म हुआ जानकर इन्द्र सहित देवताओं ने उनका जन्माभिषेक कर यथायोग्य सम्मान कर तीर्थकर का नाम विमलनाथ रख तथा सूकर (सूअर) लांछन घोषित कर बालक को माता के लिए सौंप दिया। कुमार काल व्यतीत होने पर उनका विवाह और राज्याभिषेक हुआ। राजा विमलनाथ का शासन सुशासन था, प्रजा तथा परिजन सभी सुखी और सन्तुष्ट थे, एक दिन बर्फ की पिघलन को देखकर उन्हें संसार की नश्वरता का बोध हो गया उनके मन में वैराग्य के बीज पृष्ठित और पल्लवित होने लगे। लौकान्तिक देवों ने उनके विचारों की अनुमोदना की। माघशुक्ला चतुर्थी को सायंकाल में देवदत्ता नामक पालकी में सवार होकर सहेतुक बन में गये तथा वस्त्राभूषण त्याग बाह्य वैभव से मुक्त अन्तरंग वैभव संयुक्त हो दो दिन के उपवास का नियम लेकर आत्म वैभव को प्रगट करने हेतु उद्यत हुए, इसी समय उन्हें चौथा ज्ञान मनः पर्यज्ञान प्रगट हो गया।

इस प्रकार तपस्यारत रहते हुए उन्हें तीन वर्ष व्यतीत हो गये एक दिन वे जामुन के वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास के नियम लेकर आत्मध्यान में लीन हुए

माधशुक्ल षष्ठी के दिन शुक्ल ध्यान में रत रहने पर उनके चार घातिया कर्मों का क्षय होते ही पंचम ज्ञान केवलज्ञान प्रगट हो गया। देवों ने आकर तीर्थकर विमलनाथ के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा विशाल एवं भव्य समवशरण की रचना की जिसमें मनुष्य पशु, देव, देवी सभी भव्य जीवों ने उपस्थित रह कर दिव्यध्वनि का श्रवण कर अपनी-अपनी पात्रानुसर मोक्ष मार्ग प्रशस्त करने का उपाय किया।

तीर्थकर विमलनाथ आर्यक्षेत्रों में विहार करते हुए धर्म प्रवर्तन करते रहे तथा एक माह की आयु शेष रहने पर वे सम्मेद शिखर पहुँचे तथा वहाँ पर आठ हजार छः सौ मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर योग निरोध करते हुए आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के दिन प्रातः काल में निर्वाण को प्राप्त हो गये देवों ने आकर उनकी शेष रही देह नख और केश का अन्तिम संस्कार किया तथा निर्वाण कल्याणक मनाया।

लोक में आषाढ़ कृष्ण अष्टमी कालाष्टमी के नाम से प्रसिद्ध हुई, स्वयंभू नारायण एवं धर्म बलभद्र तथा मधु प्रतिनारायण तीर्थकर विमलनाथ के काल में उत्पन्न हुए तथा अपने-अपने कार्यानुसार यथायोग्य गति प्राप्त की।

अनन्तनाथः

कालान्तर में अयोध्या के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी कश्यप गोत्रीय महाराजा सिंहसेन रहे उनकी रानी जयश्यामा थीं, देवों ने रत्नवृष्टी प्रारम्भ कर दी, छह माह रत्नवृष्टि होने पर महारानी जयश्यामा ने कर्तिक कृष्ण प्रतिपदा को रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न देखे, स्वप्नों का फल महाराजा सिंहसेन से जानकर महारानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई और अत्यधिक प्रसन्न रहने लगी। श्री ही घृति आदि अष्ट कुमारियाँ महारानी की सेवा में तप्तर हो गयी थीं।

स्वप्न के नौ माह पूर्ण होने के पश्चात् महारानी जयश्यामा ने ज्येष्ठ, द्वादशी के दिन महान पुण्यशाली तेजस्वी तीर्थकर और त्रयज्ञानधारी बालक को जन्म दिया। अयोध्या सहित सम्पूर्ण विश्व में आनन्द की लहर प्रस्फूटित हो गयी सौधर्म इन्द्र अपने सिंहासन से उठकर सात कदम आगे चलकर तीर्थकर बालक को नमस्कार करता है तथा अपने वैभव के साथ अयोध्या पहुँचकर तीर्थकर का जन्म कल्याणक मनाकर बालक का नाम अनन्तनाथ रखकर तथा सेही चिह्न देखकर उनका लांछन से ही घोषित कर देवलोक वापिस हो जाता है।

तीर्थकर बालक अद्भुत क्षमता से युक्त देह, वय की वृद्धि के साथ यौवनावस्था की दहलीज पार करने लगे। राजा सिंहसेन अनन्तनाथ का विवाह संस्कार करवाकर अपना राज्य मुकुट उनके सिर पर रखकर संसार के कर्तव्य से मुक्त हो गये। अनन्तर अनन्तनाथ संसार के कर्तव्यों को पूर्ण करते हुए एक दिन वैराग्यवर्धक संकेत देखकर संसार की नश्वरता का बोध करने लगे। बोध होते ही नश्वर देह के माध्यम से आत्म कल्याण की भावना बलवती होने लगी। लौकान्तिक

देवों ने अनन्तनाथ के भावों को जानकर उनके भावों की खूब प्रशंसा तथा अनुमोदना की। तीर्थकर अनन्तनाथ अपना अनन्त आत्मवैभव प्राप्त करने हेतु राज्यवैभव अपने पुत्र अनन्तविजय को सौंपकर ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन सागरदत्त नामक पालकी में विराजमान होकर सहेतुक वन में पहुँचकर वस्त्राभूषण त्यागकर दो दिन के उपवास का नियम लेकर आत्मकल्याण हेतु तप्तर हुए। सामायिकसंयम सहित चतुर्थज्ञान मनःपर्यज्ञान प्रगट हो गया उपवास पश्चात् मुनि अनन्तनाथ ने साकेत में विशाख राजा के यहाँ विधिपूर्वक आहार ग्रहण किया। देवों ने पञ्चाशर्चर्य प्रगट किया। चैत्र कृष्ण अमावस्या को तपस्यारत रहते हुए जब दो वर्ष का छद्मस्थ काल व्यतीत हुआ तो एक दिन सहेतुक वन में पीपलवृक्ष के नीचे आत्मचिन्तन में रत रहते हुए आत्मवैभव प्रगट हो गया, चार घातिया कर्मों का क्षय हो गया जिससे तीर्थकर पद के अनुकूल कार्य प्रारम्भ हो गया। भगवान को केवलज्ञान प्रगट हो गया, देवों ने केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण की रचना की, जिसमें अनन्त नाथ अपने आत्मा के अनन्त वैभव के साथ समवशरण वैभव के ऊपर विराजमान होकर भव्यों का मोक्षमार्ग प्रशस्त करते हुए धर्मचक्र प्रवर्तन किया। अनन्तनाथ भगवान ने अनेक देशों में विहार कर भव्यों का कल्याण करते हुए धर्मचक्र प्रवर्तन करने लगे। आयु का एक माह शेष रहने पर सम्मेदशिखर सिद्धभूमि गिरिराज पर पहुँचकर समवशरण को त्यागकर प्रतिमायोग धारण कर योग निरोध करते हुए चैत्रकृष्ण अमावस्या को इस परम पवित्र नश्वर देह को त्यागकर निर्वाणभूमि से निर्वाणमहल (मोक्ष) में अनन्तकाल के लिए विराजमान हो गये।

तीर्थकर अनन्तनाथ के काल में ही सुप्रभ बलभद्र, पुरोषत्तम नारायण तथा मधुसूदन प्रतिनारायण हुए। पुरोषत्तम ने बलभद्र के सहयोग से मधुसूदन का वध करके तीन खंड के अधिपति का पद प्राप्त किया, राज्य वैभव में लिप्त रहने के कारण राजा पुरुषोत्तम मरण को प्राप्त कर नरक गति को प्राप्त हुआ तथा सुप्रभ बलभद्र ने जिन दीक्षा लेकर कर्मों का नाश कर मोक्ष पद प्राप्त किया।

धर्मनाथः

भरत क्षेत्र के उत्तरी भाग में रत्नपुर नामक नगर के अधिपति महाराज भानु का साम्राज्य विस्तार था उनकी महारानी महादेवी का नाम सुप्रभा था। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में प्रातः काल में रानी सुप्रभा ने सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नों में उन्होंने एक विशाल हाथी मुँह में प्रवेश करते हुए देखा। प्रातः काल उन्होंने अपने महाराज से स्वप्नों का फल जानने की इच्छा प्रगट की। महाराजा भानु से उन स्वप्नों का फल जानकर रानी सुप्रभा बहुत सन्तुष्ट हुई तथा यह जानकर अत्यन्त

प्रसन्न रहने लगीं कि मैं महान पुण्यशाली तीर्थकर की माँ बनने वाली हूं।

कालान्तर में नौ माह पूर्ण होने पर माघशुक्ल त्रयोदशी को महारानी सुप्रभा ने महान तेजस्वी, त्रयज्ञान के धारी महानपुण्यशाली तीर्थकर बालक को जन्म दिया इन्द्र ने तीर्थकर का जन्म हुआ जानकर उनके जन्म कल्याणक मनाने हेतु रत्नपुर नगरी की प्रदक्षिणा की तथा तीर्थकर बालक का सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक कर हर्ष उल्लास से प्रसन्नता प्रगट करते हुए तीर्थकर बालक का नाम धर्मनाथ रखकर तथा बज्र लांक्षन घोषित कर बालक माता को सौंप कर देवताओं के साथ देवलोक को प्रस्थान किया।

कालान्तर में वे यौवनावस्था में दाम्पत्य जीवन तथा राज्यवैभव का सुख भोगते हुए लोक में समस्त कर्तव्यों का पालन करते रहे। एक दिन वैराग्य सूचक उल्कापात का संकेत पाकर वे निरन्तर वैराग्यवर्धक भावों को भाने लगे, ऐसे भावों की पुष्टि हेतु तुरन्त लौकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर उनके भावों की सराहना की। धर्मनाथ ने अपने पुत्र सुधर्म को राज्य सिंहासन सौंपकर माघशुक्ल त्रयोदशी के दिन नागदत्ता पालकी में बैठकर वन में पहुँचकर एक हजार राजाओं के साथ वस्त्राभूषण सहित अन्तरंग बाह्य वैभव त्यागकर दो दिन का उपवास लेकर बैठ गये इसी समय मुनि धर्मनाथ को मनःपर्यय नामक चतुर्थज्ञान प्रगट हो गया। पश्चात् पाटलिपुत्र के राजा के यहाँ आहर हुआ देवों ने पञ्चाशर्चर्य प्रगट किए।

एक वर्ष तक तपस्यारत रहने पर छन्दास्थ काल व्यतीत होने पर पुरातन वन में सप्तच्छद वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर बैठ गये सायं को लोकालोक को प्रकाशित करने बाला केवलज्ञान प्रगट हो गया, देवों ने आकर केवलज्ञानी भगवान की पूजा की तथा विशाल एवं भव्य समवशरण की रचना की। तीर्थकर धर्मनाथ ने समवशरण के वैभव से ऊपर विराजमान होकर चिरकाल तक धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया। विभिन्न देशों में धर्म चक्र प्रवर्तन करते हुए आयु के अन्त में जब उनकी आयु एक माह शेष रही तो वह सम्प्रदेश शिखर पहुँचकर योग निरोध करने हेतु तत्पर हुए, ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन भगवान धर्मनाथ की नश्वर देह विलीन हो गयी, नख एवं केश ही शेष रहे जिनका देवों ने अन्तिम संस्कार किया। कर्मरहित शाश्वत आत्मा लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला पर अनन्तकाल के लिए विराजमान हो गयी।

तीर्थकर धर्मनाथ के काल में सुर्दर्शन बलभद्र, नारायण पुरुषसिंह, प्रतिनारायण मधुकैटभ हुए जिन्होंने अपने कर्मों के अनुसार गति प्राप्त की, बलभद्र सुर्दर्शन ने कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त किया।

धर्मनाथ के काल में मधवा नामक तृतीय चक्रवर्ती हुए जिन्होंने राज्यवैभव का सुख भोगकर बाह्य वैभव को त्यागकर अन्तरंग वैभव को प्राप्त कर कर्मों का क्षय

कर मोक्ष प्राप्त किया। चतुर्थ चक्रवर्ती सनतकुमार भी धर्मनाथ के काल में उत्पन्न हुए। वे छः खंड के अधिपति बने, अभूतपूर्व वैभव सम्पन्न चक्रवर्ती पद का सुख भोगकर अन्तरंग वैभव प्राप्ति हेतु बाह्य वैभव को त्यागकर मोक्षमार्गी जैनेश्वरी दीक्षा लेकर कर्मों को नष्ट कर मधवा चक्रवर्ती की तरह शाश्वत सिद्ध पद को प्राप्त किया।

शान्तिनाथः

हस्तिनापुर नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी कश्यप गोत्रिय महाराज विश्वसेन की महारानी गान्धार नरेश अजितंजय की पुत्री थी। एक दिन भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को गत्रि के पिछले प्रहर में महारानी एरा ने सोलह स्वप्न देखे तथा देखा मुख में एक विशाल हाथी प्रवेश कर रहा है। महारानी अपने स्वप्नों का फल महाराज से जानकर बहुत प्रसन्न हुई। श्री ही, धृति आदि देवियाँ महारानी की सेवा में संलग्न हो गर्या।

नौ माह पूर्ण होने पर तथा 15 माह पूर्व से हो रही रत्नवृष्टि का शुभ संकेत पूर्ण हुआ, ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को महारानी एरा जगत्पूज्य तीर्थकर की माता बन गर्या। उन्होंने महान पुण्यशाली, वैभवशाली, तेजस्वी, कामदेव, तीर्थकर प्रकृति के बन्धक, त्रयज्ञान के धारी पुत्रत्व की प्राप्ति की। पुत्र का जन्म होते ही स्वर्णों में शंखनाद, भेरीनाद तथा घण्टा नाद होने लगा। इन्द्र ने तीर्थकर का जन्म हुआ जानकर हस्तिनापुर की दिशा में सप्तपग आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया तथा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ ऐरावत हाथी पर सवार होकर तीर्थकर बालक का जन्मकल्याणक मनाने हस्तिनापुर नगर की ओर चल दिये। तीर्थकर बालक को सुमेरु पर्वत की पांडुक शिला पर विराजमान कर क्षीर सागर के जल से अभिषेक कर उनका नाम शान्तिनाथ रखा, पैर में हिरण चिह्न को देखकर उनका लांछन हिरण घोषित कर बहुत हर्ष के साथ जन्मोत्सव मनाकर बालक माता को सौंपकर देवता देवलोक वापिस चले गये।

वय और देह की वृद्धि के साथ ही उनके गुणों में, पुण्य में वृद्धि होने लगी पिता विश्वसेन ने अपने कामदेव पुत्र का बहुत उत्साह प्रसन्नता एवं वैभव से विवाह समारोह आयोजित किया तथा हस्तिनापुर का राज्यसिंहासन सौंप दिया। हस्तिनापुर की आयुधशाला में चक्रवर्ती पद के सूचक नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रगट हुए। महाराज शान्तिनाथ जो कामदेव थे। छह खंड के अधिपति हो गये तथा चक्रवर्ती पद से विभूषित होकर 32 हजार मुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति बन गये इस प्रकार के दिव्य भोग भोगते हुए बहुत काल पश्चात् एक दिन उनको जगत की नश्वरता का बोध हुआ तथा वैराग्य वर्धक भावनाएँ बलवती होने लगी, लौकान्तिक देवों ने आकर उनके वैराग्य की अनुमोदना तथा सराहना की।

ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को सर्वार्थसिद्धि नामक पालकी में विराजमान होकर सहस्राम्र वन में पहुँचकर बाह्य वैभव वस्त्राभूषण त्यागकर अन्तरंग वैभव की प्राप्ति हेतु दिग्म्बर होकर अपने हाथों से पंच मुष्टि केशलौंच कर एक सहस्र राजाओं

के साथ पर्यंकासन से आत्म तत्त्व में लीन हो गये, इसी समय चतुर्थज्ञान मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

मन्दिरपुर नगर के राजा सुमित्र के यहाँ मुनि शान्तिनाथ का प्रथम आहार हुआ। देवों द्वारा पञ्चाश्चर्य प्रगट किया गया। छद्मस्थकाल में कठिन तपस्या करते हुए जब सोलह वर्ष व्यतीत हुए तो एक दिन चक्रायुध आदि मुनि राजों के साथ बन में नद्यावर्त वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर आत्मध्यान में रत शुक्लध्यान में लीन हो गये। पौषशुक्ल दशमी को चार घातियाँ कर्मों का नाश होते ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। देवों ने आकर तीर्थकर शान्तिनाथ की पूजा की तथा भव्य एवं वैभव सम्पन्न समवशरण की रचना की जिसके वैभव से ऊपर होकर षोडशवें तीर्थकर शान्तिनाथ भगवान विराजमान हुए। एक माह आयु शेष रहने तक विभिन्न देशों में श्रमण संस्कृति का धर्मचक्र प्रवर्तन कर अनेक भव्यों को मुक्ति पथ प्रदर्शित करते रहे।

आयु का एक माह शेष रहने का सम्मेद शिखर पर आकर योग निरोध कर आत्मध्यान में लीन होकर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को शुक्ल ध्यान में पहुँच कर शेष कर्मों का नाश कर अति अल्पकाल में सिद्धशिला में विराजमान हो गये। देवों ने शेष रही देह के अंश, नख, केश का अन्तिम संस्कार कर मोक्ष कल्याणक मनाया।

कुंथुनाथः

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर के अधिपति कौरववंशी काश्यपगोत्री महाराज सूरसेन की महारानी की श्रीकांता ने श्रावण कृष्णा दशमी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। दूसरे दिन रानी महाराज सूरसेन से रात्रि के अन्तिम प्रहर में आने वाले स्वप्नों का फल जानकर अति प्रसन्न हुई। नगर में शुभ संकेत तो छह माह पूर्व से रत्नवृष्टि के माध्यम से हो रहे थे अब महाराजा द्वारा बताए गये स्वप्नों के फल से रानी श्रीकांता और अधिक प्रसन्न रहने लगीं। अष्टकुमारी देवियाँ रानी की सेवा में संलग्न हो गयीं।

गर्भावस्था के नौमाह पूर्ण होने पर महारानी श्रीकांता ने वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन महान तैजस्वी, महान पुण्यशाली तीर्थकर पद का धारक, वैभवशाली चक्रवर्ती पद प्राप्त करने वाले त्रयज्ञान सम्पन्न बालक को जन्म दिया। देवों ने तीर्थकर का जन्म हुआ जानकर बड़े वैभव से हस्तिनापुर में आकर बहुत आनन्द पूर्वक तीर्थकर बालक का जन्म कल्याणक मनाया तथा तीर्थकर बालक का नाम कुंथुनाथ रखकर बकरा चिह्न घोषित कर बालक माँ को सौंपकर देवलोक वापिस चले गये। वय और देह की वृद्धि के साथ ज्ञान भी प्रगट होने लगा। कुंथुनाथ का यौवनावस्था में प्रवेश करते ही पिता सूरसेन ने योग्य कन्याओं संग उनका विवाह कर दिया तथा अपना राज्य सिंहासन भी उनके लिए सौंप दिया।

कुंथुनाथ को राज्य करते हुए एक काल व्यतीत होने पर उनकी आयुध शाला में चौदह रत्न एवं नौ निधियाँ प्रगट हुईं जिनके परिणामस्वरूप कुंथुनाथ को चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ, वे छह खंड के अधिपति बने। 32000 मुकुट बद्ध राजा उनके लिए नमस्कार करते थे। संसार का कोई सुख ऐसा नहीं था जिसका भोग उन्होंने न किया हो, ऐसे भोग भोगते हुए, कर्तव्य का पालन करते हुए एक दिन उन्हें संसार से विरक्ति हेतु वैराग्य वर्धक वैराग्य भावना पुष्ट हो गयी तथा अपना राजपाट अपने पुत्र को सौंपकर विजया पालकी में बैठकर सहेतुक बन की ओर चल दिए। वैशाखशुक्ला प्रतिपदा के दिन एक हजार राजाओं के साथ वस्त्राभूषण और बाह्य वैभव को त्यागकर बेला का नियम लेकर अन्तरंग वैभव को प्राप्त करने को उद्यत हुए कि चतुर्थज्ञान मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

विभिन्न प्रकार से घोर तपते हुए छद्मस्थ अवस्था में 16 वर्ष व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन तिलक वृक्ष के नीचे वे बेला का नियम लेकर ध्यान में लीन हो गये उसी समय संसार वर्धक चार घातिया कर्मों का नाश हो गया और केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। देवों ने दिव्य बाजों के घोष से केवलज्ञान की महिमा को प्रगट किया तथा महान समवशरण की रचना की, जिसके वैभव से ऊपर रहकर तीर्थकर कुंथुनाथ विराजमान होकर भव्यों के भाग्य से धर्मचक्र प्रवर्तन करने लगे। विभिन्न देशों में भव्य जीवों को धर्मामृत का पान कराते हुए जब आयु एक माह शेष रही तो वे सम्मेद शिखर पहुँचकर योग निरोधकर शेष चार अघातिया कर्मों के नाश हेतु उद्यत हुए। वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन प्रतिमायोग धारण कर शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में पहुँचकर शेष कर्मों का नाश कर नश्वर संसार से मुक्त हो शाश्वत सिद्ध पद को प्राप्त कर लिया।

अरनाथः

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर में सोमवंश में कश्यप गौत्रीय सुदर्शन महाराज शासन करते थे उनकी महारानी मित्रसेना को फाल्युन शुक्ला तृतीया के रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न दिखाई दिए तथा एक विशाल हाथी उनके मुख में प्रवेश करता हुआ दिखा। महारानी ने प्रातःकाल में महाराज से स्वप्नों का फल जानने की इच्छा की, महाराज सुदर्शन ने इन शुभ स्वप्नों का फल महानपुण्यशाली तीर्थकर बालक के जीव का गर्भ में आना बताया। रानी मित्रसेना की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा, वे अब अत्याधिक प्रसन्न रहने लगीं तथा तीर्थकर के पुण्य प्रभाव के फलस्वरूप ही, श्री, घृति आदि अष्ट कुमारियाँ रानी मित्रसेना की सेवा में संलग्न हो गयीं।

गर्भावस्था के नवमाह पूर्ण होने पर मगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन त्रयज्ञान के धारी महान पुण्यशाली चरम शरीरी तीर्थकर बालक का जन्म हुआ। स्वर्ग

में इन्द्र ने तीर्थकर बालक का जन्म हुआ जानकर उन्हें वहीं से प्रणाम कर उनका जन्मोत्सव मनाने हेतु अपने वैभव के साथ हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया तथा बहुत उल्लास एवं प्रमुदित भाव से बालक को गोद में उठाकर ऐरावत हाथी पर विराजमान कर सुमेर पर्वत पर क्षीर सागर के जल से जन्माभिषेक कर दिव्यवस्त्राभूषण से अलंकृत कर तीर्थकर बालक का नाम अरनाथ रखा तथा पग में मीन चिह्न देखकर उनका लाञ्छन मीन घोषित कर महान उत्सव के साथ तीर्थकर बालक अरनाथ को माता मित्रसेना को सौंपकर इन्द्र अपने स्वर्गलोक वापिस चले गये। अरनाथ के यौवनकाल में प्रवेश करते ही पिता सुर्दर्शन महाराज ने उनका विवाह कर दिया तथा अपना मंडलेश्वर का पद उन्हें सौंपकर वे संसार के कर्तव्यों से निवृत हो गये। कालान्तर में चक्रवर्ती पद के सूचक चिह्न चौदह रत्न और नौ विधियाँ उनकी आयुध शाला में प्रगट हुईं। फलस्वरूप दिग्विजय वैभवशाली चक्रवर्ती पद प्राप्त कर संसार के समस्त भोगों का भोग करते हुए संसार के अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए एक दिन संसार की नश्वरता का बोध कराने वाला वैराग्य सूचक संकेत पाकर उनकी वैराग्य भावना अति बलवती हो गयी। लौकान्तिक देवों ने आकर उनके भावों की सराहना की। चक्रवर्ती का वैभव और भोग क्षीण वस्त्रों की तरह त्यागकर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन सायंकाल में वैजयन्त नामक पालकी में विराजमान होकर सहेतुक वन में पहुँचकर वस्त्राभूषण एवं समस्त बाह्य वैभव को त्यागकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेकर बेला का नियम लेकर ध्यानस्थ हो गये। दीक्षा के साथ ही मनःपर्यज्ञन प्रगत हो गया।

अरहनाथ का सोलह वर्ष तक तप करते हुए छद्मस्थ काल व्यतीत हुआ तो एक दिन वे बेला का नियम लेकर आप्रवृक्ष के नीचे पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ हो गये कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन शुक्ल ध्यान में उन्होंने संसार के कारणभूत चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया तथा केवलज्ञान रूपी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान लक्ष्मी प्रगट हो गयी, देवों ने आकर बहुत उल्लास से पूजन-अर्चन कर भगवान के अनुरूप विशाल एवं भव्य समवशरण की रचना की जिसमें मनुष्य, देव पशु सभी अपनी-अपनी योग्यता अनुसार देशना को प्राप्त कर कल्याण मार्ग में लग गये। इस प्रकार तीर्थकर अरनाथ बहुत लम्बे समय तक धर्म चक्र का प्रवर्तन करते रहे अन्त में आयु का एक माह शेष रहने पर वे सम्मेद शिखर पर्वत पर एक हजार मुनियों के साथ योग निरोध हेतु प्रतिमा योग धारण कर ध्यानस्थ हो गये। चैत्र कृष्णा अमावस्या को शुक्लध्यान के अन्तिम चरण में प्रवेश करते ही संसार में अटकाए रखने वाले चार घातिया कर्म भी नष्ट हो गये। उनकी देह कपूर की तरह विलीन हो गयी तथा शेष बचे नख और केश का अग्नि कुमार देवों ने अन्तिम संस्कार किया। इस प्रकार तीर्थकर अरनाथ आत्मा से परमात्मा और परमात्मा से सिद्धात्मा होकर चिरकाल के

लिए सिद्धालय (मोक्ष) में विराजमान हो गये।

अरहनाथ के काल में सुभौम चक्रवर्ती हुए जिन्होंने णमोकार महामंत्र की अवहेलना कर रौद्र परिणाम के कारण नरक गति को प्राप्त किया। इन्हीं के काल में छठवें बलभद्र नन्दिषेण, छठवें नारायण पुण्डरीक और छठवें प्रतिनारायण निशुम्भ हुए। जिन्होंने अपने कर्मों अनुसार गति को प्राप्त किया।

मल्लिनाथः

इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गौत्रीय महाराज कुम्भ मिथिलानगरी के अधिपति थे इनकी महारानी प्रजावती को चैत्रशुक्ला प्रतिपदा की रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न दिखाई दिए उन स्वप्नों का फल महाराज कुम्भ से जानकर रानी प्रजावती बहुत प्रसन्न हुई कि वे एक महानपुण्यशाली तीर्थकर बालक की माता बनने वाली हैं। महारानी सदैव प्रसन्न रहने लगीं तथा श्री, ही, घृत आदि देवियाँ महारानी को अत्यन्त सन्तुष्ट करने लगीं।

नौ माह गर्भावस्था के पूर्ण होने पर मगसिर शुक्ला एकादशी को महारानी प्रजावती ने महान तैजस्वी, त्रयज्ञानधारी तीर्थकर बालक को जन्म दिया, अब वे महारानी से जगत् तीर्थकर की माता बनने से जगत् जननी बन गयीं। तीर्थकर का जन्म होते ही इन्द्र ने स्वर्गलोक से ही उनको नमस्कार किया तथा तीर्थकर का जन्म कल्याणक उत्सव मनाने देवताओं के वैभव के साथ मिथिला नगरी में पहुँचकर बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर सागर के जल से अभिषेक कर बहुत भारी उत्सव के साथ तीर्थकर बालक का नाम मल्लिनाथ घोषित कर तथा पग में कलश चिह्न देखकर उनका लाञ्छन कलश घोषित कर तीर्थकर बालक को माता प्रजावती को सौंपकर स्वर्गलोक वापिस चले गये।

देह और वय की पुष्टि के साथ ही मल्लिनाथ ने यौवनावस्था में प्रवेश किया, महाराज कुम्भ ने मल्लिनाथ के विवाह की तैयारी प्रारम्भ की, लेकिन मल्लिनाथ ने सांसारिक प्रपञ्च का आरम्भ विवाह नहीं करने का मन बना लिया। उनका मन राग-रागिनियाँ, रंगरैलियों से दूर वैराग्य की ओर जाने लगा तथा जगत राग से दूर वैराग्य भावना निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगी। पूर्व जन्म का जाति स्मरण होते ही उन्हें जगत की नश्वरता का अहसास हो गया तथा महान पुण्य से प्राप्त मनुष्य पर्याय से मोक्ष पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करने हेतु वे उद्यत हुए। लौकान्तिक देवों ने आकर उनके भावों की सराहना की तथा उनके वैराग्य को पुष्ट किया। वे अग्रहन शुक्ल एकादशी (मगसिर शुक्ला एकादशी) को जयन्त नामक पालकी में विराजमान होकर श्वेत वन में पहुँचे। वन में पहुँचकर उन्होंने समस्त वस्त्राभूषण त्यागकर सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर अपने हाथों से अपने सिर के बालों को पाँच बार में घास की तरह उखाड़ फेंका। मुनि अवस्था को प्राप्त होते ही मल्लिनाथ को चतुर्थज्ञान मनः-

पर्यज्ञान प्रगट हो गया। वैला के नियम उपरान्त तृतीय दिवस उन्होंने नन्दिषेण राजा के यहाँ प्रथम आहार ग्रहण किया।

दीक्षा लेने के मात्र छह दिन पश्चात् ही जब वे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए तो संसार के परिभ्रमण के कारण चार घातियाँ कर्म समाप्त हो गये तथा केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। देवों ने आकर जय-जयकार किया तथा बाजों की ध्वनि से आकाश गुंजायमान कर दिया। उन्हें भगवान मल्लिनाथ के योग्य विशाल एवं भव्य समवशरण की रचना की जिसके वैभव से ऊपर रहते हुए वे अपनी आयु के एक माह शेष रहने तक भव्य जीवों का कल्याण करते हुए धर्म तीर्थ प्रवर्तन करते रहे।

जब आयु का एक माह शेष रहा तब उन्होंने सम्मेद शिखर गिरि पहुंचकर पाँच हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर योग निरोध किया, जिसके फलस्वरूप फाल्युन शुक्ला पंचमी को उनके शेष चार अघातिया कर्मों का क्षय हो गया। वे सिद्ध शिला पर आरूढ़ हो गये। उनकी देह कपूरवत लुप्त हो गयी, मात्र नख और केश शेष रहे जिनका अग्नि कुमार देवों ने आकर संस्कार कर दिया।

मिथिला : वर्तमान जनकपुर प्राचीन मिथिला की राजधानी का दुर्ग है, नन्दनगढ़ के टीले से 1000 वर्ष पुराने सिक्के के आधार पर मिथिला नगरी का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है¹⁷ सीतामढ़ी या दरभंगा से जयनगर रेल्वे स्टेशन (नेपाल) से जनकपुर 18 मील हैं¹⁸

पद्म चक्रवर्ती मल्लिनाथ के काल में हुए जिन्होंने राज्यवैभव त्यागकर मोक्ष प्राप्त किया। मल्लिनाथ के काल में हुए नन्दिमित्र बलभद्र दत्तनारायण और बीन्द्र प्रतिनारायण जिन्होंने अपने-अपने कर्मों अनुसार गति प्राप्त की।

मुनिसुव्रतनाथः

राजग्रह नगर के अधिपति काश्यप गोत्रीय महाराज सुमित्र की महारानी सोमा को श्रावण कृष्णा द्वितीया की रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न दिखाई दिए। प्रातकाल महारानी सोमा ने महाराज सुमित्र से स्वप्नों का फल जानना चाहा महाराज सुमित्र ने अपने अवधिज्ञान से जब महारानी सोमा को यह बताया कि आप महान पुण्यशाली तीर्थकर की माता बनने वाली हैं, तो महारानी सोमा को अपार प्रसन्नता हुई। गर्भावस्था के नौ माह पूर्ण होने पर वैशाख कृष्णा दशमी को महारानी सोमा ने महान पुण्य के उदय से महान पुण्यशाली, तीर्थकर प्रकृति के बन्धक अत्यन्त तेजस्वी बालक को जन्म दिया। महारानी सोमा से अब वह जगतजननी बन गयी। जगत के पथ प्रदर्शक को जन्म देकर वे धन्य हो गयीं। इन्द्र सहित सभी देवताओं ने तीर्थकर बालक का जन्म कल्याणक मनाने हेतु राजग्रह नगर की ओर प्रस्थान किया इन्द्र बहुत अधिक उत्साह से तीर्थकर बालक को सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहाँ

पर क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया तथा तीर्थकर बालक का नाम मुनिसुव्रत रखकर कछुआ लांछन घोषित कर बालक माता को सौंपकर समस्त देवता स्वर्ग लोक को चले गये।

कुमार काल व्यतीत होने पर युवावस्था में प्रवेश करते ही उनका विवाह संस्कार कर राज्याभिषेक भी कर दिया गया। कालान्तर में एक दिन हस्ती से प्रेरणा लेकर महाराज मुनिसुव्रत के मन में वैराग्य का बीज प्रस्फुटित होकर पल्लवित पुष्पित हो गया वह संसार की असारता को समझ कर इस नश्वर देह से शाश्वत पद को प्राप्त करने के लिए उद्यत हुए। लौकान्तिक देवों ने उनके वैराग्यवर्द्धक विचारों की अनुमोदना कर उनकी प्रशंसा की। इस प्रकार अपने विचारों की दृढ़ता के फलस्वरूप वैशाख कृष्णा दशमी के दिन अपने पुत्र युवराज को राजपाट सौंपकर अपराजिता नामक पालकी में विराजमान होकर वे वन में पहुँचे तथा एक हजार राजाओं के साथ समस्त सावद्य और बाह्य वैभव को त्यागकर सिद्ध भगवान की साक्षी में दिगम्बर मुद्रा धारण कर पंचमुष्टि से केश लाँच कर ध्यानस्थ हो गये, दीक्षा के साथ ही श्रमण मुनिसुव्रत नाथ को मनःपर्यज्ञान प्रगट हो गया। उपवास पश्चात् मुनिसुव्रतनाथ ने राजग्रह नगर में राजा वृषभदत्त के यहाँ आहार ग्रहण किया देवों ने पंचाश्यर्च प्रगट किया।

तप करते हुए जब 11 माह व्यतीत हुए तब वे वन में चम्पकवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये, शुक्लध्यान के फलस्वरूप वैशाख कृष्ण नवमी के दिन मुनिसुव्रतनाथ के संसार में वृद्धि करने वाले चार घातिया कर्म नाश हो गये। तीर्थकर श्रमण मुनिसुव्रतनाथ को केवलज्ञान प्रगट हो गया। तीर्थकर प्रकृति के उदय में आते ही समवशरण की रचना देवों ने की, जिसमें अरहंत परमेष्ठी मुनिसुव्रतनाथ विराजमान हुए तथा भव्य जीवों के कल्याण हेतु अनेक देशों में विहार करते हुए जब उनकी आयु एक माह शेष रही तब वे महान पर्वत सम्मेद शिखर पहुँचे तथा समवशरण त्यागकर योग निरोध हेतु उद्यत हुए, प्रतिमायोग धारण कर लिया फलस्वरूप फाल्युन कृष्णाद्वादशी को रात्रि के अन्तिम पहर में समस्त अघातिया कर्मों का क्षयकर इसी नश्वर देह से सार्थक प्रयत्न कर शाश्वत सिद्ध पद को प्राप्त कर लिया। परम औदारिक देह कपूरवत समाप्त हो गयी, शेष रहे नख और केशों का अग्निकुमार देवों ने आकर संस्कार कर दिया।

तीर्थकर मुनिसुव्रत के सेवक यक्ष वर्ण और यक्षिणी बहुरूपिणी थे, मुनिसुव्रतनाथ भगवान के काल में ही लोक ख्याति प्राप्त दशरथ के पुत्र बलभद्र राम एवं नारायण लक्ष्मण और प्रतिनारायण रावण हुए। अष्टम बलभद्र राम एवं अष्टम नारायण लक्ष्मण का इक्ष्वाकुवंश ऋषभदेव को आहार दान देने वाले राजा श्रेयांश का वंश है। ऋषभदेव को इक्षुरस (गने के रस का) आहार देने वाले इक्ष्वाकुवंश में रघु

के पुत्र दशरथ और दशरथ के पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न थे १९ इतिहासकारों ने इस वंश को ककुस्थवंश भी कहा है।

नमिनाथः

बंगदेश में मिथिलानगरी (नेपाल में) के अधिपति इक्ष्वाकुवंश के काश्यप गौत्रीय महाराज विजय की महारानी वप्पिला को आश्विन कृष्णा द्वितीया को रात्रि के अन्तिम प्रहर (ब्रह्म मुहूर्त काल) में सोलह स्वप्न दिखाई दिये उन्होंने मुख में एक हाथी को प्रवेश करता हुआ देखा। स्वप्न समाप्ति पर ही महारानी वप्पिला की निद्रा भंग हो गयी। प्रातः काल आवश्यक कार्यों से निवृत होकर महाराज के पास पहुँचकर रात्रि में देखे स्वप्नों का फल जानने की इच्छा प्रगट की, तब महाराज विजय ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर रानी को विस्तार से यह बतलाया कि आप अब जगत जननी होनें वाली हैं, आपके गर्भ में तीर्थकर कर्म प्रकृति का धारक महान पुण्यशाली जीव आ चुका है, आप तीर्थकर की माता बनने वाली हैं ऐसा शुभ समाचार सुनकर रानी वप्पिला अत्याधिक प्रसन्न हुई।

गर्भवस्था के नौ मास पूर्ण होने पर महारानी वप्पिला ने आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र में लोक प्रतापी, त्रय ज्ञान धारी तीर्थकर बालक को जन्म दिया, जिससे पृथ्वी लोक से लेकर स्वर्गलोक में प्रसन्नता छा गयी। इन्द्र ने अपने सिंहासन से उठकर महान पुण्यशाली तीर्थकर बालक को प्रणाम किया। नरकों में भी एक क्षण के लिए शान्ति हो गयी। देवों ने मिथिला नगरी आकर बहुत हर्ष उल्लास के साथ तीर्थकर बालक का जन्म कल्याणक मनाया। तीर्थकर बालक को सुमेरू पर्वत पर स्थित पांडुक शिला पर विराजमान करके क्षीरसागर के जल से देवों ने तीर्थकर बालक का अभिषेक किया, इन्द्र ने बालक का नाम नमिनाथ रखकर उनके पद चिह्न को देखकर उनका लांछन नील कमल घोषित कर स्वर्गलोक को वापिस चले गये। यौवनावस्था में प्रवेश के साथ ही पिता महाराज विजय ने उनका विवाह कर राज्याभिषेक कर दिया। नमिनाथ ने सांसारिक कर्तव्यों का यथोचित पालन किया। एक दिन देवों के कौतुहल के कारण नमिनाथ को अपने पिछले जन्म का स्मरण हुआ और वैराग्यभावना अंकुरित हो उठी यह वैराग्य भावना रूपी लता शीघ्र ही पल्लवित, पुष्पित और फलित होने लगी, अब उन्हें संसार असार दृष्टव्य होने लगा, जिस राग के कारण यह संसार सारमय लग रहा था, अब वैराग्य के कारण वहीं संसार निस्सार लग रहा था अब कल्याण हेतु जीवन की घड़ियाँ कम लगाने लगी। फलतः अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य सौंपकर आषाढ़ कृष्णा दशमी को उत्तरकुरु नामक पालकी में विराजमान होकर वन की ओर चल दिए। अन्तरंग वैभव की प्राप्ति के लिए व्याकुल नमिनाथ ने वस्त्राभूषण के साथ बाह्य वैभव को कटे हुए नाखूनों की तरह त्याग दिया तत्काल ही चतुर्थज्ञान मनःपर्ययज्ञान की प्राप्ति हुई पश्चात् वीरपुरु

नगर के राजा के यहाँ प्रथम आहार हुआ।

नौ वर्ष तक कठोर साधना में छद्मस्थकाल व्यतीत हो गया वे मार्गशीर्ष शुक्ला एकम के दिन वकुल वृक्ष के नीचे आत्मस्थ होकर शुक्ल ध्यान में आरूढ़ हो गये। चार घातिया कर्मों का नाश हो गया, केवलज्ञान प्रगट हो गया देवों के बाजों का स्वर तेज हो गया। कुबेर ने आकर भगवान के योग्य समवशरण का वैभव विस्तार किया जिसमें देव, मनुष्य, पशु आत्मकल्याण की भावना से अपने-अपने स्थान पर बैठे। भगवान तीर्थकर नमिनाथ की ओंकार रूपी देशना प्रसारित होने लगी जो अद्वारह मूल भाषा में तथा सात सौ अन्य भाषाओं में अनुवादित होकर सभी भव्य जीवों को अपनी-अपनी भाषा के अनुसार कल्याण में सहकारी हो रही थी।

इस प्रकार तीर्थकर नमिनाथ ने अपनी आयु पूर्ण होने तक सम्पूर्ण आर्यवर्ती में तीर्थधर्म का प्रवर्तन किया। अन्त में आयु का एक माह शेष रहने पर सम्मेद शिखर पर पहुँचकर योग निरोध हेतु एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर शेष कर्मों के नाश हेतु उद्यत हुए फलस्वरूप वैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन शेष कर्मों का नाश कर संसार सागर से पार होकर पूर्व में विराजित सिद्धों के स्थान, शाश्वत सिद्ध शिला पर अनन्तकाल के लिए विराजित हो गये।

जयसेन चक्रवर्ती नमिनाथ के काल में हुए जिन्होंने संयम धारण कर मुनिव्रत अंगीकार करके मरण कर देवगति को प्राप्त की।

नेमिनाथः

शौर्यपुर (शोरीपुर) के महाराजा समुद्र विजय के महलों में छह माह पूर्व से देवकृत रत्न वर्षा प्रतिदिन प्रारम्भ हो गयी थी, छह माह पश्चात् महारानी शिव देवी को कार्तिक शुक्ला षष्ठी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न दिखाई दिए। महारानी ने प्रातः काल दैनिक कार्यों से निवृत होकर महाराज से रात्रि में देखे स्वप्नों का फल पूछा। महाराज समुद्र विजय स्वप्नों का फलादेश बताते हुए कहने लगे कि देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर प्रकृति का बन्धक महान पुण्यशाली जीव अवतीर्ण हुआ है, देवियों ने गर्भ कल्याणक का उत्सव किया। श्री, ह्मीं, घृति आदि देवियाँ महारानी शिवादेवी की सेवा में तत्पर हो गयीं। तीर्थकर बालक का पुण्य प्रताप ही ऐसा रहता है कि देव-देवियाँ उनकी सेवा हेतु तत्पर रहने लगते हैं। नौमाह पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को चित्रा नक्षत्र में जब शुभग्रह अपने उच्च स्थान पर थे महारानी शिवादेवी ने अनुपम सुन्दर, महान पुण्यशाली, त्रयज्ञानधारी तीर्थकर प्रकृति के बन्धक बालक को जन्म दिया, तीर्थकर बालक के जन्म के समय ज्योतिष्क देवलोक में सिंहनाद, कल्पवासी देवलोक के विमानों घण्टानाद, व्यन्तरलोक में भैरी तथा भवनवासी देवों में शंखनाद होने लगा। सौधर्म इन्द्र सभी देव देवियों के

साथ ऐरावत हाथी पर सवार होकर अति हर्ष भाव से सौर्यपुर आए तीर्थकर बालक को शची के माध्यम से ऐरावत हाथी पर विराजमान करके सुमेर पर्वत स्थित पांडुक शिला पर विराजमान करके क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया तथा दिव्य वस्त्राभूषण से अलंकृत कर उनका नाम नेमिनाथ रखा तथा पाद चिह्न को लग्खकर उनका लांछन शंख घोषित किया। इन्द्र आदि देवों ने आनंद नाटक और ताण्डव नृत्य किया। इस प्रकार तीर्थकर नेमिनाथ का इन्द्र सहित देवों द्वारा जन्म कल्याणक अति हर्ष भाव से मनाकर वे सब देवलोक के लिए प्रस्थान कर गये।

सामान्यतया प्रत्येक तीर्थकर के त्रय कल्याणक गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक तपकल्याणक एक ही स्थान पर सम्पन्न होते हैं लेकिन एक मात्र नेमिनाथ ऐसे तीर्थकर हुए जिनके गर्भ कल्याणक और जन्म कल्याणक ही एक स्थान पर हुए लेकिन तपकल्याणक दूसरे स्थान पर हुआ।

प्रतिनारायण जरासन्ध जो तीनखंड का अधिपति था युद्ध में यादवों द्वारा अपने भ्राता और पुत्रों की मृत्यु से विचलित हो गया, यादवों के ऊपर अति क्रोधित होकर उनके समूल नाश की योजना तैयार की। समय रहते जरासन्ध की इस योजना का पता मथुरा, शौर्यपुर के यादवों को चल गया अतः सभी ने मंत्रणा कर जरासंध के प्रभाव वाला क्षेत्र तुरन्त त्याग देने का निश्चय किया। सभी यादव जरासंध के प्रभाव से मुक्त पश्चिम के अन्तिम छोर समुद्री तट पर द्वारका तक पहुँच गये। यादवों ने देवों के द्वारा द्वारका में अद्भुत अनुपम नगर रचना की। इस नगर में बगीचे, सरोवर, कुँए, रत्नों से भूषित जिनालय, तौरण द्वार, स्वर्ण मय प्राकार और गोपुरों से युक्त अनेक खंडों वाले महल बनाए, श्रीकृष्ण के लिए अट्ठारह खंडों वाला सर्वतोभद्र प्रासाद बनाया गया।

द्वारका में एक ही स्थान पर एक ही काल में तीन-तीन श्लाका पुरुष एक ही काल में रहे। बलभद्र (बलदाऊ) नारायण श्रीकृष्ण और महान पुण्यशाली त्रयज्ञान के धारी तीर्थकर नेमिनाथ। ऐसा उदाहरण अन्यत्र दृष्टव्य नहीं होता।

नेमिनाथ अपनी वय के साथ देह से भी पुष्ट हो रहे थे। एक बार वे अपनी भावज सत्यभामा के साथ सरोवर में जल क्रीड़ा कर रहे थे कि सत्यभामा के द्वारा बातों-बातों में श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता से नेमिनाथ की तुलना कर श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ बतला दिया, तब नेमिनाथ ने सहज मानवीय गुण के कारण मान अभिमान में अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए नागशैया पर चढ़कर, शार्ङ्गधनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर खींच दी तथा श्रीकृष्ण के पांचजन्य शंख को भी फूँक कर बजा दिया। श्रीकृष्ण ने यह जानकर उनको राग के बन्धन में बाँधने हेतु उग्रसेन की जयावती नाम की रानी से उत्पन्न राजुल से विवाह तय कर दिया। आशंका उत्पन्न होते ही समाधान प्रारम्भ हो गये तथा शुद्ध, सात्त्विक अहिंसक, दयालु, कृपानिधान के गुणों को

कमजोरी बनाने हेतु विवाह के दूसरे दिवस पशुओं को मारने का दिखावा कर नेमिनाथ को राणी से वैरागी बनाने का सार्थक प्रयास कर दिया। अपने पूर्व भवों का स्मरण कर नेमिनाथ को जगत के कार्यों से वैराग्य हो गया वे भोगों से विरक्त हो गये, भगवान नेमिनाथ मोहमाया को छोड़कर वन में जाने को तैयार थे। मोह का कोई बन्धन उन्हें उनके संकल्प से विचलित न कर सका।¹⁰⁰ लौकान्तिक देवों ने नेमिनाथ की वैराग्य भावना को और अधिक पुष्टा प्रदान की। श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन, जबकि राग के बन्धन से जगत पुष्ट होने वाला था वैराग्य की अर्गली से जगत का बन्धन नष्ट करने हेतु तत्पर हो उत्तरकुरु नामक पालकी में सवार होकर प्रसिद्ध गिरिराज उर्जयन्त की ओर चल दिए। सायंकाल में वैभव वस्त्राभूषण, राग-द्वेष मोह को छोड़ कर एक हजार राजाओं के साथ नग्न दिग्म्बर हो नेमिनाथ वीतरागता को प्राप्त हो गये दीक्षा के समय ही दुर्लभ मनः पर्यवज्ञान प्रगट हो गया। उपवास पश्चात् उन्होंने द्वारावती (द्वारका) में राजा वरदत के यहाँ प्रथम आहार ग्रहण किया।

इधर राजमती (राजुल) ने जिसे मन से अपना पति स्वीकार कर लिया था जिनके साथ प्रथम दिवस का वैवाहिक कार्य पूर्ण हो गये थे। अपना पति स्वीकार कर अपने पति के पग चिह्न पर पग रखती हुई उर्जयन्त की ओर चल दी तथा पति के द्वारा प्रशस्त मार्ग पर ही निरन्तर आगे बढ़ती गर्यां, अल्प वय में वे तप ज्ञान वयोवृद्ध से श्रेष्ठता को प्राप्त हो गर्यां।

मुनि नेमिनाथ को छद्मस्थल काल के छप्पन (56) दिन व्यतीत हो जाने पर वे एक दिन तैला का नियम (तीन दिवस के उपवास का नियम) लेकर उर्जयन्त गिरि पर बांस वृक्ष के नीचे आत्मस्थ होकर ध्यानस्थ हो गये, फलस्वरूप आश्विन शुक्ल प्रथमा के दिन महानतम श्रेष्ठज्ञान केवलज्ञान प्रगट हो गया। जगत के कारण भूत चार धात्याकर्म नष्ट हो गये। देवों ने आकर नेमिनाथ भगवान के समवशरण की रचना तथा उसमें यथासंभव वैभव बिखेरा गया। केवली भगवान नेमिनाथ समवशरण के वैभव के ऊपर आत्मवैभव के साथ विराजमान हुए, राजुल (राजमती) सहित अनेक श्रेष्ठ महिलाएँ आर्यिका पद से सुशोभित हो, समवशरण में शोभायमान हुई। असंख्यात देव-देवियाँ समवशरण में विराजमान हुए, अद्वारह हजार मुनिराज नेमिनाथ भगवान के समवशरण में आत्मकल्याण हेतु भगवान नेमिनाथ के समवशरण आते रहे। देवकी, सत्यभामा, रुक्मणि, जाम्बवती आदि रानियों सहित नेमिनाथ भगवान ने पद्म, बलभद्र (बलदाऊ) श्रीकृष्ण (अर्धचक्री) प्रतिनारायण जरासंध, चक्रवर्ती पाण्डिव, कंस आदि अनेक व्यक्तियों के पूर्व भवों को बतलाया। वे आर्यवर्त के क्षेत्र के अनेक देशों में भव्यों का मोक्षमार्ग प्रशस्त करते हुए उनकी शंकाओं का निवारण करते हुए आशाद् शुक्ल सप्तमी को जगत के सारे बन्धनों से मुक्त होकर इस नश्वर देह को हमेशा-हमेशा के लिए छोड़कर शाश्वत सिद्ध शिला पर शाश्वत

सिद्ध रूप में अनन्तकाल के लिए विराजमान हो गये। देवों ने आकर उनके मोक्ष कल्याणक की क्रियाएँ कर मोक्ष कल्याणक मनाया।

नैमिनाथ के काल में ब्रह्मदत्त नाम का बारहवाँ एवं अन्तिम चक्रवर्ती हुआ जिसने अपने कर्मों के अनुसार गति प्राप्त की।

पार्श्वनाथः

नैमिनाथ भगवान के बाद तेर्ईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ उत्पन्न हुए इनकी आयु 100 वर्ष की थी। वाराणसी नगरी के कश्यप गौत्रीय राजा विश्वसेन की महारानी ब्राह्मी ने वैशाख कृष्ण द्वितीय के दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में 16 स्वप्न देखे, जिसमें मुख में एक विशाल हाथी प्रवेश करता हुआ दिखा। प्रातः काल रानी दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर महाराज विश्वसेन के राज दरबार में पहुँची तथा महाराज से रात्रि के अन्तिम प्रहर में देखने वाले स्वप्नों के फल जानने की इच्छा प्रगट की। अवधिज्ञान के धारी महाराज विश्वसेन ने उन स्वप्नों का फल बताते हुए कहा कि हे रानी! तुम्हरे गर्भ में महान पुण्यशाली तीर्थकर प्रकृति का धारक जीव आया है, तुम तीर्थकर बालक की माता बनने वाली हो। महारानी ब्राह्मी महाराज के इस प्रकार सुख को देने वाले वचनों का सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुई तथा बहुत प्रसन्न रहने लगी। गर्भवस्था के नौ माह पूर्ण होने पर महारानी ब्राह्मी ने पौष्टकृष्ण एकादशी के दिन शुभलग्न में महान तेजस्वी बालक को जन्म दिया। इन्द्र ने देवी-देवताओं के साथ आकर महान हर्ष उल्लास के साथ तीर्थकर बालक का जन्म कल्याणक मनाया। पांडुक शिला पर विराजमान करके क्षीर सागर के जल से तीर्थकर बालक का जन्माभिषेक किया तथा बहुत हर्ष से भरकर तांडव नृत्य किया, तीर्थकर बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा। पग के चिह्न को लखकर सर्प लांछन घोषित किया। इनका रंग धान के पौधे के समान हरा था, वे समस्त शुभ लक्षणों से सुशोभित थे, नौ हाथ ऊँचा उनका शरीर था वे लक्ष्मीवान उग्रवंश में उत्पन्न हुए थे।¹⁰¹

सोलह वर्ष बाद जब पार्श्वनाथ नव यौवन से युक्त हुए तो वे किसी समय क्रीड़ा करने नगर के बाहर, वन में गये जहाँ इनकी माता का पिता (नाना) महीपाल नगर का राजा महीपाल अपनी रानी के वियोग से तपस्वी होकर तप कर रहा था। पार्श्वनाथ उन तपस्वी के पास जाकर खड़े हो गये। तपस्वी का यथायोग्य सम्मान न करने के कारण वह तपस्वी विचार करने लगा कि मैं कुलीन हूँ—उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, तपोवृद्ध हूँ, मैं इस की माता का पिता हूँ, फिर भी यह अज्ञानी कुमार अहंकार से भरा हुआ मुझे नमस्कार किये बिना ही अनादर के साथ खड़ा है, ऐसा विचार कर वह तपस्वी बहुत क्षोभ को प्राप्त हुआ और बुझती हुई अग्नि में डालने के लिए वहाँ पड़ी लकड़ी को काटने की इच्छा से उसने लकड़ी काटने के लिए अपना मजबूत परसा उठाया ही था कि अवधिज्ञानी भगवान पार्श्वनाथ कुमार (पार्श्वनाथ) ने कहा

इसे मत काटो इसमें जीव है परन्तु मना करने पर भी तपस्वी ने लकड़ी काट दी। इस कर्म से लकड़ी के भीतर रहने वाले सर्प-सर्पिणी के दो भाग हो गये। तपसी तप करता हुआ मर कर शम्बर नाम का ज्योतिषी देव हुआ तथा सर्पसर्पिणी पाश्वकुमार के उपदेश से शान्त भाव को प्राप्त हुए और मरकर बहुत भारी लक्ष्मी को धारण करने वाले धरणेन्द्र और पद्मावती हुए।

कालान्तर में पार्श्वकुमार 30 वर्ष के हुए, एक दिन वे अपने पूर्वभवों को याद कर संसार से विरक्त हो गये तथा विमला नामक पालकी पर सवार होकर वन में पौष्टकृष्ण एकादशी को शिलातल पर विराजमान होकर पंचमुष्ठी से केश लोंच किए। इन्द्र ने आकर पार्श्वनाथ का दीक्षा कल्याणक मनाया। पार्श्वनाथ को तुरन्त ही मनःपर्यज्ञान प्रगट हो गया। मुल्मुखेट नाम के नगर के धन्य राजा के यहाँ मुनि पार्श्वनाथ का प्रथम आहार हुआ तथा धन्य राजा ने प्रथम आहार पर पंचाश्चर्य प्राप्त किए। चार माह तक दीक्षित वन में ही तपस्यारत थे, एक दिन देवदारू वृक्ष के नीचे सात दिन का योग लेकर धर्मध्यान को बढ़ाते हुए विराजमान थे कि आकाश मार्ग से कमठ का जीव शम्बर नाम का देव वर्ही से निकला, क्रोधवश उसने महा गर्जना कर महावृष्टि शुरू कर दी। सात दिन तक उसने भिन्न-भिन्न प्रकार के उपसर्ग किए। अवधिज्ञान से जान कर धरणेन्द्र पत्नी सहित पृथ्वी तल बाहर निकला तथा भगवान को फणों के समूह पर बैठ कर खड़ा हो गया तथा उसकी पत्नी मुनिराज पार्श्वनाथ के ऊपर बहुत ऊँचा वज्रमय छत्र तानकर स्थित हो गयी।¹⁰² तदनन्तर पार्श्वनाथ के मोहनीय कर्म क्षीण हो गया, चार घातिया कर्मों का नाश हो गया एवं चैत्र कृष्ण त्रियोदशी के दिन प्रातःकाल में केवलज्ञान प्रकट हो गया।

केवलज्ञान प्राप्त होने के सत्र वर्ष कम पाँच माह अर्थात् 69 वर्ष 7 माह तक धर्म चक्र का प्रवर्तन कर तीर्थकर पद को सार्थक किया। पार्श्वनाथ के समवशरण में 16000 दिग्म्बर मुनि जिनमें 10 गणधर 350 अंगों के ज्ञाता थे, 1000 केवलज्ञान से सम्पन्न मुनिराज थे, 750 मनःपर्यज्ञान के धारी मुनिराज 1000 मुनि विक्रिया ऋद्धि के धारक मुनि थे, 600 वादी मुनिराज थे 1900 शिक्षक (उपाध्याय पद के धारी) थे, सुलोचना को आदि लेकर 36000 आर्थिकाएँ थीं। जो अपने कल्याण के साथ ही भव्य जीवों के कल्याण में सहयोगी बनीं।

आयु के अन्त में श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातः काल को सम्मेद शिखर के सुवरणभद्र कूट से संसार सागर से हमेशा-हमेशा के लिए मुक्त हो गये तथा अपने अग्रज सिद्ध परमेष्ठी साथ ही अनन्तकाल के लिए सिद्ध शिला पर विराजमान हो गये।

महावीर स्वामी :

वीर, अतिवीर, वर्द्यमान, सन्मति, महावीर नामों से ख्याति प्राप्त तथा

बौद्ध साहित्य में निंगंठनातपुत के रूप में उल्लिखित महान व्यक्तित्व के धारक इतिहास पुरुष जैन धर्म के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थकर थे। अब धर्म का प्रवर्तन करने वाले आत्म कल्याण के हेतु महापुरुष तो हो सकते हैं, लेकिन तीर्थकर पद के धारी, देवों द्वारा पूजित, पंच कल्याणकों से भूषित केवलज्ञान को प्राप्त कर समवशरण में विराजमान होकर भव्यों का कल्याण करने वाले अन्तिम समय में मुक्ति को प्राप्त करने वाले महापुरुष तीर्थकर इस पंचम काल में (कलिकाल में) नहीं होंगे।

महावीर स्वामी का जीव माँ के गर्भ में आने के पूर्व (अन्य 23 तीर्थकरों की ही तरह) छह माह पूर्व से नगर में रत्नवृष्टि का होना तथा माता को सोलह स्वप्न आना अन्य 23 तीर्थकरों के समान ही हैं क्योंकि तीर्थकर पुण्य प्रकृति से युक्त जीव महान पुण्यशाली होने के कारण देवों, नरेन्द्रों द्वारा पूजित होते हैं।

वैशाली के राजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला ने आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे तथा मुख में एक विशाल हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। प्रातः काल महारानी त्रिशला ने महाराज सिद्धार्थ से सोलह स्वप्नों का फल जानकर बहुत प्रसन्नता प्रगट की। देवियाँ आकर माता त्रिशला की सेवा में संलग्न हो गयीं।

नौ माह गर्भावस्था के पूर्ण कर चैत्रशुक्ल त्रयोदशी दिन को महारानी त्रिशला जगत जननी बन गयीं। उन्होंने महान ओजस्वी अत्यन्त तेजवान बालक को जन्म दिया। इन्द्र ने बालक का क्षीर सागर के जल से अभिषेक कर भारी हर्ष प्रगट किया तथा जन्म कल्याण का उत्सव देवों के साथ मनाया। इन्द्र ने बालक का नाम वर्धमान रखा तथा लांछन सिंह घोषित कर अपने निवास को चले गये। लगभग 30 वर्ष की उम्र में राजकुमार वर्धमान को पूर्व जन्म के भवों का स्मरण आया तथा संसार की असारता का चिन्तन करते हुए संसार से मुक्त होने का वैराग्य भाव प्रगट हुआ। लौकांतिक देवों ने उनके वैराग्य भाव को पुष्ट किया। मगसिर कृष्ण दशमी को चन्द्र प्रभा पालकी में विराजमान होकर षण्डवन में सालवृक्ष में पहुँचकर वस्त्राभूषण वैभव, राग-द्वेषादि आदि भावों का त्यागकर दिगम्बर होकर साल वृक्ष के नीचे आत्म चिन्तन में ध्यानस्थ हो गये। मुनि अवस्था के छद्मस्थकाल में प्रथम आहार कूल ग्राम के राजा कूल के यहाँ सम्पन्न हुआ, इस अवसर पर देवों ने पंचाश्यर्च प्रगट किए। इस प्रकार छद्मस्थकाल के पश्चात् साल वृक्ष के नीचे आत्म ध्यान में लीन महावीर स्वामी के वैशाख शुक्ल सप्तमी को केवलज्ञान प्रगट हो गया, देवों ने महान हर्ष के साथ समवशरण की रचना की, भगवान महावीर स्वामी समवशरण के वैभव से ऊपर विराजमान हुए लेकिन भव्यों के कल्याण हेतु देशना (उपदेश वाणी) नहीं हुई, तब 66 दिन पश्चात् महान वौदिक आचार्य गौतम अपने पाँच भ्राता सहित पधारे तथा शिष्यों सहित जैनेश्वरी दीक्षा लेकर दिगम्बर मुद्रा को धारण किया तब भव्यों के

भाग्य से देशना का प्रसारण हुआ। यह देशना रूपी वाणी मूल में ओमकार रूप थी, पश्चात् 18 भाषाओं सहित 700 लघु भाषाओं में परिवर्तित हो गयी तथा समवशरण में विराजित देव, अनेक बोलियों के वक्ता ग्रहणकर्ता अनेक क्षेत्रों के मनुष्य एवं पशु भी भगवान की देशना को ग्रहण कर पात्रता अनुसार अपने कल्याण करने हेतु तत्पर हुए।

लगभग तीस वर्षों तक भव्यों का कल्याण करते हुए भारत देश के सभी क्षेत्रों में विहार करते हुए कार्तिक कृष्ण अमावस्या को संसार की नश्वर देह को छोड़कर मोक्ष में सिद्धों के साथ अनन्तकाल के लिए विराजमान हो गये। देवों ने आकर शेषांश देह का अन्तिम संस्कार किया। इस प्रकार विक्रम संवत् 470 पूर्व, शक संवत् से 605 पूर्व के महावीर स्वामी को मोक्ष प्राप्त हो गया।¹⁰³

इस प्रकार उपयुक्त वर्तमान काल के चौबीस तीर्थकरों के अतिरिक्त भूतकाल में भी 24 तीर्थकर ही हुए हैं, भविष्य काल में भी चौबीस तीर्थकर ही होंगे, जैन परम्परा में उनके नामों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

त्रेषठ श्लाका पुरुषः

अवसर्पिणी काल में जहाँ काल चक्र सुख से दुःख की ओर गतिमान रहता है, इस काल के चौथे काल में 63 श्लाका पुरुष जन्म लेते हैं और पात्रतानुसार मोक्ष सुख देवगति, नरकगति प्राप्त करते हैं, श्रमण संस्कृति के पुरोहा युग पुरुष 24 तीर्थकरों के अतिरिक्त इन श्लाका पुरुषों का जैन श्रमण संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है, श्रमण संस्कृति में वे मील के पत्थर हैं, इनमें 24 तीर्थकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 वासुदेव (नारायण), 9 प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण)। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

तीर्थकरः ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनंदनाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपाश्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांशनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्त्युनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पाश्वनाथ और महावीर स्वामी।

बाहर चक्रवर्तीः भरत, सगर, मधवा, सनत्कुमार, शार्तिनाथ, कुन्त्युनाथ, अरहनाथ, सुधोम (सुभुम), पञ्च, हरिषण, जयसेन और ब्रह्मदत्त।

नौ बलभद्रः विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुर्दर्शन, नन्दिषेण, नन्दिमित्र, रामचन्द्र और बलराम।

नौ नारायणः त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण और कृष्ण।

नौ प्रतिनारायणः अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुभ, मधुकैटभ, बली,

प्रहरण, रावण, जरासन्धि।

63 श्लाका पुरुषों के अतिरिक्त जैन श्रमण संस्कृति में 11 रुद्र 9 नारद, 24 कामदेव का भी उल्लेख आता है।

रुद्रः भीमवली, जितशत्रु, रुद्र, विश्वानल, सुप्रतिष्ठित, अचल, पुंडरीक, अजितधर, अजितनाभि, पीठ, सात्यकी।

नारदः भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, दुर्मुख, नर्कमुख, अधोमुख।

कामदेवः बाहुबलि, अमिततेज, श्रीधर, यशभद्र, प्रसेनजित, चन्द्रवर्ण, अग्निमुक्ति, सनतकुमार, वत्सराज, कनकप्रभ, सिद्धवर्ण, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, विजय, श्रीचन्द्र, राजानल, हनुमान, बालगंजा, वसुदेव, प्रदुम्न, नागकुमार, श्रीपाल, जम्बूस्वामी।¹⁰⁴

63 श्लाका पुरुषों के अतिरिक्त प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पूर्व उत्पन्न हुए 14 कुलकर तथा ऋषभदेव आदि 24 तीर्थकरों के 48 माता-पिता। इस प्रकार 169 महापुरुषों का श्रमण संस्कृति के प्रथमानुयोग में उल्लेख प्राप्त होता है।

इन महापुरुषों में बहुत से महापुरुष संसार सागर से पार होकर मोक्ष में विराजमान हो चुके हैं और जो अभी संसार में विद्यमान हैं वे अन्त में मोक्ष में ही विराजमान होंगे।

श्रमण के नामांतरण एवं विशेषताएँ:

श्रव्मान्य तथ्य है कि श्रमण संस्कृति का उद्भव लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व श्रमण संस्कृति के अग्रणी प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव एवं उनके त्याग, तपस्या, ज्ञान की आराधना भी गयी एवं आचरण यात्रा से प्रारम्भ हुआ। एक ही पुरुष का एक ही प्रकार का आचरण अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग काल में अलग-अलग नाम पाता रहा। ऋग्वेद में यह संस्कृति केशी ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर वातरसना, मुनि (हवाएँ जिनके वस्त्र) वृषभदेव (बैत है लाछन जिनका), शिशनदेव, (नगन देवता) नाम को प्राप्त करती हुई अर्थवेद में यति, ब्रात्य को प्राप्त कर अपने निज रूप में निघंटु में 'श्रमण' शब्द को प्राप्त कर दिग्म्बर नाम से भी भूषित होकर तेतिरीय आरण्यक में 'श्रमण' शब्द के साथ ऋग्वेद के वातरसन शब्द से वातरसन के रूप में इस संस्कृति के आचरणकर्ता जाने गये तथा ब्रह्मदरण्योकोपनिषद् जो बहुत प्राचीन ग्रन्थ है उसमें श्रमणोऽश्रमण-स्तापंसोऽतापसः का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁰⁵

महाभारत ग्रन्थ में दिग्म्बर मुनि क्षपणक, नगन नाम से उल्लिखित है, 'क्षपणक' शब्द धातु में 'ल्यूट' एवं स्वार्थिक 'कनू' प्रत्ययों के योग से निश्पन्न शब्द

है जिसका अर्थ संयम, तप, उपवास करना एवं क्षप् धातु का अर्थ त्यागना, फैकना, से वस्त्र आदि फेंकना अथवा कषाय आदि का त्याग¹⁰⁶ पश्चात्वर्ती साहित्य में क्षपणक शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ। लगभग 300 ई.पू. के चाणक्य शतक में नगन क्षपणक देशे रजकः किं करिष्यति अर्थात् नगन क्षपणकों के रहते धोवी का क्या काम, वह तो स्वयं ही मन के विकारों को साफ करते रहते हैं अथवा जब वस्त्र ही नहीं तो धोने वाले की आवश्यकता क्या बौद्ध परम्परा के प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा संकलन ग्रन्थ पंचतन्त्र में नगनक, क्षपणक, दिग्म्बर, धर्मवृद्धि शब्दों का प्रयोग होता रहा है। डॉ. विंटरनित्स पंचतन्त्र को 300-400 ई. का ग्रन्थ मानते हैं।¹⁰⁷

मत्स्यपुराण जो कि पुराण ग्रन्थों में प्राचीन माना जाता है जिसमें नगन दिग्म्बर मुद्रा के धारकों को निश्कच्छ तथा बौद्ध परम्परा के साधुओं को काषायवस्त्राधारी से पहचान निरूपित की गयी है, काषायाणिश्च निष्कच्छास्तथा कापालिश्च है।¹⁰⁸

विष्णु पुराण में नाभि के पुत्र ऋषभ की वंशावली का उल्लेख कर उन्हें नगनावस्था में तपस्या करने का उद्धरण प्राप्त होता है।¹⁰⁹ तथा लिंग पुराण में यह भी कहा गया है पिता ऋषभदेव ने वन जाते समय अपने हिमवर्ष का राज्य भरत को प्रदान किया था, अतः तब से यह वर्ष 'भारतवर्ष' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।¹¹⁰ इसी पुराण में श्रमण परंपरा के साधुओं को नगन, दिग्म्बर के साथ नवीन शब्दों से मंडित किया गया जैसे बर्हिपिच्छधर, आर्हत अनेकान्तवाद।¹¹¹ इन शब्दों से दिग्म्बर जैन श्रमण साधुओं का बाह्यरूप तथा आन्तरिक सचेतना प्रगट होती है। चौथी, पाँचवीं सदी का ग्रन्थ विशाखदत्कृत 'मुद्रा राक्षस' में क्षपणक, अरहंत शब्दों का प्रयोग हुआ है, अलहत्ताणं पणमामि जे दे गंभीदलाए बुद्धीए ...। वही अरहंतों के उपदेश के बारे में कहा गया है अज्ञान रूपी रोग का उपचार करने वाले अरहन्तों के उपदेश को स्वीकार करो जो क्षण भर के लिए कड़वा परन्तु बाद में हितकारी होता है।¹¹² वायु पुराण में कहा गया है कि जो श्राद्धादि कार्यों का विरोध करने वाले और वैदिक धर्म (यज्ञादि) का अनुसरण न करने वाले नगन (नगनादयो) कहलाते हैं।¹¹³

लिंग पुराण में नगन और वस्त्र धारी का भेद बताते हुए कहा है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है, वह वस्त्रों से आच्छादित होने पर भी नगन (निर्लज्ज) है। किन्तु जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह नगन होते हुए भी अनगन (लज्जावान) है।¹¹⁴ ऐसे ही एक श्लोक में नगनता को शिव के समान पूज्य कहा गया है—जो नाना प्रकार के जटाधारी या मुण्डी नगन साधु हैं वे शिव के समान मन और वचन से पूज्य हैं—जटिनो मुंडिनश्चैव नग्नौनाना प्रकारिणः। सम्पूज्याः शिववनित्यं मनसाव कर्मणा गिरा।¹¹⁵ ब्रह्मांड पुराण के द्वितीय पाद में कहा गया है सभी नगन जन्मते हैं तथा विशेष कर मुनियों को नगन लिंग वाला ही माना है,

‘नगनाशवहि जायन्ते देवता मुनयस्था । ये चान्येमानवालोके सर्वे जायन्त्य वाससः इन्द्रियै रजितैनगदुकेलेनापि संवृताः । तैरेव संवृतो गुप्तो वस्त्रं कारणं स्मृतम्’¹¹⁶ लगभग 490 ईसा के ग्रन्थ वराहमिहिर कृत ‘बृहत्संहिता’ में नगन, निग्रन्थ के साथ दिग्बामस शब्द का भी प्रयोग किया गया है। वराह मिहिर प्रतिष्ठापनाध्याय में उस काल में प्रचलित धर्मों के बारे में लिखते हैं—भागवत विष्णु के, मगसूर्य के भस्माचिंतद्विज शम्भु के, मातृमंडल वेत्तामाताओं के, विप्र ब्रह्मा के, शाक्य बुद्ध के और नगन जिन के उपासक हैं, वे अपनी-अपनी विधि से उसकी प्रतिष्ठादि क्रियाएँ करें।¹¹⁷ इसी ग्रन्थ के इसी अध्याय में बराहमिहिर कार्त्यात्सर्ग आसन जिन प्रतिमा के बारे में लिखते हैं—आहतों के देव की प्रतिमा के दोनों बाहु जानुपर्यन्त होने चाहिए। मुखमुद्रा प्रशान्त हो, शरीर नगन, तरुण एवं रूपवान होना चाहिए।¹¹⁸

श्रीमद् भागवत में पुराणकार ने ऋषभदेव को दिग्म्बर जैन मुनियों का प्रवर्तक बतलाया है उन्होंने वातरस (नगन) मुनि धर्म का प्रवर्तन किया था।

श्रीमद् भागवत पुराण में उल्लिखित है, स्वायंभुव मनु प्रियब्रत आग्नीघ्र की पीढ़ी में नाभि और ऋषभ प्रचलित वातरसन धर्म को मन्वन्तर-कालगणना के अनुसार दिग्म्बर जैन परम्परा कम से कम ढाई करोड़ वर्ष प्राचीन सिद्ध होती है।¹¹⁹ यद्यपि दिग्म्बर जैन परम्परा के उद्भव एवं ऋषभ देव के काल का अनुमान शक्य नहीं है, फिर भी कालगणना में हम इस कालगणना का उल्लेख करेंगे जिसमें करोड़ों-करोड़ों वर्ष पूर्व का अनुमान आता है।

श्रीमद् भागवत में ऋषभदेव को महामुनि के साथ में परमहंस अथवा पारमहंस से संबोधित किया – महामुनीनां भवित, ज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्य धर्म-मुपशिक्षणमाणः स्वतनय शतज्येष्ठ परमभागवतं भगवतज्जन परायणं भरतं धरणि पालनाया भिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित शरीर मात्र परिग्रह उन्मत्त गगन परिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्योषेपिता हवनीयो ब्रह्मावर्तत्।¹²⁰

भागवतकार के उपर्युक्त कथन में दिग्म्बर जैन श्रमण साधु गगन परिधान, शरीर मात्र परिग्रह, प्रकीर्ण केश, आत्मा में ही मानकर संसार से विरक्तता का वर्णन के अतिरिक्त भरत को ‘परम भागवत’ एवं भगवन्ज्ञान परायण जैसे संबोधन ऋषभदेव और भरत की अपने-अपने क्षेत्र में परम श्रेष्ठता सिद्ध करता है। दिग्म्बर जैन परम्परा के साधुओं को योग धारण के कारण योगी भी माना जाता है, भागवतकार ‘ऋषभदेव को नागनायोगचर्या चरणो भगवान कैवल्यपति ऋषभो’।¹²¹ चारधातिया कर्मों का नाश (दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म) होने पर अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्तवीर्य के प्रगट होने पर केवलज्ञान प्रगट होना माना गया है, इस अपेक्षा से भागवतकार ने दिग्म्बर जैन श्रमण की अन्तिम अवस्था में केवल्य का उल्लेख कर ऋषभदेव को योगदशा की चरम परम

उत्कृष्ट दशा में केवल्यपति स्वीकार किया है।

29 ई.पू. में श्रीलंका में वटु गाविनी के समय प्रथम बार लिपिबद् अत्यन्त प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ त्रिपिटकों में सुत्तपिटक चौथा ग्रन्थ है, अतः इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध है, उसमें एक निंगण्ठसुत में श्रमण संस्कृति के दिग्म्बर मुनियों के क्षणिक, अल्हीक, अचेलक, निग्रन्थ, निगण्ठ जैसे नामों का उपयोग किया गया है।¹²²

वैदिक संस्कृति में क्षणिक और निग्रन्थ जैसे शब्द दिग्म्बर जैन मुनियों के संदर्भ में ही उपयुक्त होते हैं तथा दिग्म्बर जैन मुनि बहुत श्रद्धा और विश्वास के पात्र माने जाते रहे हैं, दिग्म्बर जैन मुनि की विश्वसनीयता की एक घटना महाभारत ग्रन्थ के आदिपर्व के अध्याय—३ में इस प्रकार कही गयी है—ब्रह्मिं उत्तङ्क अपने गुरुदेव को गुरु दक्षिणा देने के लिए गुरु पत्नी की इच्छानुसार राजा पौष्य की महारानी से कुंडलयुगल माँगने जाते हैं। महारानी कुंडल देते हुए सावधान करती है कि इन कुंडलों पर नागराज तक्षक की आँखें गड़ी हुई हैं, अतः आप सावधानी से लेकर जाना। उत्तङ्क ‘अब मैं चलता हूँ’ कहकर राजा से विदा लेते हैं और कुंडल लेकर चल पड़ते हैं रास्ते में वे अपने पीछे एक नग्न क्षणिक को देखते हैं जो कभी दिखाई देता है कभी अदृश्य हो जाता है। कुछ दूर जाकर उत्कं पर सरोवर के किनारे कुंडल रख देते हैं। और स्नान के लिए जल में प्रविष्ट हो जाते हैं, तभी वह क्षणिक तेजी से आता है और दोनों कुंडल लेकर भाग जाता है उत्तङ्क स्नान तर्पण कर उस क्षणिक का पीछा करते हैं और उसे पकड़ लेते हैं। पकड़े जाने पर वह क्षणिक का रूप त्याग अपने वास्तविक मूलरूप (तक्षकनाग) को धारण कर पृथ्वी के बहुत बड़े बिल में घुस जाता है।¹²³

कथानक का तात्पर्य यह है कि दिग्म्बर जैन मुनियों की विश्वसनीयता के कारण तक्षक क्षणिक का रूप धारण कर क्षणिक कुंडलों को चुराने का प्रयास करता है और उत्तङ्क भी क्षणिक पर पूर्ण विश्वास करके कुंडलों को सरोवर के किनारे रखकर स्नान हेतु चला जाता है तथा नागराज तक्षक पकड़े जाने पर क्षणिक का रूप त्यागकर मूलरूप में आ जाता है, तक्षक और उत्तङ्क दोनों जैन मुनि पर अटूट विश्वास करते हैं, तक्षक धोखा देने के लिए ‘क्षणिक’ का रूप धारण करता है, तो ब्रह्मिं उत्तङ्क क्षणिक पर पूर्ण विश्वास कर निशंकित होकर कुंडलों को छोड़कर सरोवर में स्नान हेतु प्रवेश कर जाता है।¹²⁴

जैन श्रमण परम्परा में सम्प्रदाय भेदः

ऋषभदेव द्वारा स्थापित श्रमण संस्कृति की विशाल, सुखद एवं समृद्ध परम्परा सुदीर्घकाल की अनेक बाधाओं को पार करती हुई करोड़ों-करोड़ों वर्षों पश्चात लोक प्रचलित काल, पुराणकाल से होती हुई इतिहास में प्रवेश करते समय तक अपने मूल स्वरूप में विद्यमान रही। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर बाईसवें और

चौबीसवें तीर्थकर क्रमशः: नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के काल तक यह समृद्ध परम्परा अपने स्वरूप में ही रही। अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी के निर्वाण के लगभग 162 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य दिगम्बर मुद्रा धारण कर गुरु भद्रबाहु के निर्देशन में उत्तर भारत में प्राकृतिक आपदा आने की आशंका के कारण वे दक्षिण भारत की ओर संसंघ (लगभग 7000 मुनियों के साथ) चले गये, लेकिन कुछ साधुओं ने गृहस्थों के आग्रह के कारण गुरु आज्ञा की अवहेलना कर उत्तर भारत में ही रहकर मुनिचर्या पालन की दृढ़ता दिखायी।

12 वर्ष के लम्बे अकाल अन्तराल ने मनुष्यों एवं पशुओं की विशाल संख्या को अपने आगोश में ले लिया, मनुष्यों का जीवन निर्वाह अत्यन्त दुष्कर होता जा रहा था, ऐसे में साधुओं की चर्या भी अत्यन्त दुष्कर होती गयी। परिणाम यह हुआ कि दिगम्बर मुद्रा के धारी साधुओं को जीवित रहने हेतु अनेक समझौते करने पड़े इस कारण उस काल में उत्तर भारत के साधुओं की चर्या समझौतावादी हो गयी तथा प्रथम बार भारत में प्रचलित श्रमण परम्परा का एक भाग अपने मूल रूप से च्यूट हो गया। यह परम्परा श्वेताम्बर परम्परा के रूप में श्वेतवस्त्रधारी साधुओं के साथ श्रमण संस्कृति में चिन्हित की जाने लगी। वि.सं. 136 के समय के ग्रन्थ दर्शनसार में प्रथम बार श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है।¹²⁵

इस प्रकार प्राचैवैदिक काल के पूर्व से चली आ रही श्रमण परम्परा में महावीर स्वामी के निर्वाण के 600 वर्ष पश्चात् दिगम्बर श्वेताम्बर संघ भेद स्पष्टतः दृष्टव्य हुआ।¹²⁶ यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की परम्परा में दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति लगभग इसी समय से कही गयी है, डॉ. हीरालाल के अनुसार दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में दिगम्बर, श्वेताम्बर का स्पष्ट संघ भेद में मात्र 3 वर्ष का अन्तर है।¹²⁷

अति प्राचीन हड्पा संस्कृति प्राप्त तथा मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त मूर्तियाँ एवं लेख तथा लोहानी की मूर्ति, श्रवण वेल्नोल के शिलालेख, युनान के इतिहास से प्राप्त तथ्यों के आधार पर तथा महाभारत, श्रीमद्भागवत जैसे प्राचीन ग्रन्थों से दिगम्बर श्रमण परम्परा सर्वप्राचीन सिद्ध होती है। मूर्तिकला शिलालेख एवं वैदिक ग्रन्थों के आधार पर प्रचलित रूप में दिगम्बर श्रमण परम्परा ही मान्य की जाती है। सिकन्दर के भारत के आगमन के समय तक दिगम्बर परम्परा की श्रमण संस्कृति का उल्लेख प्राप्त होता है। पश्चात् वर्ती काल में श्वेताम्बर श्रमण परम्परा ने भी सम्प्रति जैसे महान राजाओं के संरक्षण में देश विदेश में श्रमण संस्कृति का यशगान किया।

पाश्चात्य विद्वान डॉ. विन्टरनीट्ज ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर' में आगम की प्राचीनता और प्रामाणिकता के बारे में कथन करते हुए स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर परम्परा को मूल परम्परा से परिवर्तित परम्परा स्वीकार किया है।

ऐसा श्वेताम्बर जैन परम्परा के आधार पर ही वे लिखते हैं कि जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध में लौटकर आये तो उन्होंने देखा कि दक्षिण को चले जाने वाले और मगध में रह जाने वालों के बीच में एक बड़ी खाई पैदा हो गयी, मगध में रह जाने वाले जैन साधु सफेद वस्त्र के साथ रहते तथा दक्षिण में रहने वाले साधु कठोर नियमों के अनुसार नग्न रहते थे और इस तरह दिगम्बरों और श्वेताम्बरों का महान संघ भेद हुआ। फलतः दिगम्बरों ने पाटलिपुत्र में संकलित आगमों को मानने से इंकार कर दिया और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि अंग और पूर्व नष्ट हो गये।¹²⁸

श्वेताम्बर जैन श्रमणः

पूर्व में नग्नता ही श्रमण संस्कृति की पहचान थी, डॉ. बेवर ने लिखा है कि नग्नता जैनों की मुख्य विशेषता है उन्होंने लिखा है, ब्राह्मणों ने नग्नता को जैनों की मुख्य विशेषता बतलाया है और बौद्ध उल्लेखों के अनुसार बुद्ध ने नग्नता का दृढ़ता से विरोध किया।¹²⁹ जबकि गौतम बुद्ध के ही बोधि प्राप्ति के पूर्व दिगम्बरत्व ग्रहण कर करपात्र आहार ग्रहण करने का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध है। इससे स्पष्ट होता है कि महावीर स्वामी के काल तक श्रमण संस्कृति में दिगम्बर परम्परा ही थी, यद्यपि श्वेताम्बर भी इससे इन्कार नहीं करती कि जिन स्वयं नग्न रहते थे, किन्तु वे दृढ़ता से यह भी कहते हैं कि जो चीज उस समय के लिए उचित थी, वह वर्तमान समय के लिए उचित नहीं है।¹³⁰

सप्राट अशोक के समय अथवा प्रथम शताब्दी में रचित बौद्ध ग्रन्थ अपदान में सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र) नाम से श्वेत पट साधुओं का उल्लेख मिलता है, पश्चात् वर्ती ग्रन्थ कादम्बरी, हर्षचरित्र आदि ग्रन्थों में दिगम्बर जैन मुनियों एवं 'श्वेतपट' नाम से जैनेतर ग्रन्थों में भी उल्लेख प्राप्त होता है।

श्वेताम्बर जैन श्रमण परम्परा का साहित्य 8 वीं शताब्दी का पश्चात् देवर्दिधगणी रक्षा श्रमण के काल से प्रारम्भ होता है, इस्वी सन् तक प्रस्तुत वर्ण्य विषय में प्रथम शताब्दी के पूर्व का उल्लेख किया जाता है, जबकि श्वेताम्बर साहित्य का लेखन पाँचवीं शताब्दी के आस-पास का है, इसलिए पश्चात् वर्ती विषय को वर्ण्य विषय नहीं बना सकते। पाँचवीं शताब्दी के काल में बल्लभी में देवर्दिधगणी रक्षा श्रमण के निर्देशन में जो अंगों एवं पूर्वों का लेखांकन किया गया वह पुर्नलेखन है, जवाहिरलाल लिखते हैं इनकी आगम वाचना बल्लभी कहलाती है, इन्होंने एकादशांगी सहित सभी स्मृत पाठों को संकलित और गठित किया तथा ग्रन्थों के रूप में लिपिबद्ध करवाया।¹³¹

चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के काल में परिस्थितिवश श्वेताम्बर सम्प्रदाय का

जन्म हुआ, श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्थूलभद्र के निर्देशन हुआ। इतिहासकार, दर्शनशास्त्री अन्य मतावलम्बी सभी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय को दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से बहुत-बहुत पश्चात्वर्ती मानते हैं।

श्री सम्मेद शिखर तीर्थ क्षेत्र के इंजेक्शन केश में जज श्री फणीशचन्द्र लाल ने फैसला देते हुए लिखा इस बात के दृढ़ प्रमाण हैं कि श्वेताम्बर जैन से बहुत पूर्व दिगम्बर जैन मौजूद थे। There is authoritative pronouncement that the must have existed from long before the swetambri seat was formed.¹³² इनसाइक्लोपीडिया संस्करण में लिखा है कि जैनों के दो बड़े भेद हैं एक दिगम्बर और एक श्वेताम्बर। श्वेताम्बर थोड़े काल से शायद बहुत करके ईसा की 5वीं शताब्दी से प्रगट हुआ है, दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्धों की पाली पिटको में आया है, इस कारण ये लोग (दिगम्बर) ईसा से 600 वर्ष पूर्व के तो होने ही चाहिए।¹³³ अल्ट्रेट वेवर लिखते हैं—दिगम्बर लोग बहुत प्राचीन मालूम होते हैं, क्योंकि न केवल ऋग्वेद संहिता में इनका वर्णन मुनयः वातवसना अर्थात् पवन ही है वस्त्र जिनके इस तरह आया है, किन्तु सिकंदर के समय में जो हिन्दुस्तान के जैन सूफियों का प्रसिद्ध इतिहास है, उससे भी यही सिद्ध होता है।¹³⁴

सी. आई. ई. लुईस राइस ने लिखा है, समय के फेर से दिगम्बर जैनों में से एक विभाग उठ खड़ा हुआ जो इस प्रकार के कट्टर साधुपने से विरुद्ध बड़ा इस विभाग ने अपना नाम श्वेताम्बर रखा, यह बात सत्य मालूम होता है कि अत्यन्त शिथिल श्वेताम्बरियों से कट्टर दिगम्बरी पूर्व के हैं। वर्हीं विल्सन एक कदम आगे जाकर लिखते हैं, ‘जैनों के प्रधान दो भेद हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बरी बहुत प्राचीन मालूम होते हैं और बहुत अधिक फैले हुए हैं, सर्व दक्षिण के जैनी दिगम्बरी मालूम होते हैं, यही स्थिति पश्चिम भारत के बहुत से जैनों की है। हिन्दुओं की प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में जैनों को साधारणतया दिगम्बर या नग्न लिखा है।

महावीर ने वातरसना अर्थात् सम्पूर्ण नग्नता का ही उपदेश दिया था, अतः उस मार्ग के साक्षात् अनुयायी श्रमणों का अन्तरबाह्य जीवन भी वीतरागी व्यक्तित्व लिये हुए होना चाहिए। बीतरागी का वेश निष्ठ्रह एवं अपरिग्रही होगा अतः महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रमण स्वरूप में मूलतः दिगम्बर सम्प्रदाय ही आता है तथा जैन धर्म की प्रसिद्ध वीतरागता दिगम्बर सम्प्रदाय के ही आदर्श, अर्हन्त और उनकी प्रतिमाओं महाब्रतधारी श्रमणों तथा उनके साहित्य में ही पायी जाती हैं।¹³⁵

इतिहास में ई.पू. तथा ईसवी सन के प्रारम्भ तक श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय दिगम्बर मूर्ति के ही पूजक रहे तथा दिगम्बर जैनों के ही आगम को मान्य करते रहे, सम्भावना है, परिस्थिति जन्य वेश से श्वेताम्बर वेशी थे लेकिन सिद्धान्त दिगम्बर

जैन सम्प्रदाय के थे, पालन उनका ही करते थे।

श्वेताम्बर परम्परा में श्वेताम्बरीय स्थविरावली के अनुसार महावीर स्वामी के पश्चात्वर्ती परम्परा में युगप्रधान आचार्यों का कालक्रम सुधर्मा स्वामी 20 वर्ष जबकि कल्पसूत्र के अनुसार गौतम स्वामी के 20 वर्ष, सुधर्मा स्वामी के 8 वर्ष माने जाते हैं, जम्बू स्वामी के 44 वर्ष, प्रभव 11 वर्ष, शयंभव 23 वर्ष, यशोभद्र 5 वर्ष, सम्भूति विजय 8 वर्ष, भद्रबाहु 14 वर्ष, स्थूलभद्र 45 वर्ष।¹³⁶

जवाहिरलाल जैन लिखते हैं यद्यपि भद्रबाहु को दोनों संघ अपना आचार्य स्वीकार करते हैं पर उनके बाद अचेलक परम्परा और सचेलक परम्परा (दिगम्बर और श्वेताम्बर परंपरा) एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हो गयी। सम्राट चन्द्रगुप्त के काल में आचार्य भद्रबाहु का वर्णन इतिहास प्रसिद्ध है, इन्हीं भद्रबाहु के संघस्थ साधु स्थूलभद्र रहे। इतिहास में दोनों आचार्यों का काल तो समान है लेकिन जहाँ भद्रबाहु का उल्लेख उज्जयिनी में मिलता है वहीं स्थूलभद्र का पाटलिपुत्र में रहने का उल्लेख मिलता है, यही कारण है कि श्वेताम्बर मान्यता में आचार्य भद्रबाहु को पाटलिपुत्र से उत्तर की ओर नेपाल में जाने का उल्लेख मिलता है जबकि दिगम्बर परम्परा में आचार्य भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त का दक्षिण पश्चिम दक्षिण की ओर जाने का उल्लेख मिलता है, इतिहास एवं शिलालेख भी यही स्वीकारते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पूर्व स्थूलभद्र का ही उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्होंने 12 वर्ष के दुर्भिक्ष पश्चात् वीर निर्वाण संवत् 162 के लगभग ग्राहर अंगों की वाचना की तथा इनका संकलन किया। वे द्वादशांग के दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करने हेतु आचार्य भद्रबाहु के पास गये।¹³⁷ लगभग 8 वर्ष उनके पास रहकर 14 पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पाटलिपुत्र की वाचना में उनका संकलन किया गया। स्थूलभद्र श्वेताम्बर संघ के मूल आचार्य माने जाते हैं।

अन्य श्रमण:

बौद्ध ग्रन्थ ‘दीघनिकाय’ के सम्मणसुत में महावीर (निगंठ नातपुत) के अतिरिक्त छह और तीर्थकों का उल्लेख मिलता है, ये सभी अपने को तीर्थकर या अर्हत कहते थे, ये प्रभावशाली धर्मनायक थे इन्होंने नवीन पंथों की स्थापना की थी अथवा प्राचीन पंथों के नेता बन गये थे।¹³⁸

महावीर के काल के ये स्वयंभू तीर्थकर अथवा अर्हत श्रमणों के नाम से ही जाने जाते हैं, कहीं न कहीं ये महावीर स्वामी के व्यक्तित्व से प्रभावित थे। यद्यपि इन स्वयंभू तीर्थकरों के सिद्धान्त महावीर के सिद्धान्त से मेल नहीं खाते थे, लेकिन फिर भी इनके सिद्धान्त पाश्वर्नाथ और महावीर के सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित रहे। पूर्णकाश्यप, मक्खली गौसालक, प्रबुद्ध कात्यायन, संजय वेलट्टिपुत्र

और गौतम बुद्ध। गौतम बुद्ध को छोड़कर शेष पाँच तैर्थिकों का साहित्य उपलब्ध नहीं होता। हाँ, इनके द्वारा प्रतिपादित मतों का उल्लेख भावसंग्रह, उत्तराध्ययन, भगवतीसूत्र, महावीर चरिं, दीघनिकाय, मज्जम निकाय आदि ग्रन्थों में विभिन्न रूपों में उपलब्ध होता है। इनके द्वारा प्रतिपादित मतों के अनुयायी को श्रमण की श्रेणी में ही माना जाता है।

आजीवक संघ के श्रमणः

आजीवक के संस्थापक मक्खलि गौसाल महावीर स्वामी के पूर्व 23 वे तीर्थकर पार्श्वनाथ के अनुयायी थे लेकिन महावीर स्वामी के शिष्य बनने तथा उनसे अलग होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। आजीवक संघ के लगभग 20000 अनुयायी शिष्य थे, इस संघ का प्रभाव सप्ताह अशोक के काल तक स्पष्ट दृष्टव्य होता है। बिहार की बारबर नामक स्थान पर अशोक के शिलालेखों में आजीवक संघ के साधुओं का उल्लेख करते हुए बारबर नाम के स्थान पर आजीवक संघ के श्रमणों के लिए गुफाएँ बनवाई गयीं। इतिहास विद्वेषी व्यक्तियों द्वारा इस शिलालेख में आजीवक शब्द को विलोपित करने का प्रयास किया इससे स्पष्ट होता है कि सप्ताह अशोक का आजीवक सम्प्रदाय के साधुओं से विशेष लगाव था, जिसका स्पष्ट कारण अशोक की माँ के धर्मगुरु आजीवक श्रमण परम्परा के माने जाते रहे हैं।

मक्खलि गौसालकः भाव संग्रह में इस प्रकार का कथानक प्राप्त होता है कि पार्श्वनाथ की परम्परा के महावीर के काल में मुनि मक्खलि गौसालक थे, वे महावीर के समवशरण में उपस्थित थे, वे अष्टांग निर्मितों तथा ग्यारह अंगों के धारी थे। दिव्यध्वनि न खिरने के कारण वे खिन्न हो समवशरण से चले गये तथा श्रावस्ती में आजीवक सम्प्रदाय के नेता बन स्वयंभूतीर्थकर हो गये, उनका मत था – ज्ञान से नहीं अज्ञान से मुक्ति होती है, देव कोई नहीं है, इसलिए शून्य का ध्यान करना चाहिए।¹³⁹ श्वेताम्बर शास्त्रों में भी मक्खलि गौशालक का वर्णन मिलता है, यह मष्कली और सुभद्रा के पुत्र थे तथा चित्रफलक लेकर अपनी आजीविका चलाते थे, घर त्यागकर महावीर के पास पहुँचे, अनेक वर्षों तक महावीर के शरण में रहे पश्चात् तप के प्रभाव से तेजोलेश्या प्राप्त कर स्वयं आजीवक मत का समर्थक बनकर नियतवाद का प्रचार करने लगे। अपनी स्वयं की तेजोलेश्या के दुष्प्रभाव के कारण शीतल जल से शरीर को धोते रहे, अतिदाह के कारण वे अर्नगल क्रियाएँ करते हुए मरण को प्राप्त हुए। मरण के पूर्व उन्हें पश्चाताप हुआ और अपने आप को जिन मानने की भूल स्वीकार कर महावीर स्वामी को ही सर्वोपरि माना।¹⁴⁰ मक्खलि गौसालक के लगभग 125 वर्ष पूर्व आजीवक दर्शन का उदय कुंडी यापनीय ने किया था, एनिगज्ज, भल्ल, भण्डीय, शेत, भारद्वाय, अर्जुन गौतमी पुत्र से यह आजीवक परम्परा मक्खलि गौशालक को प्राप्त हुई। मक्खलि गौशालक ने श्रावस्ती में रहकर

अनेक ग्रन्थों को लिखा लेकिन वे ग्रन्थ अब लुप्त हो गये।

आजीवक मत के सिद्धान्तों का कोई ग्रन्थ अथवा अन्य साक्ष्य स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं होता, लेकिन श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों और बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर निम्नलिखित विशेषताएँ प्राप्त होती हैं:

1. आजीवक परम्परा के श्रमण नग्न रहते थे।
2. वे अपने लिए बनाया गया आहार नहीं लेते थे तथा पाणिपात्र में भोजन करते थे।
3. एक साथ भोजन करने वाले युगल से, गर्भवती स्त्री से, माँ का दूध पीने वाले बालक/बालिकाओं से आहार नहीं लेते थे।
4. मत्स्य, मांस, मदिरा, मैरेय और खट्टी काजी ग्रहण नहीं करते थे।
5. मक्खियों की अधिकता तथा कुत्ते के खड़े होने के स्थान पर आहार नहीं लेते थे।
6. पकाये गये बर्तन का आहार अलग बर्तन से लेते थे।
7. अनेक प्रकार से उपवास करते थे।

इनके अनुयायी अरिहंत को मानते थे, माता-पिता की सेवा करते थे, गूलर, बढ़, बेर, अंजीर और पिलखु पाँच फलों का भक्षण नहीं करते थे। बैलों के नाक कान नहीं छेदते थे, जिनमें त्रस जीवों की हिंसा ऐसा व्यापार नहीं करते थे।

उनका सिद्धान्त था कि अपवित्रता के लिए कोई कारण नहीं होता, कारण के बिना प्राणी अपवित्र होता है, प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई कारण नहीं होता, कारण के बिना भी प्राणी शुद्ध होता है। पुरुषार्थ से भी कुछ नहीं होता, सभी प्राणी अवश हैं, बलहीन हैं, सामर्थ्य हीन हैं, वे नियति और स्वभाव के कारण परिणत होते हैं और सुख दुख का उपभोग करते हैं।

डॉ. हर्नले आजीवक साधुओं को दिग्म्बर जैन संघ की श्रेणी में ही मानते हैं, उनका कथन है कि जिन आजीवक और त्रैराशिकों का नन्दी में उल्लेख है वे गौशालक से बदलकर महावीर के पास गये हुए आजीवक थे, यह दोनों (त्रैराशिक और आजीवक) सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से पृथक नहीं थे। उनका यह भी कथन है कि वर्तमान दिग्म्बर जैन संघ उन्हीं आजीवक और त्रैराशिकों का उत्तराधिकारी है, हर्नले का मानना है कि

* महावीर के साथ गौशालक का झगड़ा हुआ, उस समय जो आजीवक भिक्षु महावीर से जा मिले थे, उन्होंने अपना नग्नाचार कायम रखा था।

* आजीवक और त्रैराशिकों के मत का पूर्व श्रुत में वर्णन होने से ये निग्रन्थ सम्प्रदाय के बर्तुल के बाहर के नहीं हो सकते।

* आजीवक नग्न होते थे, दिग्म्बर भी नग्न होते थे।

* तमिल भाषा में आजीवक शब्द का अर्थ दिगम्बर होता है।

* शीलाङ्कचार्य के लेख से आजीवक और दिगम्बरों को आजीविक लिखा है।¹⁴¹

यद्यपि श्वेताम्बर जैन संघ के अनेक पुराने नये ग्रन्थों में आजीवक और त्रैराशिक शब्द का ही उल्लेख नहीं है, दिगम्बर और श्वेताम्बर का ही उल्लेख आया है। भाष्यों और चूर्णियों में इनको आजीवको और त्रैराशियों को वोडिय या बोटिक नाम से बहुत किया गया है।¹⁴²

अन्य वैदिक ग्रन्थों में दिगम्बर साधु की श्रेणी से उनका उल्लेख किया गया है तथा आजीवकों को पांडुरंग कहा गया है, श्रमण भगवान महावीर के लेखक के अनुसार दिगम्बर जैन मूल निग्रन्थ श्रमण का ही एक विभाग है आजीविक या त्रैराशिकों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।¹⁴³

इतिहास में आजीविकों का उल्लेखः यद्यपि आजीविकों की परम्परा आज न होने के कारण उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ उपलब्ध न होने से उनके सिद्धान्तों का विशेष उल्लेख कर पाना असक्य ही है, लेकिन इतिहास में आजीवक श्रमणों के सम्मान का उल्लेख प्राप्त होता है, कल्याण मुनि ने आजीविकों के इतिहास प्रसंगों को उद्धरित किया है, बौद्ध ग्रन्थ महावंश में लंका के राजा पाण्डुकाभय द्वारा आजीविकों के लिए एक भवन बनवाने का उल्लेख है। यदि महावंशकार का यह कथन ठीक है तो ई.पू. पाँचवीं शताब्दी के अन्त में आजीवक साधु लंका पहुँच गये थे, ऐसा पुष्ट होता है।

उपलब्ध साधनों में आजीविकों के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख तो या के पास बर्बर पहाड़ की एक गुफा की दीवार पर खुदे हुए अशोक के एक लेख में मिलता है, यह लेख अशोक ने राज्य के तेरहवें वर्ष में लिखवाया था, राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में यह गुफा आजीविकों के लिए अर्पण की।

दूसरा उल्लेख अशोक के शासन स्तंभ पर राज्य के 28 वें वर्ष में अंकित लेख में आता है—मैंने योजना की है कि मेरे धर्म महामात्र बौद्ध संघ के ब्राह्मणों के आजीविकों के, निग्रन्थों के और वास्तविक भिन्नता वाले कुछ पाखंडों (पापों का खंडन करने वाले) के कार्य में व्याप्त हो जाएँगे।

प्राचीन उल्लेख नागार्जुन की गुफा की दीवारों पर खुदे हुए अशोक के पुत्र दशरथ के लेख में आता है, यह गुफा महाराज दशरथ ने राजगद्वी में आने के बाद तुरन्त आचन्द्रक निवास के लिए सामान्य आजीविकों को अर्पण की।¹⁴⁴

कल्याण मुनि के अनुसार विक्रम की आठवीं शताब्दी में ही गौशालक शिष्य आजीविक सम्प्रदाय का नाम शेष हो गया था। तेरहवीं शताब्दी के लेख पेरुमल के मंदिर में आजीविकों का उल्लेख मिलता है, वह दिगम्बर जैन आजीविकों के सदृश्य है।

दक्षिण भारत में आजीविक और दिगम्बर जैन दोनों का बिहार क्षेत्र रहा। दोनों ही सम्प्रदाय अवैदिक और दिगम्बर थे, इस कारण सामान्य व्यक्ति दिगम्बरों को आजीवक और आजीविकों को दिगम्बर समझ लेते थे, विशेषकर जब आजीविकों को पांडुरंगादि नाम से वैष्णव सम्प्रदाय में मिला लिया गया। उसके बाद से दक्षिण भारत में दिगम्बर ही प्रसिद्ध नाम से आजीविक कहे जाने लगे। आजीविक शब्द नग्न भिक्षुओं के नाते दिगम्बर भिक्षुओं के लिए रूढ़ हो गया तथा राजा राज के लेखों में दिगम्बर जैनों के लिए जो आजीविक शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका यही कारण है।¹⁴²

यापनीय संघ के श्रमणः

महावीर की परम्परा में श्वेताम्बर और दिगम्बर संघ भेद हो जाने के पश्चात् एक छोटा सा समूह महावीर के पुराने सिद्धान्तों का सर्वसंग्राहक संघ बचा हुआ रहा। वह दोनों परम्पराओं के बीच के मार्ग और पुराने समन्वयवादी स्वरूप को मानता रहा, वह स्वयं को प्रारम्भ में गोप्य संघ, बाद में गोपनीय संघ कहलाने लगा। पश्चात् यापनीय संघ कहा जाने लगा। यापनीय संघ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक अति प्रतिष्ठित तथा राज्य मान्य जैन सम्प्रदाय रहा।

इस संघ की उत्पत्ति में दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों एक मत नहीं हैं—श्वेताम्बर संघ के आचार्य का मानना है कि दिगम्बर सम्प्रदाय से यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई एवं दिगम्बर संघ के आचार्यों का मानना है कि यह यापनीय संघ की उत्पत्ति श्वेताम्बर सम्प्रदाय से हुई।

यापनीय संघ अपने साथ निम्नलिखित परम्पराओं को मानते थे—

1. यापनीय संघ के श्रमण नग्न रहते थे, मयूर पिञ्ची रखते थे और पाणिपात्र में आहार करते थे।
2. नग्न मूर्तियों की पूजा करते थे।
3. श्रावकों को 'धर्मलाभ' शब्द कहते थे।
4. आचारांग आदि ग्रन्थों को धर्म ग्रन्थों के रूप में मान्य करते थे।
5. कल्पसूत्र ग्रन्थ की वाचना करते थे।
6. स्त्री को उसी भव से मोक्षगामी स्वीकार करते थे।
7. अर्हत को कवलाहारी स्वीकार करते थे।
8. यापनीय संघ ने मंदिर मठों में साधु साधिव्याँ को रोकने के लिए आवास स्वीकार किये।
9. राजाओं से भूमि ग्राम आदि स्वीकार करते थे।
10. यंत्र, मंत्र, तंत्र तथा अनेक देवी देवताओं के कल्पों और मंदिरों को प्रोत्साहित करते थे।

यह सम्प्रदाय आचार से दिगम्बर और विचार से श्वेताम्बर मान्यता से अधिक निकट होने पर भी अपने आचरण के कारण यह श्रमण परम्परा दिगम्बर परंपरा में भी बहुत सम्मानीय रहा और अन्त में दिगम्बर परम्परा में विलीन हो गया।¹⁴⁵

यापनीय संघ के प्रमुख श्रमण निम्नलिखित हैं:

शिवार्थः 2170 ग्राथाओं में ‘आराधना’ नामक ग्रन्थ की रचना की।

शाकटायन पाल्यकीर्तिः शब्दानुशासन, अमोघवृत्ति, स्त्री मुक्ति, केवल मुक्ति प्रकरण ग्रन्थ रचे।

अपराजितः आराधना ग्रन्थ पर विजयोदया नाम की टीका लिखी, ‘दशवैकालिक सूत्र’ पर भी ‘विजयोदया’ नाम से टीका लिखी।

आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीः गोम्मटसार लव्विसार, क्षपणासार त्रिलोकसार, ग्रन्थों की रचना की। श्रवण बेल्लोल में बाहुबली भगवान की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा गंगवंशीय राजा रायमल्ल के महामंत्री चामुण्ड राय द्वारा करवाई गयी।¹⁴⁶

तत्त्व दर्शनः

जैन दर्शन में जो तत्त्व आया है वह वैदिक संस्कृति में उल्लेखित तत्त्व की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न तत्त्व है, जैन दर्शन तत्त्व से प्रारम्भ होकर तत्त्व पर ही पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। तत्त्व दो शब्दों से बना है तत् अर्थात् वह ‘त्व’ अर्थात् पना जिसमें उसी का पना पाया जाता है। ‘तत्त्व’ का सामान्य अर्थ fact अर्थात् सारभूतपना। यह सारभूतपना जगत के प्रत्येक क्षेत्र अथवा पदार्थ में दृष्टव्य होता है वह अपनी समस्त जाति में अनुगत रहता है।¹⁴⁷ जैसे स्वर्ण में स्वर्णत्व, अग्नि में अग्नित्व तात्पर्य यह है कि वस्तु में वस्तुपना ही उसका तत्त्व है।¹⁴⁸

जैन दर्शन में तत्त्वों के सात भेद कहे गये हैं—जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। इन सात तत्त्वों में दो पुण्य और पाप जोड़ देने पर नौ पदार्थ हो जाते हैं, इसी प्रकार अजीव तत्त्व के पुद्गल, धर्म, अर्धम, आकाश और कात पाँच भेद माने जाते हैं इन्हीं तत्त्वों में जीव तत्त्व जोड़ देने पर जीव, पुद्गल, धर्म, अर्धम, आकाश, कात, द्रव्य के छह भेद कहे जाते हैं, इस प्रकार सात तत्त्वों में छह द्रव्य समाहित होते हैं इसीलिए आचार्यों ने ‘तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्’¹⁴⁹ जैसे शब्दों से तत्त्व के महत्व को प्रतिपादित किया है।

जीव तत्त्वः

सात तत्त्वों में जीव तत्त्व सबसे प्रधान तत्त्व है, द्रव्य और पदार्थ में भी जीव तत्त्व से ही प्रारम्भ होता है, चेतना इसका मुख्य लक्षण है, समस्त सुख दुःख की प्रतीति इस चेतना से होती है।¹⁵⁰ इसी चेतना के आधार पर इसकी समस्त जड़ द्रव्यों से अलग

पहचान होती है। जीव का लक्षण बताते हुए आचार्य नेमीचन्द्र जी लिखते हैं—

जीवों उपयोगमयों अमूर्तिकत्ता सदेह परिमाणो
भोत्ता संसारथो सिद्धो सो विस्सोढ गयी।¹⁵¹

अर्थात् जीव उपयोगमयी है, अर्थात् जीव जानने देखने वाला है, उपयोगमयी है अमूर्तिक है, अपनी देह के परिमाण वाला है अर्थात् सम्पूर्ण देह के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है, (चाहे वह देह चींटी, मच्छर आदि की, हाथी या विशाल मछली की हो), जो कर्म जीव ने पूर्व में किए हैं, अर्थात् बांधे हैं, वह जीव उन कर्मों का भोक्ता भी है, संसार में रहने के कारण वह संसारी माना गया है, स्वभाव से अर्थात् कर्मों से रहित होने पर उसका स्वभाव उर्ध्वर्गति वाला है, शुद्ध होने पर वह सिद्ध हो जाता है अर्थात् कर्मों से रहित हो जाता है, संसार में रहने पर जीव की उपस्थिति बिना प्राणों के नहीं होती, प्राण उसका देहादि से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, संसारी जीव कम से कम चार प्राणों से एवं अधिकतम दस प्राणों से जीता है, यह प्राण पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न है।¹⁵² सर्वार्थसिद्धि में जीव का लक्षण चेतना कहा गया है, गोम्मटसार जीवकाण्ड में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने जीव को कर्मोपाधि सापेक्ष, ज्ञानदर्शन उपयोग रूप चेतन्य प्राणों से युक्त जीता हुआ कहा है।¹⁵³

प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलवर्ट आइन्स्टाइन भी जीव की चेतना तत्त्व को स्वीकार करते हैं, — मैं जानता हूँ सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।

Bellove that intelligence is manifested through out all nature.

J.V.S. Holdm भी इसी तरह का कथन करते हैं—सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्त्व जड़ (matter), बल (force) या भौतिक पदार्थ (Physical things) नहीं है, किन्तु मन और चेतना है।¹⁵⁴

जैन दर्शन के अनुसार जीव और उसका चेतनत्वपना कभी समाप्त नहीं होता, यद्यपि जीव में अनेक गुण विद्यमान हैं। लेकिन चेतना उसका प्रधान गुण है, श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण जीव के लक्षणों का उल्लेख करते हैं।

संसार में अनन्त जीव हैं, जैन दर्शन में जीव पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध होता है, जैन दर्शन का आधारभूत तत्त्व जीव ही है, संसार में अनन्त जीव है, जीव के सामान्यतया दो भेद किए गये हैं, एक संसारी दूसरा मुक्त।

मुक्त जीव जन्म मरण से मुक्त होकर संसार से मुक्त हो गया है। संसारी जीव संसार में ही जन्म मरण करता रहता है, इस अपेक्षा से संसारी जीव के निम्न प्रकार भेद प्रभेद होते जाते हैं।

त्रस और स्थावर

त्रसः त्रस नाम कर्म के उदय से जीव को त्रस देह (पर्याय) की प्राप्ति होती है जिस जीव के मात्र दो इन्द्रियाँ स्पर्शन और रसना होती हैं उन जीवों को दो इन्द्रिय

जीव कहते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन और रसना के अतिरिक्त ग्राण इन्द्रिय होती हैं वे तीन इन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और ग्राण के अतिरिक्त चक्षु (आँख) इन्द्रिय होती हैं वे चार इन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, ग्राण चक्षु के अतिरिक्त कर्णेन्द्रिय होती हैं वे पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

पञ्चेन्द्रिय जीव के दो प्रकार हैं—(1) संज्ञी पञ्चेन्द्रिय (2) असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय।

जिन जीवों में सीखने योग्य मन पाया जाता है, वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं, इसके अतिरिक्त जिन जीवों को ज्ञान का आधार पाँच इन्द्रिय ही हैं, मन नहीं होता वे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। सामान्यतया पशु (त्रियञ्च) असंज्ञी के वर्गीकरण में आते हैं लेकिन जिन पशुओं के मन होता है वे संज्ञी की श्रेणी में आते हैं जैसे गाय, हाथी, घोड़ा आदि।

स्थावर जीव: जिन जीवों के स्थावर नाम कर्म का उदय होता तथा एक स्पर्शन इन्द्रिय से ही ज्ञान प्राप्त कर अपनी आयु पूर्ण करते हैं ऐसे जीव स्थावर जीव कहे जाते हैं। इनके पाँच भेद माने गये हैं।

पृथ्वी कायिक जीव: यह जीव भूमि में, भूमि पर, भूमि रूप होते हैं जैसे—मिट्टी, हीरा, पना, मूंगा, कोयला, पत्थर आदि।

जलकायिक जीव: जल ही जिन जीवों का शरीर होता है वे जल कायिक जीव हैं जैसे—ओला, कुहरा, पानी, ओस, पानी की एक बूंद, असंख्य जलकायिक जीवों के शरीर का पिंड है।

अग्निकायिक जीव: अग्नि ही जिन जीवों का शरीर है उन्हें अग्नि कायिक जीव कहते हैं जैसे—अंगारा, ज्वाला, अग्नि, चिनगारी आदि।

वायुकायिक जीव: वायु ही जिन जीवों का शरीर है वे वायु कायिक जीव कहलाते हैं, संसार में जितनी प्रकार की वायु, पवन, हवा आदि हैं वे सब वायु कायिक जीव हैं।

वनस्पति कायिक जीव: वनस्पति ही जिनका शरीर है वे वृक्ष, लता, कन्दमूल, वनस्पति कायिक जीव हैं जैसे घास आदि सभी वनस्पति कायिक जीव हैं।

अजीव तत्त्व:

जीव तत्त्व के पश्चात् अजीव तत्त्व ही प्रधान है, जगत में अजीव तत्त्व ठसाठस भरा हुआ है, द्रव्य की अपेक्षा अजीव को पाँच भागों उल्लिखित किया गया है—पुद्गल, धर्म, अर्थर्म, आकाश और काल।

पुद्गल द्रव्य :

‘पुद्’ और ‘गल’ दो शब्दों से पुद्गल शब्द का निर्माण हुआ है पुद् का अर्थ है पूर्ण होना या ‘मिलना’ गल का अर्थ गलना। पुद्गल की इकाई परमाणुओं का आपस में मिलना अर्थात् स्कन्ध रूप होना और हटना या गलना, अर्थात् स्कन्ध का परमाणु रूप में टुकड़े होना या अलग होना। शुद्ध रूप में या इकाई रूप में पुद्गल परमाणु रूप में विद्यमान है। आज का विज्ञान जिसे परमाणु कह रहा है जैन दर्शन में उसे स्कन्ध रूप स्वीकार किया गया है। परमाणु तो अनित्म अविभागी और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के प्रयोग विषय से अतीत हैं अतः वह मनुष्य कृत नाना क्रियाओं से प्रभावित नहीं होता।¹⁵⁵ प्रत्येक परमाणु स्पर्श, रस, गंध एवं वर्ण गुणों से संयुक्त है अवान्तर में इन चार गुणों के पाँच-पाँच भेद भी कहे गये हैं। अनेक परमाणुओं के परमाणु से उनमें परमाणु उत्पन्न होता है, पश्चात् उनमें स्पर्श रस गंध वर्ण चार गुण प्रगट होते हैं तभी वह पुद्गल स्कन्ध इन्द्रिय ग्राह्य होता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने पर्याय की अपेक्षा पुद्गल के 10 भेद बतलाए हैं—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, आकार, भेद, अंधकार, छाया उद्योत और आतप।¹⁵⁶

धर्मद्रव्य:

धर्मद्रव्य पुण्य पाप से मुक्त अजीव है, धर्म शब्द का प्रयोग शास्त्रीय है और उसकी नैतिक आचरण आदि अर्थ वाचक धर्म से भ्रांति नहीं करनी चाहिए।¹⁵⁷ धर्म द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त अजीव एवं अरूपी द्रव्य है जो लोक में जीव और पुद्गल की गति में उदासीन रूप से सहकारी कारण है जैसे जल मछली के चलने में सहकारी कारण है, आधुनिक विज्ञान इसे ईंथर के रूप में स्वीकार करता है, आधुनिक विज्ञान ईंथर को अमूर्तिक, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य मानने के साथ-साथ उसे गति का आवश्यक माध्यम मानता है।¹⁵⁸

अर्थर्म द्रव्य:

अर्थर्मद्रव्य भी धर्मद्रव्य जैसा ही लोक में व्याप्त अजीव और अरूपी द्रव्य है, यह लोक में जीव और पुद्गुलों को रोकने में/ठहरने में, उदासीन रूप से सहकारी कारण है, जैसे धूप में चलते हुए पथिक का छाया में रूक जाना। यहाँ छाया पथिक के रूकने में सहकारी कारण है। प्रो. आर.सी. जैन ‘कास्मोलॉजी : ओल्ड एंड न्यू’ में अर्थर्मद्रव्य के बारे में कहते हैं कि जैन धर्म के अर्थर्मद्रव्य विषयक सिद्धान्त की सबसे बड़ी विजय है कि विश्व की स्थिरता के लिए विज्ञान ने अदृश्य आकर्षण शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है और प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंसटीन ने उसमें कुछ सुधारकर उसे क्रियात्मक रूप दिया। अब आकर्षण सिद्धान्त को सहायक कारण के रूप में माना जाता है। मूल कर्ता के रूप में नहीं।¹⁵⁹

आकाश द्रव्यः

आकाश द्रव्य भी अजीव और अरूपी है, यह सर्वत्र विद्यमान है, समस्त जीव, अजीव, पदार्थों को अवगाहनत्व (स्थान) देने का कार्य आकाशद्रव्य करता है। जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म और काल द्रव्यों को जो अवकाश देने योग्य है, वह आकाश द्रव्य है। आकाश द्रव्य के दो भेद कहे जाते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश

इस अपेक्षा से आकाश द्रव्य अनन्त हैं तथा वह स्वभाव से दो भागों में विभाजित हो गया है, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य आकाश के जितने क्षेत्र में रहते हैं उसको लोकाकाश कहते हैं, शेष अनन्त क्षेत्र अलोकाकाश कहलाता है। आइंसटीन ने भी अपने सिद्धान्त में लोकाकाश और अलोकाकाश का समर्थन किया है। आइंसटीन का मानना है कि लोक परिमित है लोक सेपरे आलोक अपरिमित है लोक के परिमित होने का कारण यह है कि शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती, लोक के बाहर उस शक्ति का अभाव है जो गति में सहायक होती है।¹⁶⁰

धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य का विभाजन जैन दर्शन में ही प्राप्त होता है अन्यत्र नहीं, इन तीनों के स्वभाव को विज्ञान में सहज भाव से स्वीकार किया है।

कालद्रव्यः

कालद्रव्य भी अजीव एवं अरूपी है, लेकिन परिणमनशील होता हुआ जीव और पुद्गलों के परिवर्तन में कारण है। ‘कलयति इति कालः’ जो व्यतीत होता है एवं जाना जाता है वह काल है। काल द्रव्य स्वयं परिवर्तनशील है तथा अन्य द्रव्यों को भी परिवर्तन में सहकारी कारण है। संसार के प्रत्येक परिवर्तन काल द्रव्य की उपस्थिति को दर्शाते हैं, जैन जगत में काल के दो भेद स्वीकार करता है, एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल।

निश्चय कालः लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान एक-एक कालाणु स्थित है। यह काल प्रदेश समस्त पदार्थों में व्याप्त है और उनमें परिणमन अर्थात् पर्याय परिवर्तन किया करते हैं।¹⁶¹

व्यवहार कालः समय पलघड़ी, प्रहर, घण्टा, मिनट, दिनमास, वर्ष आदि व्यवहार काल हैं। समय काल की सूक्ष्मतम इकाई है। आचार्यों ने समय की गणना का आकलन करते हुए लिखा है कि एक पुद्गल परमाणु को मन्द गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है उसे समय कहते हैं।¹⁶²

उपर्युक्त षड्द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) सदरूप हैं तथा उत्पाद व्यय संयुक्त हैं। इस प्रकार द्रव्य, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पने से संयुक्त हैं, आचार्य उमा स्वामी ने द्रव्य का लक्षण करते हुए द्रव्य को गुण और पर्यायवाला कहा है।¹⁶³

आस्त्रव तत्त्वः

आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व जैन दर्शन के मूल कर्म सिद्धान्त के हेतु हैं, जो जीव तत्त्व के साथ मिलकर पूर्ण होता है। आस्त्रव का शाब्दिक अर्थ ‘सब ओर से आना’ इस प्रकार कर्मों के आगमन को आस्त्रव कहते हैं। यह कर्म आते कैसे हैं? यह विचारणीय है, लोक में जीव तत्त्व और अजीवतत्व ठसाठस भरा हुआ है जीव तत्त्व को उसके भावों के कारण अजीव तत्त्व सदैव प्रभावित करता है जैन दर्शन के अनुसार लोक में कुछ ऐसी पुद्गल वर्गणाएँ हैं जो कर्म रूप परिणत करने की क्षमता रखती हैं इन वर्गणाओं को कार्माण वर्गणाएँ कहते हैं।¹⁶⁴ जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों के निमित्त से ये कार्माण वर्गणाएँ जीव की ओर आकृष्ट हो कर्मरूप परिणत हो जाती हैं और जीव के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है, कर्मवर्गणाओं का कर्मरूप में परिणत हो जाना ही आस्त्रव है।¹⁶⁵

प्रत्येक संसारी जीव में उसकी पात्रातानुसार मन वचन और काय की प्रवृत्तियाँ सदैव होती रहती हैं, परिस्पंदन होता है, आत्मा के इस परिस्पन्दन को क्रमशः मनोयोग, वचनयोग और काययोग कहा जाता है। इसी परिस्पंदन के निमित्त से कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं, इसे योग कहते हैं, यह योग ही हमें कर्मों से जोड़ता है इसलिए योग यह इसकी सारथक संज्ञा है योग को ही आस्त्रव कहते हैं।¹⁶⁶

आस्त्रव के उसकी क्रिया के कारण दो भेद किए गये हैं :

भावास्त्रवः जीवात्मा के जिन भावों के कारण जब कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तब उन भावों को भावास्त्रव कहते हैं।

द्रव्यास्त्रवः वे कार्माण वर्गणाएँ जब कर्मरूप परिणत होती हैं तो इन कार्माण वर्गणाओं का कर्मरूप परिणत हो जाना द्रव्यास्त्रव कहलाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आस्त्रव के हेतु हैं इनके वश होकर जीव आस्त्रव करता है।

बन्धतत्त्वः

आस्त्रव के तत्काल पश्चात् की क्रिया को बन्ध कहते हैं, कर्मों के आगमन को आस्त्रव तथा कर्मों का आकर जीवात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित होना बन्ध है। आस्त्रव और बन्ध की क्रिया में समय भेद नहीं है, आस्त्रव और बन्ध दोनों युगपत ही होते हैं, इनमें मात्र क्रियाजन्य कथन भेद है। आस्त्रव में जहाँ योग शक्ति काम करती है वहाँ बन्ध में कषाय की महत्वपूर्ण भूमिका है। कषाय की तीव्रता मंदता के कारण बन्ध चार प्रकार से होता है।

प्रकृति बन्धः प्रकृति का शाब्दिक अर्थ स्वभाव है। यह कर्म आत्मा के किस स्वभाव को आवृत करता है जैसे ज्ञानावरणीकर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आवृत

करता है, अथवा दर्शनावरणी कर्म दर्शन गुण को आवृत करता है।

प्रदेश बन्धः कर्मवर्गणाओं की मात्रा को प्रदेश कहते हैं, यह वर्गणाएँ किसी कर्म विशेष के साथ कितनी बंधती है उसका आकलन प्रदेश बंध से होता है। मात्रा में आत्मा के साथ बंध को प्राप्त होती है।

स्थिति बन्धः स्थिति अर्थात् समय, जीवात्मा के साथ जो कर्म बध रहे हैं अथवा बन्ध गये हैं उन कर्मों की कालावधि का निर्धारण होना स्थिति बन्ध है।

अनुभाग बन्धः कर्मों के फलदान की शक्ति (Power) को अनुभाग बँध कहते हैं कर्मों के फल की तीव्रता अथवा मन्दता का होना कर्मों की अनुभाग शक्ति के ऊपर निर्भर करता है। जीवात्मा द्वारा की गयी कषाय की तीव्रता मन्दता के आधार पर ही कर्मों की अनुभाग शक्ति तीव्र अथवा मन्द होती है।

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूपः

आस्त्र और बंध तत्त्व में जिन कार्मण वर्गणाओं का उल्लेख किया गया वे संसारी जीवों के साथ अलग-अलग रूपों में अनादि से सम्बन्धित हैं, यह कर्म जीवात्मा को मतिन बना कर इतना पराधीन कर देते हैं कि अनन्त शक्ति सम्पन्न जीवात्मा कठपुतली की तरह कर्मों के इशारे पर नाचा करता है। आचार्यों ने अपनी पूर्व परम्परा से इन बद्धकर्मों का कर्म प्रकृतियाँ में उल्लेख किया है। (1) ज्ञानावरण कर्म (2) दर्शनावरण कर्म (3) मोहनीय कर्म (4) वेदनीय कर्म (5) आयु कर्म (6) नाम कर्म (7) गौत्र कर्म (8) अन्तराय कर्म। इन प्रत्येक कर्मों के बन्ध के क्या कारण हैं? इनकी सत्ता कबतक रह सकती है? इन कर्मों से बचने के और इन कर्मों से मुक्त होने के उपाय क्या हैं? कर्म सिद्धान्त में इनका विवेचन किया गया है। इन आठ कर्मों के उत्तरभेद भी हैं जिससे यह कर्म प्रकृतियाँ 148 हो जाती हैं।

ज्ञानावरण कर्मः कार्मण वर्गणाएँ जब कर्मरूप परिणत होकर आत्मा के ज्ञान पर आवरण कर देती हैं अथवा आच्छादित हो जाती है, तो उस कर्म को ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को पूर्ण रूप से प्रगट नहीं होने देते।

दर्शनावरण कर्मः पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का आभास करना दर्शन है। दर्शनावरण कर्म उक्त दर्शन गुण को आवृत करता है। इसके 9 अवान्तर भेद होते हैं।

वेदनीय कर्मः जो कर्म जीव को सुख या दुख का अनुभव कराता है, वह वेदनीय कर्म है, वेदनीय कर्म दो प्रकार का होता है। साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

मोहनीय कर्मः जो कर्म आत्मा को मोहित करता है तथा सही गलत में भेद प्रगट नहीं होने देता, यदि सही/गलत की पहचान कर भी ले तो मोह के कारण अपना ही पक्ष मजबूत करता रहता है। विवेक एवं स्वरूप में बाधा डालता है। इसे कर्मों का राजा कहा गया है, यह कर्म जगत का मूल है। इस कर्म के मूल में दो भेद हैं—दर्शन

मोहनीय, चारित्र मोहनीय। पुनः इसके अवान्तर भेद होते हैं, दर्शन मोहनीय के तीन, चारित्र मोहनीय के 25 इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल 28 भेद कहे गये हैं।

आयु कर्मः जीव का किसी निश्चित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम आयु है, इस आयु का निमित्तभूत कर्म आयुकर्म कहलाता है। इस कर्म के चार भेद किए गये हैं—नरकायु, त्रियज्वायु, मनुष्यायु, देवायु। नरकायु और देवायु को पूर्ण भोगना पड़ता है लेकिन त्रियज्वायु और मनुष्यायु में आयु पूर्ण किए बिना ही अकाल मरण (कदलीघात) होने पर शरीर छूट सकता है।

नामकर्मः जो जीव के चित्र-विचित्र रूप बनाता है वह नाम कर्म है इसकी तुलना चित्रकार से की गयी है, सुन्दर, असुन्दर, छोटे-मोटे, दुबले-पतले, गोरे काले, आदि विभिन्न आकृतियों के शरीर का निर्माण इसी नाम कर्म की कृति है। नाम कर्म के मूल में 42 भेद होते हैं, अवान्तर भेद/उपभेदों को मिलाने पर नाम कर्म के 93 भेद हैं।

गोत्र कर्मः लोक में श्रेष्ठता का महत्वपूर्ण स्थान है जिस कर्म के उदय से जीव श्रेष्ठ कुल में (लोकपूज्य कुल में) अथवा निम्न कुल में (निन्द कुल में) उत्पन्न होता है। इन कुलों में जन्म दिलाने वाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है। इसके दो भेद होते हैं। उच्चगोत्र और निम्नगोत्र।

अन्तराय कर्मः जो कर्म शुभ कार्यों में विघ्न डालता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं, इस कर्म के कारण आत्म शक्ति में अवरोध उत्पन्न होता है। अनुकूल साधनों और आन्तरिक इच्छा के होने पर भी जीव इस कर्म के कारण अपनी मनोभावना को पूर्ण नहीं कर पाता। अन्तराय कर्म के चार भेद हैं।

कर्म प्रकृतियों की विविध अवस्थाएँः

जीव के शुभ अशुभ भावों के आश्रय से उत्पन्न होने वाली कर्मों की अवस्थाओं को जैन आगम में अत्यन्त विशद तथा अर्थपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। इसे 'करण' शब्द से जाना जाता है।¹⁶⁷ करण दस प्रकार के होते हैं।

बन्धः कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ एकमेक हो जाना ही बन्ध है।

सत्ताः कर्मों का आत्मा के साथ बन्ध हो जाने के पश्चात् कर्म के फल देने की अवधि स्थिति को सत्ता कहते हैं।

उदयः जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं, उसे उदय कहते हैं।

उदीरणाः अपने नियत काल से पूर्व ही पूर्व बद्ध कर्मों को प्रयास पूर्वक उदय में लाकर उनके फलों का भोगना उदीरणा कहलाती है।

उत्कर्षणः पूर्वबद्ध कर्मों के स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं, नवीन बन्ध करते समय आत्मा पूर्व बद्ध कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ा भी सकता है, यह प्रक्रिया उत्कर्षण है।

अपकर्षण: पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं।

संक्रमण: संक्रमण का अर्थ है परिवर्तन। एक कर्म अपने सजातीय दूसरे वर्ग (भेद) में बदल सकता है, जैसे—पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म सातावेदनीय कर्म में बदल सकता है, जो आत्मा जितनी पवित्र होती है, उसमें संक्रमण क्षमता उतनी अधिक होती है।

उपशम: उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना अथवा रोक देना। इस करण में कर्म सत्ता में बने रहते हैं।

निधत्ति: कुछ कर्म ऐसे होते हैं कि वे संक्रमित नहीं हो सकते हैं न ही उनकी उदीरणा होती है, मात्र स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है।

निकाचित: कर्मबन्धन की प्रगाढ़ अवस्था निकाचित है इस कर्म को, बन्धन की अवस्था रूप में ही भोगना पड़ता है न तो स्थिति, अनुभाग में हीनाधिकता होती है न ही इनका उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण होता है।

संवर:

जगत के सुख दुःख रूपी कर्मों से छूटने का उपाय संवर से प्रारम्भ होता है, मोक्ष मार्ग में संवर का महत्वपूर्ण स्थान है, जितना-जितना संवर होता है, उतना-उतना ही आत्मिक विकास होता जाता है।¹⁶⁸ आत्मा के उत्कृष्ट परिणामों द्वारा कर्मों का आना नहीं हो पाता अर्थात् आते हुए कर्मों को रोक देना संवर है। संवर दो प्रकार का होता है, भाव संवर और द्रव्य संवर।¹⁶⁹

भाव संवर: आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों का आगमन रुक जाता है, वह भाव संवर है।

द्रव्य संवर: कर्म परमाणुओं के आगमन का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है।¹⁷⁰

संवर के साधन: सम्यक् चारित्र रूप क्रियाएँ—पंचव्रत, दस धर्म, पंचसमिति, द्वादशानुप्रक्षाएँ, तीन गुप्तियाँ, बाईंस परिषह जय, पाँच चारित्र इनसे संवर होता है, इस प्रकार बासठ प्रकार संवर के साधन कहे गये हैं।¹⁷¹

निर्जरा:

बद्धकर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है¹⁷², जहाँ तपादि के द्वारा कर्मों का आना रुकता है, वहीं बद्ध कर्म छूटते भी हैं, यह निर्जरा दो प्रकार की होती है, आचार्य नेमिचन्द्र जी के अनुसार कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसा पुद्गलकर्म जिस भाव से छूटता है वह भाव निर्जरा है और स्थिति पूर्ण होने पर अथवा तप के द्वारा कर्मों का छूटना द्रव्य निर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा

दो प्रकार की जानना चाहिए।¹⁷³

द्रव्य निर्जरा के भेद - द्रव्य निर्जरा के दो भेद होते हैं।

सविपाक निर्जरा: स्थिति के पूर्ण होने पर कर्मों के सुख दुःखात्मक फल देकर विलग होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। जैसे—आम आदि फल का पक्कर वृक्ष से गिर जाना।

अविपाक निर्जरा: जिन कर्मों का उदयकाल नहीं आया ऐसे कर्मों को तपादि के माध्यम के द्वारा नीरस उदयावली (बिना फल दिये झड़ जाना) प्रवेश कराके जो अनुभव किया जाता है वह अविपाक निर्जरा है, जैसे कच्चे आमों को तोड़कर पाल में पका लेना।¹⁷⁴

मोक्ष:

मोक्ष शब्द संस्कृत के मोक्ष – आसने धातु से बना है जिसका अर्थ है छूटना या नष्ट होना। अतः समस्त कर्मों का जीवात्मा से आत्मनिक रूप से पृथक होना, समूल उच्छेद होना मोक्ष है।¹⁷⁵ आचार्य उमा स्वामी मोक्ष के बारे में लिखते हैं—बन्ध हेत्वभाव निर्जराण्य कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षमोक्षः।¹⁷⁶ ‘अर्थात् बन्ध के हेतुओं का अभाव और निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा से अलग होना या उनका आत्मनिक क्षय होना ही मोक्ष है।

जीव को मोक्ष प्राप्त कराना ही जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य है, मुक्त जीव को सिद्ध तथा मोक्ष को सिद्धालय नाम से भी जाना जाता है। मुक्त जीव कर्मों से मुक्त होकर अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लोक के अग्रभाग सिद्धालय (मोक्ष) में विराजमान हो जाते हैं।

बौद्ध दर्शन, न्यायिक, सांख्य, मीमांसक, अद्वैतवाद आदि दर्शन मोक्ष को स्वीकार करते हैं, लेकिन मोक्ष के बारे में सबका अपना-अपना चिन्तन है, कोई भी चिन्तन जैन दर्शन के चिन्तन से मेल नहीं होता।

पुण्य और पाप:

सात तत्त्वों में दो पदार्थ पुण्य और पाप जोड़ देने से नौ पदार्थ हो जाते हैं, आचार्य नेमीचन्द्र स्वामी ने पुण्य पाप का निरूपण करते हुए लिखा है—शुभ और अशुभ भाव से युक्त जीव पुण्य पाप रूप होते हैं, सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम उच्चगोत्र (कर्म प्रकृतियाँ) पुण्यरूप हैं एवं असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और निम्न गोत्र पाप रूप हैं।¹⁷⁷

अनेकांत और स्वादवादः:

अनेकांत जैन दर्शन का हृदय है, समस्त जैन वाङ्मय अनेकांत के आधार पर वर्णित हैं, उसके बिना जैन दर्शन को समझ पाना बहुत दुष्कर है, अनेकांत दृष्टि

एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तु तत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है।¹⁷⁸ जिनेन्द्र वर्णीजी ने नयदर्पण की भूमिका में अपने विचार लिखे जो अनेकांत और स्याद्वाद को समझने सहकारी होंगे अनेकों विचारक हुए और होंगे यह कोई आवश्यक नहीं कि जितना कुछ उपदेश प्राप्त हो चुका है बस उतना ही है, प्रकाश भी अनन्त है और विश्व भी, बुद्धियाँ भी अनन्त हैं और अनुभव भी, फिर कैसे इसे शास्त्रों के पन्नों में सीमित रखा जा सकता है जो कि उन पन्नों को उलट-पलट कर किसी बात की सत्यता की साक्षी लेनी पड़े। अरे प्रभो। यदि इस गम्भीर रहस्य को समझना चाहता है तो अनेकान्त और स्याद्वाद की शरण में आ, यहाँ आकर तुझे जगत में किसी भी लौकिक या पारलौकिक व्यक्ति की बात गलत प्रतीत होगी ही नहीं। यहाँ आकर के बजाय दूसरे का निषेध करने के तू अपनी बुद्धि को दूसरों की दृष्टि के अनुसार उसके अभिप्राय को समझने का अध्यास कर सकेगा। तब तेरे हृदय में द्वेष के स्थान पर प्रेम, कटुता के स्थान पर माधुर्य और संकुचित हृदय के स्थान पर व्यापक प्रकाश प्रगट होगा। जिनेन्द्र वर्णी जी ने अनेकान्त और स्याद्वाद को बीतराग साम्यदृष्टि कहते हुए लिखा है—बीतराग व साम्यदृष्टि हुए बिना विश्व का सुन्दर व्यापक रूप कोई कैसे देख सकता है? जिसको देखकर व्यक्ति कृत्यकृत्य हो जाता है। वे एकान्तवादियों को सलाह देते हुए लिखते हैं कि दूसरे का निषेध करने की बजाय अपनी एकान्त बुद्धि का निषेध कर 'अनेकान्त' शब्द बहुब्रीहि समास युक्त है अर्थात् एक से अधिक गुण धर्मों रूपों पर्यायों वाला पदार्थ है, प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मात्मक है, यह सत्य है किन्तु वह अनेक धर्मात्मक होने से ही अनेकान्त है, अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्मवत् अन्त से तात्पर्य धर्म से है। डॉ. रवीन्द्र अनेकान्त के बारे में लिखते हैं वस्तु सर्वथा अथवा असत् ही है, नित्य है अथवा अनित्य ही है आदि एकान्त धारणा के खंडन का नाम ही अनेकान्त है।¹⁷⁹ वस्तु अनेक धर्मात्मक होने पर उसमें परस्पर विरोधी धर्मों का युगल विद्यमान रहता है, प्रत्येक का अपना-अपना स्वरूप होता है जोकि आपस में भिन्न रूप होता है। इस प्रकार वस्तु परस्पर विरोधी अर्थात् सत् और असत् धर्म युगलमय होने से अनेकान्तात्मक है। जैसे जल ही जीवन है यहाँ जल मृत्यु का कारण भी है, जल में डूबने पर वह मृत्यु का भी कारण बनता है। वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए अनेकान्त की महती आवश्यकता है किसी वस्तु की बात को ठीक-ठीक न समझकर उसके ऊपर अपने हठ पूर्ण विचार अथवा एकांत आग्रह लाने पर बड़े अनर्थ की आशंका रहती है।¹⁸⁰

स्याद्वादः: अनेकान्त शब्द जहाँ वाच्य हैं वहीं स्याद्वाद वाचक है स्याद्वाद एक संयुक्त पद है, स्यात् शब्द विडन्त न होकर एक निपात शब्द है, वह एकान्त का खंडन करके अनेकान्त का समर्थन करता है। यह स्यात् शब्द कथंचित् शब्द का पर्यायवाची है एक आपेक्षिक निश्चयात्मकता का द्योतक है। उसका अर्थ संशय या

संदिग्धता कदापि नहीं है।¹⁸¹ इसी आशय की पुष्टि के अनेक दृष्टांत 'पंचास्तिकाय', 'स्याद्वाद मंजरी' एवं 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' में देखे जा सकते हैं।¹⁸² जबकि बाद 'शब्द का अर्थ मान्यता वचन अथवा प्रतिवादन। इस प्रकार जो स्यात् का कथन अथवा प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है। स्याद्वाद से तात्पर्य विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से अनेकान्तात्मक वस्तु का परस्पर सापेक्ष कथन करने की पद्धति। इसे अपेक्षा से कथञ्जितवाद और सापेक्षवाद भी कहा जा सकता है, स्याद्वाद शायदवाद कदापि नहीं है। स्याद्वाद वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए परस्पर मुख्यता गौणता के साथ अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है।¹⁸³ पदार्थ में अनेक विरोधी धर्म युगपत होने पर भी युगपत व्यक्त नहीं किया जा सकता। भाषा द्वारा किसी एक धर्म का कथन एक बार में किया जा सकता है, स्याद्वाद पद्धति द्वारा प्रत्येक धर्म का वर्णन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से अस्ति (विधिपरक) नास्ति (निषेधपरक) और अव्यक्तव्य आदि रूप से सात प्रकार से किया जाता है क्योंकि धर्मयुगल धर्म सप्तक लिये हुए हैं।¹⁸⁴ वे सात धर्म सप्त वाक्यों द्वारा कहे जाते हैं। प्रत्येक धर्मों की सप्त प्रकारीय इस वर्णन शैली को सप्त भंगी कहते हैं। सप्तभंगी अर्थात् सात प्रकार के भंग सात प्रकार के वाक्यविन्यास सप्त भंगिया इस प्रकार हैं— (1) स्याद्अस्तिएव (स्यात् है) (2) स्यादनास्ति एव (किसी अपेक्षा से स्यात् नहीं) (3) स्यादअस्तिएवं स्यादनास्तिएव (4) स्याद अव्यक्तव्यमेव (5) स्यादअस्ति एव अव्यक्तव्यएव (6) स्यादनास्तिएव स्याद अव्यक्तव्यएव (7) स्यादअस्तिएव स्यादनास्तिएव स्यादअवक्तव्यएव

अनेकान्त और स्याद्वाद से अनेक समस्याओं का समाधान नैसर्गिक रूप में प्राप्त हो जाता है, इन मान्यताओं से पर्याप्त सन्मार्ग मिल सकता है, इस सिद्धान्त से जैन दर्शन इस प्रकार दृष्टव्य होता है।¹⁸⁵

1. जैन दर्शन वस्तु की पूर्णत विविधता और आपेक्षित स्थिरता में विश्वास करता है।

2. जैन दर्शन अपनी पूर्ण दृष्टि के कारण विश्व की सभी चिन्तन धाराओं में समन्वय और मैत्री की संस्थापना करता है।

3. जैन दर्शन का यह दर्शन बौद्धिक क्षेत्र में बहुमुखी विश्लेषणवाद का प्रश्रय देता है।

4. यह दर्शन मनुष्य को स्वतन्त्र और निर्भीक चिन्तन की शक्ति देता है।

5. यह दर्शन आत्मा को परमात्म तत्त्व घोषित करता है, उसे अन्ततः सर्वत्र स्वतन्त्र सिद्ध करता है, इसके अनुसार आत्मा अनन्त है, उनकी पृथक-पृथक सत्ता है और प्रत्येक आत्मा अपने विशुद्ध पुरुषार्थ से ही सिद्धत्व अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।

जैन दर्शन में साहित्य :

ज्ञान एक ऐसा तथ्य है जो प्रत्येक जीव में ट्रैकलिक, ध्रुव रूप में विद्यमान होता है अत्यन्त जघन्य देहधारी निगोदिया जीव भी ज्ञान युक्त है, यद्यपि उसका ज्ञान प्रगट रूप में अक्षर के अनन्तवे भाग समान है लेकिन अप्रगट रूप में वह जीव सम्पूर्ण ज्ञान का धारी है वह जीव निगोद से निकलकर मनुष्य भव धारण कर रागद्वेष से मुक्त होकर तप करता हुआ सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान प्राप्त कर तीनों लोकों की तीनों कालों की पर्यायों को एक साथ जानने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

ज्ञान के पाँचभेदों में श्रुतज्ञान एक भेद है—श्रुतज्ञान में ‘श्रुत’ शब्द ज्ञान को प्रगट करने अथवा उसमें वृद्धि करने के कारण चार कर्मों के क्षय से प्राप्त ज्ञान एवं श्रुत के द्वारा प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा समान है, यद्यपि उसका क्षेत्र एवं काल विस्तार भिन्न-भिन्न हो सकता है, लेकिन द्रव्यश्रुत के द्वारा प्राप्त ज्ञान भावश्रुत से श्रुतकेवली बने श्रुतकेवली का ज्ञान एवं अरहंत पद प्राप्त करने वाले केवली भगवान के ज्ञान में समान वस्तु को जानने की सादृश्यता है, इस अपेक्षा से ज्ञान ज्ञान है, वह भाव श्रुत चाहे श्रुतकेवली का हो, चाहे अरहंत केवली का, लेकिन द्रव्य श्रुत में विस्तार की अपेक्षा बहुत भिन्नता है।

पर्याय तथा भाव श्रुत की अपेक्षा ज्ञान के दो भेद कहे गये हैं।

पर्यायज्ञान: सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव के सूक्ष्म ज्ञान होता है, वह पर्याय ज्ञान है।

पर्याय समास ज्ञान: सर्व जघन्य पर्यायज्ञान के ऊपर क्रम से अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि ये छह वृद्धियाँ हैं। अनाक्षरात्मक श्रुतज्ञान के असंख्यात लोक प्रमाण घड़स्थान होते हैं, यह सब पर्याय समास ज्ञान के भेद हैं।

अक्षर ज्ञान (अर्थाक्षर): अन्त के उर्वडक अर्थाक्षर समूह में भाग देने से जो लब्ध आवे उसको अन्त के उर्वडक से गुणा करने पर अन्त के उर्वडक से गुणा करने पर अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण होता है।

अक्षर समास ज्ञान: अक्षर ज्ञान के पश्चात् (ऊपर) और पद ज्ञान के पूर्व (पहले) तक जितने विकल्प हैं, वे सब अक्षर समास ज्ञान के भेद हैं।

पद श्रुत ज्ञान: अक्षर ज्ञान के ऊपर क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाय तब पद नामक श्रुत ज्ञान होता है।

पद समास श्रुत ज्ञान: एक पद के ऊपर और संघात नामक ज्ञान के पूर्व जितने ज्ञान के भेद हैं, वे सब पद समास के भेद हैं, अथवा पद समास कहलाते हैं।

संघात श्रुतज्ञान: एक पद के आगे भी क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाय उसे संघात नामक श्रुत ज्ञान कहते हैं।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान: चार गति में से एक गति का निरूपण करने वाले संघात श्रुतज्ञान के ऊपर पूर्व की तरह क्रम से एक-एक अक्षर की, पदों की और संघातों की वृद्धि होते-होते जब सहस्रेषु संख्यात वृद्धि हो जाय तब उसे एक प्रतिपत्तिक नामक श्रुतज्ञान कहते हैं।

संघात समास श्रुत ज्ञान: संघात और प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान के मध्य जितने ज्ञान के विकल्प हैं उतने ही संघात समास के भेद हैं, यह ज्ञान नरकादि चारों गतियों का स्वभाव जानने वाला है।

प्रतिपत्ति समास श्रुत ज्ञान: प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के ऊपर (पश्चात्) एवं अनुयोग श्रुतज्ञान के पहले पूर्व तक प्रतिपत्ति समास ज्ञान तथा उसके भेद हैं।

अनुयोग श्रुतज्ञान: चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्तिज्ञान के ऊपर (पश्चात्) क्रम से पूर्व की तरह एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाये तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है।

अनुयोग समास श्रुत ज्ञान: प्राभृत-प्राभृतक श्रुतज्ञान के पहले और अनुयोग श्रुतज्ञान के ऊपर पश्चात् जितने ज्ञान के भेद हैं (ज्ञान के विकल्प है) वे सब अनुयोग समास के भेद जानना।

प्राभृत-प्राभृतक श्रुतज्ञान: 14 मार्गणियों का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर (पश्चात्) पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चतुर आदि (चतुरादि) अनुयोगों की वृद्धि हो जाय तब प्राभृत प्राभृतक श्रुत ज्ञान होता है, प्राभृत के अधिकार को प्राभृत-प्राभृत कहते हैं।

प्राभृतक श्रुतज्ञान: प्राभृत और अधिकार ये दोनों प्राभृत एक ही अर्थ के वाचक हैं, वस्तु नाम श्रुतज्ञान के एक अधिकार को प्राभृत कहते हैं। प्राभृत-प्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृत की वृद्धि हो जाय, तब एक प्राभृतक श्रुत ज्ञान होता है।

प्राभृत समास श्रुत ज्ञान: वस्तु ज्ञान के पहले और प्राभृत ज्ञान के ऊपर जितने विकल्प हैं, वे सब प्राभृत समास ज्ञान के भेद हैं।

प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत ज्ञान: प्राभृत के पहले और प्राभृत-प्राभृत के ऊपर (पश्चात्) जितने ज्ञान विकल्प हैं, वे सब प्राभृत-प्राभृत समास के भेद जानना है।

वस्तु श्रुतज्ञान: प्राभृत ज्ञान के ऊपर के एक-एक अक्षर की वृद्धि होती जाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है, अथवा उत्कृष्ट प्राभृत समास में एक अक्षर की वृद्धि हो जाने से वस्तु नामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है।

वस्तु समास श्रुत ज्ञान: वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर (पश्चात्) एवं पूर्व के

पहले एक-एक अक्षर की वृद्धि द्वारा उत्पन्न जितने भी ज्ञान के विकल्प हैं, वे वस्तु समाप्त हैं।

पूर्व ज्ञान (पूर्व श्रुतज्ञान): पूर्वज्ञान के 14 भेद हैं, जिनमें क्रम से 10, 14, 8, 18, 12, 12, 16, 20, 30, 15, 10, 10, 10, 10 हैं। वस्तु नामक अधिकार हैं।

पद के भेद

पद तीन प्रकार के होते हैं:

(1) अर्थ पद (2) प्रमाण पद (3) मध्यम पद

अर्थपद: किसी अर्थ विशेष के बोधक वाक्य को अर्थपद कहते हैं, जैसे— सफेद गौ को रस्सी से बांधो। अग्नि को लाओ।

प्रमाण पद: आठ आदिक अक्षरों के समूह के प्रमाण पद कहते हैं, जैसे— ‘अनुष्टुप्’ छंद (श्लोक) के एक पाद में आठ अक्षर होते हैं।

मध्यम पद: पद के अक्षरों का प्रमाण सर्वदा के लिए निश्चित है, इसको मध्यम पद कहते हैं।

पद के अक्षरों का प्रमाणः

एक हजार छः सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सो अट्ठासी अक्षर एक पद में होते हैं। (16348307888 अक्षर)

साहित्यः

दिग्म्बर परम्परा में श्रुत को लिपिबद्ध करने के प्रारम्भ के बारे में डॉ. राजाराम लिखते हैं ‘दिग्म्बर परम्परा के उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार आचार्य गुणधर तथा अष्टांग महानिमित ज्ञानी आचार्य धर्सेन ने बदलते परिवेश में कण्ठ परम्परा से प्राप्त द्वादशांग वाणी को अपने पास अवशिष्ट ज्ञान राशि की सुरक्षा की दृष्टि से उसे लिपिबद्ध करना अथवा करना अनिवार्य समझा।

आचार्य गुणधर ने लेखनोपकरण सामग्री की उपलब्धि में कठिनाई को ध्यान में रखते हुए सोलह सहस्र मध्यम पदों वाले (16000 पद) कसायपाहुड़ के विस्तृत वर्ण्य विषय को संक्षिप्त कर 233 गाथा सूत्रों में पूर्वागत श्रुत परम्परा को स्वयं निबद्ध किया और अपने दो आचार्य शिष्यों - नागहस्ति तथा आर्यमुंज को उनका विशद ज्ञान कराया। किन्तु आचार्य धर्सेन ने किन्हीं विशिष्ट कारणों से अपनी ज्ञान राशि को स्वयं निबद्ध न कर आचार्य पुष्पदत्त एवं भूतबलि को उसका अध्ययन कराया तत्पश्चात् उन दोनों शिष्यों में से पुष्पदत्त ने (177 सूत्र वाले) सत्प्ररूपण साहित्य तथा भूतबलि ने शेष द्रव्य प्रमाणादि जैसे अवशिष्ट अंश का सूत्र शैली में ग्रन्थन किया, जो षट्खंडागम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह प्रथम सदी ई.पू. के अन्तिम चरण के आस-पास की घटना है।

श्रमण संस्कृति के साहित्य में द्रव्य श्रुत मूलरूप से जो साहित्य पाया जाता है वह ‘अंग’ नाम से जाना जाता है, इन अंगों के बारह भेद होने के कारण उस साहित्य को द्वादशांग के नाम से स्वीकार किया गया है। यह विचार आना भी स्वाभाविक है, कि साहित्य को प्रथमतः अंग नाम से ही संबोधित क्यों किया गया है, उसके बारे में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती गोम्मटसार कर्मकाण्ड में उल्लेख करते हैं। दो हाथ दो, पैर, नितम्ब पृष्ठ (पीठ) छाती सिर ये आठ अंग देह के हैं शेष उपांग हैं। वैसे श्रुत के भी अलग-अलग विभाजन होने के कारण उसे शरीर के अंगों की तुलना करके अंग नाम दिया गया। श्रुत रूपी परम पुरुष के अंग उपांग जैसे आचारांग आदि अंग होने के कारण वह द्वादशांग है।¹⁸⁶ अंगों को आगम भी कहते हैं¹⁸⁷, श्वेताम्बर परम्परा में इन अंगों को आगम नाम से स्वीकार किया गया है, वर्ही दिग्म्बर परम्परा में इन्हें श्रुतदेवता का अंग कहा गया है। लेकिन ‘अंग’ सम्बोधन दोनों परम्परा में सर्वमान्य रूप से स्वीकार्य है। इनकी संख्या बारह होने के कारण इन्हें ‘द्वादशांग’ शब्द से विभूषित किया गया है।

द्वादशांग में ग्यारह अंग तो अंग के नाम से जाने जाते हैं, लेकिन बारहवाँ अंग ‘दृष्टिवादांग’ को पूर्व के नाम से जाना जाता है, बारहवें अंग दृष्टिवादांग में 14 पूर्वों का वर्णन किया गया है।

पं. कैलाशचन्द्र लिखते हैं, इन 12 अंगों में से जो अन्तिम बारहवा अंग था वह उक्त ग्यारह अंगों से बहुत विशाल तो था ही और महत्वपूर्ण भी था। प्रथमतः ग्यारह अंग का उल्लेख करते हैं।¹⁸⁸

आचारांगः मुनियों के आचार का वर्णन किया गया है, इसके दो श्रुत स्कन्ध हैं प्रथम श्रुत स्कन्ध में 9 अध्ययन 44 उद्देशक (चूलिका) हैं, द्वितीय श्रुत स्कन्ध में 16 अध्ययन एवं तीन उद्देशक हैं, प्राकृत एवं अर्द्धमागधी भाषा में संकलित अधिक प्राचीन ग्रन्थ हैं, इसमें 18000 पदों का संकलन है।

सूत्रकृतांगः सूत्रकृतांग दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है, प्रथम श्रुत स्कन्ध में 16 अध्ययन और चूलिका है, दूसरे श्रुत स्कन्ध में 7 अध्ययन हैं, इसमें ज्ञान विनय, अध्ययन क्रिया, व्यवहार, धर्म क्रिया, स्व समय-पर समय का वर्णन है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों एवं वादों का (विचारधाराओं का) प्ररूपण किया गया है, द्वितीय श्रुत स्कन्ध में जीव शरीर में एकत्व, ईश्वर-कर्तृत्ववाद, नियतिवाद, आदि मतों का खंडन तथा महानिमित् (पृथ्वी, अन्तरिक्ष, अंग, स्वर, लक्षण, स्वप्न, व्यंजन, छिन, निमित ज्ञान) का वर्णन, प्रत्याख्यान क्रिया, पाप-पुण्य आदि का वर्णन किया गया है, इस अंग में 36000 पदों का संकलन है।

स्थानांग (ठाणांग): यह श्रुतांग 10 अध्ययनों में विभाजित है, प्रत्येक अध्ययन में संख्यानुसार जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु की संख्या का वर्णन किया गया है,

जैसे प्रथम अध्ययन में एक चरित्र, एक दर्शन, एक प्रदेश, एक परमाणु आदि। द्वितीय अध्ययन में दो क्रियाएँ (जीव की क्रिया, अजीव की क्रिया) सम्यक्त्य क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया, तृतीय अध्ययन में तीन प्रकार के पुरुषार्थ, (धर्म, अर्थ, काम) तीन पुरुष (प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष) तीन धर्म, (श्रुत धर्म, चारित्र धर्म, आस्तिक्य धर्म) इस प्रकार 10 अध्ययन तक क्रमशः विषयों का उल्लेख किया गया है। 42000 पदों में वर्ण्य विषय का संकलन है।

समवायांग: यह श्रुतांग 275 सूत्रों का संकलन है, द्रव्यों में किसी धर्म की अपेक्षा सादृश्य है इसमें क्रम से वस्तुओं का निर्देश स्वरूप और भेदों उपभेदों का वर्णन किया गया है। एक में एक आत्मा, एक लोक, इसी प्रकार दो, तीन, चार आदि में दो, तीन, चार आदि वस्तुओं का वर्णन करते हुए, आगे-आगे के सूत्रों में हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, क्रम से आगे बढ़ते हुए प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर 24 वें तीर्थकर तक का उत्तरकाल सागरोपम कोटा कोटि निर्दिष्ट किया गया है। 63 श्लाका पुरुषों का वर्णन किया गया है, 164000 पदों में अंग का विस्तार है।

भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति): इस अंग में 41 शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक चूलिकाओं में, उद्देषकों में विभाजित हैं यह श्रुतांग अन्य श्रुतांगों की अपेक्षा बहुत विशाल है, इसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर है, इन प्रश्नोंतरों की संख्या 36000 बतलाई है, यह श्रुतांग महावीर निर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् तक का वर्ण्य विषय प्राप्त है तथापि इसमें संदेह नहीं कि इसका विषय वर्णन प्राचीन है और आचार्य परंपरागत हैं, सातवाँ शतक ऐतिहासिक वर्णन से भरा हुआ है, 21, 22, 23 वें शतक में वनस्पति शास्त्र का विशेष वर्णन है, इसमें 228000 पदों से वर्ण्य विषय को संवारा गया है।

ज्ञात् धर्म कथा: यह श्रुतांग दो स्कन्धों में विभाजित है, प्रथम श्रुतस्कन्ध में 19 अध्याय हैं, यह श्रुतांग अपने नाम की सार्थकता को प्रगट करता हुआ, महावीर स्वामी आदि तीर्थकरों के महत्व, दस धर्म, रत्नत्रय आदि के साथ प्राचीन काल की कथाओं से ओत-प्रोत है, इनमें 556000 पदों का आकलन किया गया है,

उपासकाध्ययनांग (उवासगदसाओ): यह श्रुतांग 10 अध्ययनों से युक्त है, इसमें क्रमशः आनंद, कामदेव, विचुलनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकोलिय, सद्वलपुत्र, महाशतक, नंदिनीप्रिय और सालिहीप्रिय दस उपासकों के कथानक हैं, इन कथानकों द्वारा जैन ग्रहस्थों के नियमों को समझाया गया है। 11 प्रतिमाएँ, व्रत, गुण, शील, आचार, मंत्र आदि का वर्णन 11,70000 पदों में है।

अन्तकृद्धशांग (अन्तदसाओ): यह श्रुतांग 8 वर्गों से युक्त है, इनमें ऐसे महापुरुषों के कथानक उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने घोर तपस्या करके निर्वाण प्राप्त किया। तीर्थकरों के काल में 10-10 मुनि किस प्रकार उपसर्ग सहन कर मोक्ष

गये, इसका वर्णन है। 2328000 पदों में इसका विस्तार किया गया।

अनुत्तरोपपादिक दशांग (अणुत्तरोवाइयदसाओ): यह श्रुतांग तीन वर्गों में विभाजित है। तीर्थकरों के काल में 10-10 महापुरुषों ने मुनि बनकर अनेक उपसर्गों को सहन कर अनुत्तर विमानों में पहुँचे इसका वर्णन है। तप से देह की क्षीणता का मार्मिक और विस्तृत वर्णन है।

प्रश्न व्याकरणांग (पण्ह वागरण): यह श्रुतांग दो खंडों में विभाजित है, प्रथम खंड में पाँच आस्त्र द्वारों का वर्णन, द्वितीय खंड में पाँच संवर द्वारों में, उन्हीं के निषेध रूप अहिंसादि व्रतों का वर्णन प्रश्नोत्तर में हैं, आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी, निर्वेगनी कथाएँ सुख, दुख आदि का वर्णन 9316000 पदों में किया गया है।

विपाक सूत्रांग (विवाग सूय): इस श्रुतांग में दो श्रुत स्कन्ध हैं प्रथम में दुःख विपाक विषयक, द्वितीय में सुख विपाक विषयक वर्णन है, कर्मों की तीव्र तथा मंद आदि अनुभाग शक्ति तथा कर्मों की विपाक देने की शक्ति का विशेष वर्णन है, लाचार मनुष्य तथा अनेक-अनेक प्रकार की बीमारियों से ग्रस्त मनुष्य का वर्णन, स्वस्थ होने हेतु औषधियों से उनके उपचार का वर्णन, गर्भिणी स्त्री के दोहले का वर्णन, इनके अतिरिक्त नरबलि, भ्रूण हत्या, अमानुषिक दण्ड प्रथा, वैश्याओं के प्रलोभनों जैसी प्राचीनकाल की अनेक कुप्रथाओं का, अंधविश्वासों का सामाजिक प्रथाओं का वर्णन इस श्रुतांग में 18400000 पदों में किया गया है।

दृष्टिवादांग: बारहवें अंग दृष्टिवादांग के अन्तर्गत चौदहपूर्वों का उल्लेख प्राप्त होता है।

चौदह पूर्वों के नाम एवं उनमें पाई जाने वाली विषय वस्तु निम्नानुसार है:

उत्पाद पूर्व: जीव, पुद्गल, धर्म, अर्थ, आकाश, काल का उत्पाद एवं विनाश का वर्णन किया गया है, इस पूर्व में एक करोड़ पद में 10 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

अग्राण्यणीय पूर्व: जीवादि द्रव्यों तथा उनकी अनेक अवस्थाओं की संख्या, परिमाण आदि का वर्णन है, 96 लाख पद में 14 अधिकार हैं।

वीर्यानुवाद पूर्व: जीवादि द्रव्यों का क्षेत्र काल आदि की अपेक्षा से उनकी शक्ति सामर्थ्य का उल्लेख किया गया है, 70 लाख पदों में 8 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

अस्तिनस्ति प्रवाद पूर्व: लौकिक वस्तुओं के विभिन्न अपेक्षाओं से अस्तित्व नास्तित्व का विचार किया गया है। 60 लाख पदों में 18 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

ज्ञान प्रवाद पूर्व: 'मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः, पर्ययज्ञान, केवलज्ञान तथा उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। 999999 पदों में 12 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

सत्य प्रवाद पूर्व: वचन की अपेक्षा सत्य, असत्य का विवेक सत्यासत्य के स्वरूपों का विवेचन, वक्ता की मानसिक परिस्थिति (कथन की अपेक्षा) का वर्णन किया गया है, एक करोड़ 6 पदों में 12 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

आत्मप्रवाद पूर्व: आत्मा का स्वरूप, उसका ज्ञातृत्वपना, भोक्तापना और उसकी व्यापकता का वर्णन किया गया है, 26 करोड़ पदों में 16 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

कर्म प्रवाद पूर्व: कर्मों की प्रकृतियाँ, स्थितियाँ उनकी शक्तियाँ, परिमाण आदि का प्ररूपण किया गया है, एक करोड़ 80 लाख पदों में 20 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

प्रत्याख्यान पूर्व: परिग्रह का त्याग, उपवासादि की विधि, मन, वचन, काय की विशुद्धि आदि आचार सम्बन्धी अनेक नियमों का उल्लेख किया गया है। 26 करोड़ पदों में 15 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

विद्यानुवाद पूर्व: विद्यानुवाद में अनेक विधाओं, उपविधाओं का प्ररूपण किया गया है, जिसमें माप आदि का अंगृष्ट, प्रसेनादि से सात सौ अल्पविधाओं रोहिणी आदि पाँच सौ महाविधाओं तथा अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वन, लक्षण, व्यंजन, छिन इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधियाँ का उल्लेख किया गया है। एक करोड़ 6 दस लाख अवन्ध्य पदों में 10 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

कल्याणवाद पूर्व: कल्याणवादपूर्व में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागण आदि की अनेक गतियों को देखकर शकुन विचार, वासुदेव बलभद्र (नारायण) चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के गर्भ, जन्म आदि के समय होने वाले लक्षणों का उल्लेख तथा निमित्तज्ञान आदि के माध्यम से भविष्य में होने वाली घटनाओं का अवश्यम्भावी (अबद्ध) माना जाना आदि का उल्लेख 2 करोड़ 60 लाख पदों में 10 वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

प्राणावाद पूर्व: देह की चिकित्सा के अन्तर्गत आयुर्वेद का प्रतिपादन एवं प्राण अपान आदि वायुओं (श्वास लेना, छोड़ना) का देह की अपेक्षा से विवेचन किया गया। 13 करोड़ पदों में 10 वस्तु अधिकार का वर्णन है।

क्रिया विशाल पूर्व: लेखन, गणना आदि 72 कलाओं का वर्णन, ग्रन्थ रचना सम्बन्धी छन्द आदि के साथ रचना सम्बन्धी गुण दोष प्ररूपण तथा स्त्रियों के 64 गुणों का उल्लेख किया गया है, 9 करोड़ पदों में 10 वस्तु अधिकार का वर्णन है।

लोक बिन्दुसार पूर्व: जीवन की श्रेष्ठ क्रियाओं, व्यवहारों तथा उनके द्वारा मोक्ष तक पहुँचने का उल्लेख किया गया है, 12 करोड़ पचास लाख पदों में वस्तु अधिकारों का वर्णन है।

जैन साहित्य परम्परा

सिन्धुघाटी सभ्यता के काल के हजारों वर्ष पूर्व से सांस्कृतिक रूप से समृद्धशाली श्रमण संस्कृति की परम्परा प्राचीनकाल से ही समृद्ध रही लोकिन कहीं न कहीं काल के गाल में कोई विशेष कारण अवश्य ही छिपा हुआ है जिसे हम समझ नहीं पा रहे हैं।

जैन साहित्य में आज जो हमें दृष्टव्य हो रहा है उससे प्राचीन साहित्य के बारे में कोई निर्णय कर पाना अत्यन्त दुष्कर है, महावीर स्वामी के निर्वाण के लगभग 162 वर्ष पश्चात् से श्रमण संस्कृति ने साहित्य एवं संस्कृति की अपेक्षा बहुत अधिक खोया है, अतः प्राचीन साहित्य के अध्ययन हेतु हमें प्राचीनकाल के इतिहास में ही खोज करनी होगी।

श्रमण संस्कृति में महावीर स्वामी के निर्वाण के लगभग 175 वर्ष बाद श्रुत का संकलन आरम्भ हुआ, भारतीय साहित्य के इतिहास को खोजने वाले प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान डॉ. विन्टरनीट्स जैन साहित्य के बारे में लिखते हैं, 'मूल सिद्धान्त चौदह पूर्व में सुरक्षित थे महावीर ने स्वयं अपने शिष्य गणधरों को उनकी शिक्षा दी थी किन्तु उन पूर्वों का ज्ञान शीघ्र ही नष्ट हो गया। महावीर के शिष्यों में से केवल एक ने उस ज्ञान की परम्परा को आगे चलाया। किन्तु वह केवल छः पीढ़ी तक ही रही, महावीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी में मगध में भीषण अकाल पड़ा जो बारह वर्षों में जाकर समाप्त हुआ उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य मगध का राजा था और स्थविर भद्रबाहु जैन संघ (दिगम्बर जैन संघ) के प्रधान थे। दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु अपने अनुयायियों (12000 मुनियों) के साथ दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में चले गये और स्थूलभद्र मगध में रह जाने के कारण वे संघ के प्रधान हो गये।

भद्रबाहु की अनुपस्थिति के कारण यह प्रत्यक्ष था कि पवित्र सूत्रों का ज्ञान गर्त में चला जाता है, इसलिए पाटलीपुत्र में एक सम्मेलन (वीर निर्वाण संवत् 200 के लगभग) का आयोजन किया गया उसमें ग्यारह अंगों का संकलन हुआ और चौदह पूर्वों के अवशेषों को बारहवें अंग दृष्टिवाद के रूप में निबद्ध कर दिया गया। जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध में लौटकर आये तो उन्होंने देखा कि दक्षिण को चले जाने वाले और मगध में रह जाने वालों के बीच एक बड़ी खाई हो गयी है। मगध में रह जाने वालों के साथु सफेद वस्त्र पहनने के अध्यस्त हो गये थे जबकि दक्षिण प्रवासी साथु महावीर के कठोर नियमों के अनुसर नग्न रहते थे। इस तरह दिगम्बर श्वेताम्बरों का महान संघ भेद हुआ फलतः दिगम्बरों ने पाटलीपुत्र में संकलित आगमों को मानने से इंकार कर दिया और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि अंग और पूर्व नष्ट हो गये। सुदीर्घ काल वश श्वेताम्बरों के आगम अस्त-व्यस्त हो गये और उनके एक दम नष्ट हो जाने का खतरा पैदा हो गया अतः (वीर निर्वाण 980 या 993

वर्ष पश्चात्) पाँचवी शताब्दी के मध्य में या छठी शताब्दी के आरम्भ में गुजरात की वलभी नगरी में पवित्र आगमों के संकलन तथा लेखन के लिए एक सम्मेलन हुआ जिसके प्रधान देवर्दिधक्षमा श्रमण थे। बारहवाँ अंग जिसमें अवशिष्टांश संकलित थे, उस समय तक नष्ट हो चुका था इसी से हम ग्यारह अंगों को पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि वर्तमान में उपलब्ध ग्यारह अंग वही हैं जिन्हें देवर्दिध ने संकलित किया था। इस तरह हम देखते हैं कि स्वयं श्वेताम्बर जैनों की परम्परा के अनुसार उनके पवित्र आगमों की अधिकारिता ईसा की पाँचवी सदी से पूर्व नहीं जाती। यह ठीक है कि वे मानते हैं कि वलभी सम्मेलन में जो आगम लिखे गये उनका आधार पाटलिपुत्र में संकलित आगम थे और वे आगम महावीर और उनके शिष्यों से सम्बद्ध थे। कहा जाता है कि गणधरों ने जो महावीर के शिष्य थे उनमें भी मुख्य रूप से आचार्य, सुधर्माचार्य ने महावीर स्वामी के वचनों को अंगों उपांगों में निबद्ध किया। परम्परा से कुछ खास ग्रन्थों को, बाद के ग्रन्थकारों का कहा जाता है। उदाहरण के लिए चौथा अंग आर्य श्यामाचार्य का बतलाया जाता है जिनका समय महावीर निर्वाण से 376 या 386 वर्ष पश्चात् माना जाता है, चौथे छेद सूत्र पिण्ड निर्युक्ति और ओघ निर्युक्ति को भद्रबाहु वीर निर्वाण संवत् की दूसरी शताब्दी और तीसरे मूलसूत्र को संयमभव का जिन्हें महावीर निर्वाण के पश्चात् चौथा युग प्रधान गिना जाता है। कहा जाता है कि नन्दिसूत्र को महावीर निर्वाण की दशवी शताब्दी में होने वाले वलभी सम्मेलन के प्रधान देवर्दिध का कहा जाता है। दिग्म्बर भी यह बात स्वीकार करते हैं कि महावीर के प्रथम गणधर चौदह पूर्वों और ग्यारह अंगों को जानते थे किन्तु वे कहते हैं कि प्राचीन समय में केवल चौदह पूर्वों का ही ज्ञानलुप्त नहीं हुआ बल्कि महावीर के निर्वाण के 436 वर्ष पश्चात् ग्यारह अंगों का ज्ञाता अन्तिम व्यक्ति मरण को प्राप्त हो गया, उसके जो उत्तराधिकारी आचार्य क्रम से हुए, जैसे समय बीतता गया वैसे ही उनमें उत्तरोत्तर अंगों का ज्ञान क्रम से कम होता गया और अन्त में महावीर निर्वाण से 683 वर्ष पश्चात् अंगों का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया। यद्यपि स्वयं जैनों की परम्परा उनके आगमों के बहुत प्राचीन होने के पक्ष में नहीं है तथापि कम से कम उनके कुछ भागों को अपेक्षाकृत प्राचीन काल का मानने में और यह मानने में कि देवर्दिध ने अंशतः प्राचीन प्रतियों की सहायता से और अंशतः मौखिक परम्परा के आधार पर आगमों को संकलित किया, पर्याप्त कारण है।¹⁸⁹

कैलाशचन्द जी ने अपनी पुस्तक जैन साहित्य का इतिहास में लिखा है विंटर निट्स के उक्त मत बहुत सन्तुलित है और वह हमारे मत का पोषक है।¹⁹⁰

डॉ. विन्टरनीट्स के मत से निम्नलिखित विचारणीय बिन्दु निकल कर आते हैं:

॥ महावीर स्वामी के काल में द्वादशांग के अंग और पूर्व संरक्षित और सुरक्षित थे।

॥ महावीर स्वामी ने अपने (शिष्यों को) गणधरों को द्वादशांग का ज्ञान कराया।

॥ अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के पश्चात् पाँचवे श्रुत केवली भद्रबाहु तक के काल तक पूर्वों का ज्ञान सुरक्षित रहा।

॥ आचार्य भद्रबाहु का संघ सहित दक्षिण भारत की ओर गमन करने के पश्चात् शेष साधुओं ने आचार्य स्थूलभद्र को अपना संघ शिरोमणि स्वीकार किया।

॥ दुर्भिक्ष के काल में श्रुतज्ञान को सुरक्षित रखने हेतु पाटलिपुत्र में प्रथम सम्मेलन हुआ जिसमें ग्यारह अंगों का संकलन किया। यह सम्मेलन महावीर निर्वाण के लगभग 175 वर्ष पश्चात् हुआ।

॥ दुर्भिक्ष पश्चात् भद्रबाहु संघ के साधु जब पुनः उत्तर भारत में आए तो उत्तर भारत में रहे साधुओं को सवस्त्र देखकर संघ भेद हो गया तथा दिग्म्बर और श्वेताम्बर भेद का प्रारम्भ हो गया।

॥ दिग्म्बर साधु महावीर के सिद्धान्तों को, आचरणों को जीवन का अंग बनाकर आचरण करते रहे।

यह कि श्वेताम्बर साधुओं ने महावीर स्वामी के ज्ञान को संरक्षित कर संकलन करने में अपना समय और जीवन लगाया फलस्वरूप पाटलिपुत्र सम्मेलन में द्वादशांग को सुरक्षित और संकलित रखने का प्रयास किया गया।

॥ पाटलिपुत्र सम्मेलन के कई सौ वर्षों पश्चात् वलभी नगर में आचार्य देवर्दिध क्षमा श्रमण के नेतृत्व में 980 ई. 993 पुनः क्षीण हो रहे (नष्ट हो रहे) साहित्य को संकलित कर लिपिबद्ध करने का कार्य किया गया।

॥ ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान अति प्राचीनता से श्रुत परम्परा में विद्यमान रहा लेकिन कालान्तर में वह लिपिबद्ध किया गया। इससे कुछ प्राचीनता कम हो गयी विशेष कर वलभी सम्मेलन के कारण पाटलिपुत्र और मथुरा के प्राचीन सम्मेलनों का महत्व कम हो गया।

॥ श्वेताम्बर आदि में प्रचलित कंठस्थ, श्रुत परम्परा को भी लिपि में बांधने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया फलस्वरूप उत्तर भारत में रुकने वाले साधु सवस्त्र हो गये तथा ज्ञान के विलोपित होने के भय से पाटलीपुत्र में अंगों का संकलन कर लिपि बद्ध करने लगे। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा प्रारम्भ से ही आगम के ज्ञान को लिपि बद्ध करने में लगी।

दिग्म्बर मुद्रा के धारी मुनियों ने जब अपने साथियों के शिथिलाचार को देखा तो न केवल साथियों को अस्वीकार कर दिया बल्कि उनके द्वारा संकलित एवं

लिपिबद्ध अंगों को भी नकार कर दिया। इस प्रकार श्रमण संस्कृति में आगम लेखन की परम्परा का प्रारंभ वीर निर्वाण संवत् 200 (ई.पू. 327) के लगभग हो गया। पाटलीपुत्र के पश्चात् मथुरा में भी दो वाचनाएँ कर पूर्वगत ज्ञान राशि का संकलन कर उसे लिपिबद्ध किया जो सुरक्षित नहीं रह सका फलस्वरूप 10 वी सदी में वलभी गुजरात में देवर्दिध के निर्देशन में अंगों को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया जिसमें आग्रह पश्चात् अनेक संशोधन कर दिए गये। जिसका वर्णन अनेक पश्चात् इतिहासकारों ने भी किया है।

देवर्दिध ने जब अंगों को पुनः लिपिबद्ध करने का प्रयास किया उसके पूर्व दिगम्बर परम्परा में भी श्रुत साहित्य लेखन की उपलब्धता शताधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों तक पहुँच चुकी थी। ईसवीं सन् के प्रारंभ से ही वीर निर्वाण संवत् 650 के लगभग से श्रुत लिपिबद्ध किया जाने लगा है। वीर निर्वाण संवत् 593 में पुष्पदंत और भूतवलि के सहयोग से पट्टखण्डागम ग्रंथ की रचना की। गुणभद्र स्वामी ने कषाय पाहुण, वीर निर्वाण संवत् 677 के लगभग कुंदकुंद स्वामी ने मूलाचार सहित समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुण, पंचास्तिकाय, जैसे ग्रंथों की रचना की, वीर निर्वाण संवत् 600 के लगभग शिवकोटि मुनि ने भगवती आराधना ग्रंथ को लिपिबद्ध किया।

संदर्भ सूची :

01. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 01
02. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 04
03. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 07
04. भारतीय इतिहास : एकदृष्टि पृ. 28
05. महावीर जयंती स्मारिका 1963 पृ. 22
06. महावीर जयंती स्मारिका 1963 पृ. 22
07. महावीर जयंती स्मारिका 1963 पृ. 22
08. महावीर जयंती स्मारिका 1963 पृ. 22
09. महावीर जयंती स्मारिका 1963 पृ. 22
10. जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा पृ. 31
11. भगवती आराधना गाथा 418
12. जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा पृ. 32
13. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 1
14. तत्त्वार्थ सूत्र 5.21
15. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 26

16. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 29
17. तत्त्वार्थ सूत्र 1.1
18. दंसण पाहुण गाथा 2
19. णमोकार ग्रन्थ पृ. 12
20. रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा 34
21. णमोकार ग्रन्थ पृ. 12
22. छहढाला 3.1
23. तत्त्वार्थ सूत्र 1.2
24. छहढाला 6.11
25. जैन धर्म और दर्शन पृ. 301
26. जैन धर्म और दर्शन पृ. 301
27. पंचास्तिकाय गाथा 173
28. रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा 122
29. जिन सरस्वती पृ. 173
30. भगवती आराधना गाथा 885-87
31. मूलाचार गाथा 14
32. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 41
33. जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा पृ. 118
34. तत्त्वार्थ सूत्र 9.9
35. तत्त्वार्थ सूत्र 9.23
36. तत्त्वार्थ सूत्र 9.25
37. तत्त्वार्थ सूत्र 9.26
38. तत्त्वार्थ सूत्र 9.27
39. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1.241
40. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1.136
41. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1.136
42. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1.136
43. पद्मपुराण 3.11-115
44. पद्मपुराण 3.158-214
45. जिन सरस्वती पृ. 100
46. मूलाचार गाथा 158
47. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1.241
48. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1.242

49. तत्त्वार्थ सूत्र 9.23
50. णमोकार ग्रन्थ पृ.85–88
51. मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म पृ. 39
52. मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म पृ. 39
53. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.246
54. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.246
55. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 14
56. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 14
57. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 5
58. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 5
59. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 5
60. ब्रह्माण्ड पुराण 2.14
61. आर्यमंजूश्री मूलश्लोक 380
62. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 84
63. भारतीय श्रवण संस्कृति पृ. 5
64. आदि पुराण 13.1–3
65. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.85
66. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 84
67. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 84
68. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.276
69. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.276
70. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.276
71. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.276
72. मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म पृ. 32
73. लिंग पुराण 47.192
74. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.262–63
75. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.81
76. सर्वे ऑफ इंडियन हिस्ट्री पृ. 04
77. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.81
78. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.81
79. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.81
80. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.13
81. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.13

82. मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म पृ. 37
83. मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म पृ. 37
84. मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म पृ. 37
85. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.79
86. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.79
87. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.79
88. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.79
89. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.80
90. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ.
91. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.81
92. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.81
93. उत्तर पुराण 57.39–40
94. उत्तर पुराण 56.56–58
95. उत्तर पुराण 57.26
96. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.188
97. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.189
98. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.189
99. जैन धर्म और दर्शन पृ.179
100. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.300
101. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.333
102. जैन धर्म और दर्शन पृ.139–40
103. जिन सरस्वती
104. णमोकार ग्रन्थ पृ. 314–18
105. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.251
106. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.252
107. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.258
108. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.264
109. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.264
110. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.264
111. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.292
112. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.270
113. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.291
114. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.291

115. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.292
 116. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.229
 117. जैन धर्म का इतिहास पूर्वपीठिका 472
 118. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.273
 119. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.274
 120. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.294
 121. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.294
 122. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.294
 123. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.311
 124. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.256
 125. दर्शनसार गाथा 11
 126. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 31
 127. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 31
 128. जैन धर्म का इतिहास पूर्वपीठिका 278
 129. जैन धर्म का इतिहास पूर्वपीठिका 281
 130. जैन धर्म का इतिहास पूर्वपीठिका 283
 131. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 46
 132. जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा पृ. 74
 133. श्वेताम्बर मत समीक्षा पृ. 273
 134. जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा पृ. 74
 135. जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा पृ. 74
 136. जैन धर्म का इतिहास पूर्वपीठिका 181
 137. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 37
 138. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.384
 139. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.385
 140. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ. 1.385
 141. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.301-302
 142. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.303
 143. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.307
 144. जैन परम्परा और यापनीय संघ 1.304
 145. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 53-54
 146. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 54
 147. जैन धर्म और दर्शन पृ. 63
148. सर्वार्थसिद्धि पृ. 6
 149. तत्त्वार्थ सूत्र 1.2
 150. जैन धर्म और दर्शन पृ. 18
 151. द्रव्यसंग्रह गाथा 2
 152. प्रवचन सार गाथा 147
 153. गोमटसार कर्मकाण्ड गाथा 129
 154. जैन धर्म और दर्शन पृ. 80
 155. जैन धर्म और दर्शन पृ. 104
 156. तत्त्वार्थ सूत्र 5.24
 157. द्रव्यसंग्रह गाथा 16
 158. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 221
 159. जैन धर्म और दर्शन पृ. 114
 160. द्रव्यसंग्रह गाथा 22
 161. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2.82
 162. नियमसार पृ. 31
 163. तत्त्वार्थ सूत्र 5.38
 164. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3.513
 165. जैन धर्म और दर्शन पृ. 123
 166. जैन धर्म और दर्शन पृ. 123-124
 167. जैन धर्म और दर्शन पृ. 163
 168. जैन धर्म और दर्शन पृ. 176
 169. सर्वार्थसिद्धि 9.1
 170. हरिवंश पुराण 58.300
 171. जैन धर्म और दर्शन पृ. 176-178
 172. जैन धर्म और दर्शन पृ. 189
 173. द्रव्यसंग्रह गाथा 36
 174. नवनीत पृ. 260
 175. तत्त्वार्थवार्तिक 1.1.37
 176. तत्त्वार्थ सूत्र 10.2
 177. द्रव्यसंग्रह गाथा 38
 178. जैन धर्म और दर्शन पृ. 307
 179. महावीर जयंती स्मारिका 1993 1.62
 180. जैन धर्म और दर्शन पृ. 311

181. आत्ममीमांसा पृ. 103–104
182. महावीर जयंती स्मारिका 1973 1.63
183. जैन धर्म और दर्शन पृ. 314
184. जैन धर्म और दर्शन पृ. 319
185. महावीर जयंती स्मारिका 1973 1.65
186. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृ. 335–344
187. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृ. 292
188. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृ. 292
189. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृ. 294
190. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृ. 296

बौद्ध श्रमण संस्कृति

विनय पिटक सुत्त पिटक और अधिधम्म पिटक यह तीन मुख्य पिटक कहे जाते हैं। बौद्ध संघ में भिक्षु-भिक्षुणी जिन्हें श्रमण श्रमणी कहाजाता है की प्रधानता तो थी ही गृहस्थ स्त्री पुरुष का भी बहुत महत्व था उन्हें उपासक उपासिका कहा जाता था, गृहस्थों के आचार का विवरण सिंगोलावाद सूत्र में पति का पत्नी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति व्यवहार, स्वामी का नौकर के प्रति, नौकर का स्वामी के प्रति व्यवहार का उल्लेख प्राप्त होता है।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्तः

बौद्ध धर्म आचार प्रधान धर्म था, बौद्ध श्रमण मानव के कल्याण में संलग्न रहते थे, महात्मा बुद्ध ने मानव जाति का मार्गदर्शन किया है, बैर-सबैर कभी शान्त नहीं होता, बैर अबैर से ही शान्त होता है।

॥ अक्रोध से क्रोध को जीते, साधुता से असाधुता को जीते।

॥ दान से कृपणता को जीते।

॥ सत्य से झूठ को जीते।

॥ विजय बैर को जन्म देती है पराजित दुःख की नींद सोता है, परंतु उपशांत पुरुष जय पराजय दोनों को छोड़कर सुख की नींद सोता है।

बौद्ध धर्म निरंजन, निराकार, अनादि अनन्त ब्रह्मा या आत्मा के विवाद से दूर सदाचार, सरल और सादा जीवन पर ही विशेष बल देता है। बौद्ध धर्म तो मध्यम मार्ग का पोषक धर्म है, न शिथिलाचार न उग्र तप दोनों के मध्य से होकर इसका मार्ग निकलता है।

शीलः— पंचशील बौद्ध धर्म में साधकों के लिए अनिवार्य किये गए हैं पश्चात् इन पाँच शीलों में तीन शील और जोड़ दिए गये जिससे वे अष्टशील कहलाने लगे तथा बाद में दो शील और मिला दिए गये इस प्रकार यह दसशील के नाम से विख्यात हो गए।

पंचशीलः (1) किसी जीव को नहीं मारना (2) बिना दी हुई वस्तु न लेना (3) झूँठ नहीं बोलना (4) नशीली वस्तु का उपयोग नहीं करना (5) व्यभिचार नहीं करना।

अष्टशीलः उपर्युक्त पंचशील में अग्रलिखित तीन शील और जोड़ देने से अष्टशील बन जाते हैं। (1) रात्रि में देर तक भोजन न करना (2) माला, सुगंधि

आदि का उपयोग न करना (3) जमीन पर सोना।

दसशील: उपर्युक्त अष्टशील में अग्रलिखित दो शील और जोड़ देने पर दसशील बन जाते हैं। (1) नाचने, गाने, बजाने का निषेध (2) सोना चाँदी के रखने तथा उपयोग से विरति।

यह 10 शील भिक्षुओं के लिए अनिवार्य किए गए।

बौद्ध संस्कृत में गौतम महात्मा बुद्ध ने बौद्ध संघ के विधिवत एवं मर्यादित संचालन के लिए संघ के साधुओं के लिए विशेष 7 नियम भी बनाए थे, जिनका पालन करना सभी संघों के लिए अनिवार्य था।

1. एक साथ एकत्र होकर सभाएँ करना।

2. एक होकर उत्थान करना तथा एक साथ संघ के कार्य करना।

3. संघ विहित का उल्लंघन नहीं करना जो संघ विहित न हो उसका पालन

अथवा अनुशरण न करना, साथ ही वरिष्ठ भिक्षुओं के द्वारा संचालित कार्य अथवा नियमों का पालन करना।

4. अपने से बड़े जो धर्मानुरागी हैं, जो चिरप्रवजित संघ के श्रेष्ठ हैं, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करना, उनकी पूजन करना उनकी बातों को ध्यान से सुनना तथा पालन करना।

5. मन में जो बार-बार तृष्णा उत्पन्न होती है उसको दबा देना, उसके वश में न होना।

6. वन की कुटियों में निवास करना।

7. केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों तथा संघ के सभी सदस्य ब्रह्मचर्य का पालन करें।

प्रत्येक भिक्षु का संघ के प्रति भक्ति का भाव होना अनिवार्य था, भिक्षु बनते समय तीन प्रतिज्ञाएँ लेना होती थीं, उनके अनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध धर्म और संघ की शरण में आने का वचन लेना होता था। संघ में शामिल भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्य मात्र के कल्याण तथा सब प्राणियों के हित के लिए ही भिक्षु संघ की स्थापना हुई।² संघ में मतांतर होने पर बैठक में सर्वसम्मति से अथवा बहुमत के आधार पर विषय को स्वीकार कर लिया जाता था।

इस प्रकार संघ के अपूर्व संघटन के द्वारा ही बौद्ध धर्म को भारत में प्रचारित होने में महत्वपूर्ण भूमिका रही।

प्रतीत्यसमुत्पादः

बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद है, बौद्ध धर्म के महाश्रमण गौतम बुद्ध इसे बहुत महत्वपूर्ण मानते थे, उनका कथन था जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को

देखता है जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है।³

प्रतीत्यवाद का सूत्ररूप प्रतीत्यसमुत्पाद (दुःख प्राप्ति) के 11 हेतु हैं -

1. अविद्या संस्कार का हेतु है।

2. संस्कार विज्ञान चेतना का हेतु है।

3. विज्ञान रूप का हेतु है।

4. रूप षडायतन का हेतु है, (पाँच इन्द्रिय तथा मन)

5. षडायतन स्पर्श का हेतु है।

6. स्पर्श वेदना का हेतु है।

7. वेदना तृष्णा का हेतु है।

8. तृष्णा उपादान का हेतु है।

9. उपादान भव का हेतु है।

10. भव जाति (जन्म) का हेतु है।

11. जाति (जन्म) जरा, मरण, वैमनस्य, पीड़ा दुःख का हेतु है।

इस प्रकार संपूर्ण दुःख का समुदय होता है यही प्रतीत्य समुत्पाद है, संपूर्ण दुःख के नाश हेतु बौद्ध धर्म में प्रतीत्य समुत्पाद जैसी ही एक क्रमिक निरोधात्मात्मक प्रक्रिया है।

1. अज्ञान तथा अशेष वैराग्य (सम्पूर्ण वैराग्य) के निरोध से संस्कार का निरोध होता है।

2. संस्कार के निरोध से विज्ञान (चेतना) का निरोध होता है।

3. चेतना के निरोध से नामरूप का निरोध होता है।

4. नामरूप के निरोध से षडायतन का निरोध होता है।

5. षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध होता है।

6. स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध होता है।

7. वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध होता है।

8. तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध होता है।

9. उपादान के निरोध से भव का निरोध होता है।

10. भव के निरोध से जाति (जन्म) का निरोध होता है।

11. जाति के निरोध से जरा, मरण, दुःख शोक, वैमनस्य, निराशा का निरोध होता है। इस प्रकार संपूर्ण दुःखों का निरोध होता है।

अनात्मकता और अनित्यता:

बौद्ध धर्म के महाश्रमण गौतम बुद्ध जगत के समस्त पदार्थों को तीन लक्षणों से युक्त मानते थे -

1. पदार्थ दुःखात्मक है।

2. पदार्थ अनित्य (नष्ट होने वाला है)

3. पदार्थ अनात्म रूप है।

पदार्थ दुःखात्मक है: संपूर्ण भव दुखरूप है।

पदार्थ अनित्य है : पदार्थ स्थिर नहीं है जिन्हें हम स्थिर समझते हैं वे अस्थिर हैं, परिवर्तनशील हैं, वे प्रत्येक समय परिवर्तन के साथ नष्ट हो रहे हैं, इसलिए वह अनित्य हैं और जो अनित्य हैं, वह दुःख है।

पदार्थ अनात्म रूप हैं: जो अनित्य हैं वह न हम हैं, न हमारा है और न हमारी आत्मा है, इसलिए रूप मात्र अनात्मा है, बौद्ध दर्शन में आत्मा की पृथक् सत्ता मान्य नहीं आत्मा को अव्याकृत - अनिर्वचनीय मानकर उसका प्रतिषेध किया है^५ मानव को भौतिक तथा मानसिक अवस्थाओं का समुदय स्वीकार किया गया है, उसे पाँच संकंधों रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का समुच्चय माना है।

चार स्मृति प्रस्थानः: बौद्ध धर्म के महाश्रमण गौतम बुद्ध ने ज्ञान की प्राप्ति के लिए दुःख से मुक्ति पाने के लिए चार स्मृति प्रस्थानों को बहुत महत्वपूर्ण बतलाया है, (1) काया (2) वेदना (3) चित्त (4) धर्म। इन स्मृति प्रस्थानों में भिक्षु, लोभ और दोर्मनस्य को हराकर तथा उद्योगशील अनुभव, ज्ञान और स्मृति से जुड़कर लोक में विहरता है^६, इनमें अनुभव करने पर बहुत जोर दिया गया है।

आत्मवादी अपने उत्तर में आत्म साक्षात्कार पर जोर देता है, ईश्वर वादी अपने उत्तर में ईश्वर के साक्षात्कार पर जोर देता है, उसी प्रकार अनीश्वरवादी अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में महाश्रमण ने अपने अंतर में कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना पर बल देता है, एवं अंतर में बहुत गहराई तक विस्तृत विश्लेषण के साथ अपने अंतर में साक्षात् अनुभव करता है।

काया में कायानुपश्यना:

अपने शरीर का यथार्थ जानकर उसका स्मरण करना यह नष्ट होने वाला है ऐसा जानकर इस शरीर से हितकारी साधना करता है।

वेदनानुपश्यना:

आनापान (श्वास प्रश्नास का नियंत्रण कर) भिक्षु वेदनानुपश्यी होकर वेदना को जानता है, विहरता है

ईर्यापथ

संप्रजन्य

प्रतिकूल मनस्कार

धातु मनस्कार

श्मशान

चित्तानुपश्यना:

भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहरता है, वह सराग चित्त को सराग चित्त है, ऐसा जानता है तथा विराग चित्त को विराग चित्त है ऐसा जानता है। सद्बोध चित्त को सद्बोध चित्त, बीत द्वेष चित्त को बीत द्वेष चित्त मोहचित्त को मोहचित्त बीत मोह चित्त को बीत मोहचित्त जानता है और वह चित्त में उत्पाद, धर्म, व्यय धर्म को चित्तानुपश्यी हो विहरता है।

धर्मानुपश्यना:

धर्मानुपश्यना में भिक्षु धर्मानुपश्यी होकर विहरता है, धर्मानुपश्यना के पाँच भेद होते हैं।

नीवरण

उपादान स्कन्ध

आयतन

बौद्ध्यग

चार आर्य सत्यः

आदि से अन्त तक मनुष्य के जीवन में दुःख ही दुःख हैं जिनका प्रतिपादन चार आर्य सत्यों में किया गया है।

दुःखः व्यक्ति के जीवन में दुःख ही दुःख है, क्षणिक सुखों को सुख मानना अदूरदर्शिता है।

दुःख समुदयः दुःख का मूल कारण तृष्णा, मोह तथा माया है, इसमें तृष्णा बहुत घातक है, वह व्यक्ति को स्वार्थी बनाती है।

दुःख निरोधः दुःखों से मुक्त होने के लिए उसके कारण का निवारण आवश्यक है, यदि तृष्णा को समाप्त कर दिया जाए तो निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

दुःख निरोध मार्गः दुःखों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है, व्यक्ति इस मार्ग का अनुसरण कर दुःखों पर विजय प्राप्त कर सकता है, इस मार्ग को दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा के नाम से जाना जाता है।

अष्टांगिक मार्गः

बौद्ध धर्म के महाश्रमण गौतम बुद्ध ने दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अथवा निर्वाण प्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का पालन आवश्यक बताया है, अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग होते हैं -

सम्यकदृष्टिः यथार्थ स्वरूप पर ध्यान देना सम्यकदृष्टि है।

सम्यक् संकल्पः कामना और हिंसा से मुक्त होकर दुःखों से मुक्ति हेतु पक्षका निश्चय करना।

सम्यक् वाक्: निन्दा, झूंठ एवं अप्रिय वचन न बोलकर सत्य, हितप्रिय वचन बोलना।

सम्यक् कर्मान्तः: सम्यक् कर्मान्त के अन्तर्गत सभी कर्मों में पवित्रता रखना दुराचरण से बचना, सत्कर्म करना।

सम्यक् आजीविका: व्यक्ति को आजीविका उपार्जन के लिए पवित्र रास्ता अपनाना चाहिए।

सम्यक् व्यायामः: व्यक्ति को सत्कर्मों के लिए निरंतर उद्यमशील रहना चाहिए।

सम्यक् स्मृतिः: दुर्गुण भावों से हमेशा दूर रहना, सांसारिक लालसाओं और मोह से बुद्धि को नहीं भटकने देना।

सम्यक् समाधिः: सम्यक् दृष्टि आदि सस विचारों से, क्रियाओं से व्यक्ति के जीवन में शुद्धता आने लगती है, वह बुरी चित्त प्रवृत्तियों से दूर हो जाता है तथा चित्त में एकाग्रता आ जाती है, यही एकाग्रता सम्यक् समाधि है, यही समाधि निर्वाण का कारण बनती है।

साहित्य :-

महात्मा गौतम बुद्ध का पारिनिर्वाण वैशाख सुदी पूर्णिमा को हुआ था, उनके परिनिर्वाणोपरांत श्रावण मास में राजगृही के वैभारगिरि पर सप्तपर्णी गुफा में लगभग 500 भिक्षुओं के सानिध्य में प्रथम संगीति हुई, जिसमें गौतम बुद्ध के उपदेशों का संग्रह प्रारंभ हुआ पश्चात् वर्ती द्वितीय संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के 100 वर्ष बाद वैशाली में हुई जिसे 'सप्त सतिका' भी कहा जाता है। तृतीय संगीति सप्ताष्ट अशोक के समय पाटलिपुत्र में योगगलिपुर्तात्सय की अध्यक्षता में हुई। लेकिन अशोक के शिलालेखों में इस प्रकार की संगीति का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इन संगीतियों में बुद्ध के उपदेशों की परिशुद्ध और सम्पादित कर तीन पिटकों में उल्लेखित किया गया इनको 'त्रिपिटक' नाम से जाना जाता है।

1. विनयपिटकः

विनयपिटक में आचार संबंधी नियम प्रतिपादित किये गए हैं, जिनका प्रत्येक बौद्ध भिक्षुओं (श्रमणों) को पालन करना आवश्यक है, विनय पिटक के तीन भाग हैं।

सुत्तविभंगः: सुत विभंग में उल्लिखित सुत विभंग, खंदक और परिवार विशुद्ध नियमों का पालन समस्त भिक्षुओं को अनिवार्य है, 227 ऐसे कार्य हैं जिनके होने पर अपराध माना जाता है और भिक्षु पतित हो जाता है, यदि किसी भिक्षु से अपराध हो गया तो उसे प्रायशिच्त करना होता था। माह में एक बार प्रत्येक पूर्णिमा को उन

अपराधों का पाठ भिक्षुओं के सम्मुख होता था।

खंदकः: खंदक के अंतर्गत दो ग्रंथ 'महावग्ग' और 'चुल्लुवग्ग' हैं इन ग्रंथों में व्यक्ति का भिक्षु संघ में प्रवेश से लेकर उसके विभिन्न व्रत, चातुर्मास करने की विधि तथा किन नियमों का पालन करें, भिक्षु कैसे कपड़े पहने शैया कैसी प्रयुक्त करे आदि नियमों का उल्लेख किया गया है।

परिवारः: विनय पिटक का संपूर्ण सार 'परिवार' में है प्रश्नोत्तर रूप से बौद्ध - भिक्खुओं के नियम एवं कर्तव्य दिए गए हैं।

2. सुत्तपिटकः:

सुत्तपिटक को बौद्धधर्म का इनसाइक्लोपीडिया भी कहा जाता है। सुत्त पिटक के अंतर्गत 5 निकाय हैं :

दीघ निकायः: दीघ निकाय में महात्मा बुद्ध के संवाद संकलित हैं, इसमें 34 दीर्घाकार सुत हैं, जिनमें यज्ञ, मनुष्य की जाति, उसके गुण, उसके कर्म, पुर्नजन्म, निर्वाण आदि विषयों का उल्लेख है।

मञ्ज्जिमनिकायः: मञ्ज्जिमनिकाय में 125 सुत हैं, यह सुत मध्यम आकार के हैं, इनका प्रतिपाद्य विषय दीघनिकाय का विषय ही है।

अंगुत्तर निकायः: अंगुत्तरनिकाय में 2300 सूतों को ग्यारह खण्डों में विभक्त किया गया है।

संयुत निकायः: संयुत निकाय में 56 सुत हैं जिन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है।

खुंदक निकायः: खुंदक निकाय के अंतर्गत 15 विशि पुस्तकें हैं, सभी पुस्तकें अपने आप में स्वतंत्र एवं पृथक ग्रंथों के समान हैं, बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध ग्रंथ 'धम्म पद' इन्हीं पुस्तकों के अंतर्गत है, जैसे हिन्दु धर्म में गीता का महत्व है, वैसे ही बौद्ध धर्म 'धम्म पद' का महत्व है, ऐतिहासिक दृष्टि से 'जातक' ग्रंथ विशेष रूप से उपयोगी है।

खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, भेरगाथा थेरगाथा, जातकनिदेश, पतिसंभिदामण्डा, अपदान, बुद्धवंश, चरियापिटक

3. अभिधम्मपिटकः:

इस पिटक में बौद्ध धर्म का दार्शनिक विवेचन और अध्यात्म चिंतन सम्मिलित है, इसके अंतर्गत सात ग्रंथ हैं - धम्म संगति, विभंग धातुकथा, पुलपंजति, कथावत्थु, यमक, पट्टान। अभिधम्मपिटक का प्रतिपाद्य लगभग सुत्तपिटक जैसा ही है। कथावत्थु सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसकी रचना अशोक काल में मोग्गलि पुत्तस्सि ने की थी।

मिलिन्दा - पन्हो: पालि भाषा में लिखा गया ई.पू. पहली दूसरी-सदी का ग्रन्थ है, जिसमें यवन बैक्ट्रियन सप्राट मिलिन्द और बौद्ध धर्म के आचार्य नागसेन के प्रश्नोत्तर संकलित हैं।

बौद्ध संघः

बौद्ध धर्म को परिमार्जित कर संघ को ऊर्जा प्रदान करने में बौद्ध धर्म के इतिहास में संगीति का बहुत महत्व है, बौद्ध संघ के इतिहास में तीन संगीति बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। प्रथमसंगीति थेरवाद के अनुसार 542 ई.पू. राजगृही में अजातशत्रु के काल में हुई, द्वितीय संगीति चौथी शताब्दी ईसापूर्व वैशाली में कालशोक के काल में तथा तृतीय संगीति अशोक के काल में लगभग 250 ई.पू. लगभग हुई।

प्रथम संगीति: गौतम बुद्ध के निर्वाण के कुछ काल उपरांत उनके प्रधान शिष्यों के समक्ष यह समस्या उठ खड़ी हुई कि बौद्ध धर्म का प्रवर्तन आगे किस प्रकार हो उसे कैसे जीवित रखा जाये? क्योंकि बुद्ध ने अपने उत्तराधिकारी की परंपरा प्रारंभ नहीं की थी, इस कारण यह चिंता हुई कि धर्म की व्याख्या भिक्षु अपने-अपने अनुकूल न करने लगे इस कारण धर्म और विनय के संगायन के लिए संगीति बुलाने का निश्चय हुआ फलस्वरूप राजगृह की वैभार गिरि पर बुद्ध के परिनिर्वाण के 4 माह पश्चात् 500 भिक्षुओं ने आनंद के नेतृत्व में सप्तर्णी गुफा में प्रथम संगीति की। कुछ विद्यान इसे संगीति में स्वीकार नहीं करते बल्कि ऐतिहासिक घटना मानते हैं, लेकिन शक्तिहिन ने तिब्बती सूत्रों में प्रथम संगीति का प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

प्रथम संगीति में धर्म और विनय तथा सुमंगल विलासिनी के अनुसार अभिधर्म का भी संगायन हुआ था वह स्वीकार करना संभव नहीं, लेकिन दीपवंश के अनुसार आनंद उपालि और कुछ अन्य शिष्यों ने इस संगीति को सम्पन्न किया और धर्म एवं विनय का संगायन किया। तथा बुद्ध के उपदेशों को दो पिटकों विनयपिटक और सुत्र पिटक में संकलित किया गया।

द्वितीय संगीति: यह संगीति वैशाली में साबकमीर (सर्वकामनी) की अध्यक्षता में चौथी शताब्दी ईसा पूर्व हुई थी। महात्मा गौतम बुद्ध ने जैन धर्म की तरह संघ संचालन हेतु भिक्षुओं को नियमावली में न रखकर तथा अपना परम्परागत उत्तराधिकारी नहीं बनाकर बौद्ध भिक्षुओं को स्वतंत्र कर दिया इस कारण भिक्षुओं की क्रियाएँ एवं आहार आदि में क्षेत्रगत भिन्नता होने लगी। बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग 100 वर्षों में इन मतभेदों ने विवाद का स्वरूप ले लिया। फलस्वरूप विवाद और मतभेदों को दूर करने के लिए रैवतथे की अध्यक्षता में 100 साधुओं की यह

संगीति बुलायी गयी जिसे सप्तषीतिका महासभा कहा गया। इस संगीति में मुख्यतः बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा निम्न बिन्दुओं पर विचार किया गया ।:-

- 1.सिंगिलोणकल्प (पशुओं के सींगों में नमक का संचय)
- 2.दुयंगुलकल्प (दोपहर के बाद दो अंगुल छाया आ जाने तक भोजन करना)
- 3.गामान्तर कल्प (भोजन के उपरान्त दूसरे गांव में भिक्षा हेतु जाना)
- 4.आवासकल्प (अनेक आवासों में रहकर उपासथ कर्म करना।)
- 5.अनुमतिकल्प - कर्म करने के पूर्व अथवा पश्चात् अनुमति लेना।
- 6.आचीर्णकल्प - मेरे आचार्य ने जैसा किया वैसा ही मुझे करना या नहीं
- 7.अमधित कल्प - दूध का पूर्ण रूप से दही बनने के पूर्व सेवन योग्य होना या नहीं
- 8.जलोशियान - सुरा अथवा ताड़ी जो मद्यरूप में नहीं बन सकी उसका सेवन योग्य है या नहीं
- 9.अदशक निसदन - बिना किनारी वाले आसन का उपयोग किया जा सकता है, या नहीं
- 10.जीतरूप रजतकल्प - सोना, चांदी को भिक्षा में लिया जा सकता है या नहीं

पुराने भिक्षु स्थविर/थेर तथा पश्चिमी प्रदेश के भिक्षु इन विचारों से संघ में निर्बधक थे, जबकि वैशाली और पाटलिपुत्र के भिक्षु इन विचारों में कोई दोष नहीं मानते थे। इस संगीति में उपर्युक्त 10 विवादग्रस्त विचारों को निषिद्ध कर दिया गया लेकिन इन विचारों के समर्थक संगीति के निर्णय से सहमत नहीं हुए। फलस्वरूप द्वितीय संगीति के निर्णय से बौद्ध संघ में प्रथम बार दो सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो गया, महासंघ और स्थिवरवादी सम्प्रदाय। कालांतर इन दो सम्प्रदायों से 18 बौद्ध सम्प्रदाय विकसित हो गए।

तृतीय संगीति: इस संगीति का आयोजन लगभग 250 ई.पू. पाटलिपुत्र में अशोक के शासन काल में की गयी थी। इस संगीति की अध्यक्षता कथवत्थु के रचयिता तिस्स ने की थी। इसी संगीति में अभिधम्पिटक की रचना हुई और बौद्ध भिक्षुओं को श्रीलंका आदि देशों में भेजा गया।

इतिहास का आश्चर्यजनक पहलु यह है कि अशोक के शासन काल में हुई इस संगीति का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में से किसी भी शिलालेख में उपलब्ध नहीं होता, जबकि अशोक ने शिलालेखों में अपने जीवन के राज्यकाल का विशेष विवरण अनिवार्य रूप से लिखवाया था।

महासंधिकर सम्प्रदायः

महासंधिकों ने महासंघ में प्रस्तुत 10 बातों का समर्थन कर प्राचीन परम्परा से कुछ अलग स्वीकार कर नवीन रूप में अपने आपको प्रस्तुत किया तथा गौतम बुद्ध को लोकनायक महापुरुष के रूप में अलग उनको लोकोत्तर सत्तावान छवि के रूप में प्रतिपादित किया।

कालान्तर में कनिष्ठ के समय महासंधिक में महायान और हीनयान सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो गया। महायानियों ने बुद्ध की लोकोत्तर छवि को ओर अधिक विकसित कर उन्हें अलौकिक देवता के रूप में प्रतिपादित कर उनकी मूर्ति बनाकर पूजा प्रारंभ कर दी तथा यह कहा जाने लगा कि प्रतिमा के दर्शन मात्र से या पूजा के लिए एक फूल चढ़ाने मात्र से अनन्त फल की प्राप्ति होती है।¹ महायान सम्प्रदाय के बौद्ध भिक्षु अन्य बौद्ध भिक्षुओं को हीन दृष्टि से देखते थे, इस कारण अन्य सम्प्रदाय के बौद्ध भिक्षु हीनयान कहलाने लगे।²

संदर्भ सूचीः

1. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 93–94
2. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 64
3. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 89
4. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 90
5. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 90–91
6. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 119–120
7. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 120
8. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 117

वैदिक संस्कृति

वेद का शाब्दिक अर्थ ज्ञान है, डॉ. जयदेव विद्यालंकार का मत है, वेद शब्द ज्ञान, त्रयी विधा व विद्या का बौधक है तात्पर्य है कि आरम्भ में श्रुति और वेद शब्द केवल मंत्र संहिताओं तक ही सीमित नहीं था, प्राचीन काल में वेद शब्द का तात्पर्य धनुर्वेद, पुराण वेद, इतिहास वेद। संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों (ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद) को वेद कहना इसी आशय का सूचक है। कालान्तर में वेद का बौध ग्रंथों में ऋग्वेद आदि ही गर्भित हो गया। वेद शब्द का उपयोग ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चार ग्रंथों के लिए हो गया। डॉ. विन्द्रनिंद्रिस वेद के बारे में लिखते हैं, अपनी प्राचीनता के कारण वेद भारतीय साहित्य में सर्वोपरि स्थित है जो वैदिक साहित्य से परिचित नहीं है वह भारतीयों के आध्यात्मिक जीवन और संस्कृति को नहीं समझ सकता।³ वेदों की प्राचीनता से ही वैदिक संस्कृति की प्राचीनता और उसके भौगोलिक क्षेत्रों का ज्ञान किया जा सकता है। मेक्सिमूलर ने वेदों के संकलन काल को 600 ई.पू. से 1200 ई.पू. माना है तथा बालगंगाधर तिलक ने 500 ई.पू. से 6000 ई.पू. तक माना है।⁴

बेवर ने वेदों के लेखन की भौगोलिक स्थिति का अनुमान करते हुए लिखा है ऋग्वेद संहिता से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय आर्य लोग काबुल से उत्तर पश्चिम पंजाब तक आ गये थे तथा धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ते हुए सरस्वती से गंगातट के प्रदेश तक आ गए। यह स्थिति बाद की ऋग्वेद से विदित होती है, ब्राह्मणकाल में उनकी स्थिति की प्रगति दक्षिण की ओर दिखाई पड़ती है।⁵

वेदों के लेखन काल एवं भौगोलिक स्थिति का बोध होता है, वेदों में कहीं 6 महीने का दिन और 6 महीने की रात का वर्णन मिलता है, जिसके आधार पर तिलक के अनुसार आर्य लोग इसा से आठ दस सहस्र पूर्व उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहते थे ऋग्वेद परिवर्तन के कारण उत्तरी ध्रुव से दक्षिण की ओर यूरोप एशिया और भारत वर्ष में आए।⁶

कुछ अन्य विद्यानों का मानना है कि ऋग्वेद में सप्त सिन्धव देश की महिमा कहीं गयी है यह देश सिन्धु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक था इन दोनों नदियाँ के बीच पूरा पंजाब और काश्मीर आ जाता है तथा कुम्भा नदी जो काबुल में है आर्यों के देश में गर्भित थी।⁷ यह सप्त सिन्धव देश ही आर्यों का आदि देश था। मनुस्मृति में सरस्वती और दृष्टदृती देव नदियाँ हैं, इनके बीच देव निर्मित ब्रह्मावर्त देश है।

सप्त सिन्धवः: सिन्धु नदी विपासा नदी (व्यास नदी) शतद्रु नदी (सतलज) वितस्ता नदी, (झेलम नदी) असिक्ती नदी (चिनाव नदी) पुरुष्णी नदी, (रावी नदी) सरस्वती नदी ऋग्वेद 10-75-5 में गंगा यमुना का भी नाम आया है, परंतु यह केवल नामोल्लेख मात्र है, इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि मंत्रकार को इनका पता था कि यह सप्त सिन्धव से बाहर है। वैदिककाल में सिन्धु और सरस्वती का महत्व था। उन्हीं के टटों पर आर्यों की बस्तियाँ थीं।

वेदः

वेदों के रचनाकाल (संकलन काल) तथा भौगोलिक स्थिति में मतान्तर होने पर भी अनेक समानताएँ दृष्टव्य होती हैं कि वेदों का संकलन काल 600 ई.पू. से पूर्व का है तथा वेदों की रचना सिन्धु सरस्वती नदी के मध्य तथा उत्तर की ओर उत्तरी ध्रुव के दक्षिण पश्चिम में आर्यों द्वारा की गयी। वेदों में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से चार प्रमुख काण्ड माने जाते हैं, ऋग्वेद में ज्ञान, यजुर्वेद में कर्म, सामवेद में उपासना, अथर्ववेद में विज्ञान काण्ड स्वीकार किए जाते हैं।

प्राचीनकाल से ही वेदों के दो व्याख्याकार महीधर और सायण माने जाते हैं। आधुनिक काल में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों की व्याख्या की है लेकिन दयानंद सरस्वती की वेद व्याख्या और सायण की वेद व्याख्या में बहुत अधिक भिन्नता है। आज की स्थिति में चार वेद स्वीकार किये जाते हैं, प्राचीन समय में वेदों को ऋयी कहा जाता था।

ऋग्वेदः

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ऋग्वेद की उत्पत्ति सुदीर्घ परम्पराओं के विकास का संकलन मानते हैं तथा ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ को भी ऐसी ही मान्यता का संकलन मानते हैं।⁹ ऋग्वेद में 1017 सूक्त हैं, 11 बालखिल्य को जोड़ने पर इनकी संख्या 1028 हो जाती है, प्रत्येक सूक्त एवं ऋचा के साथ उसके ऋषि और देवता का नाम दिया गया है, उस देवता की मंत्र में स्तुति की गयी है, अथवा उस देवता के लिये मंत्र प्रतिपादित किया गया है। ऋषि से तात्पर्य मंत्रदृष्टा से माना गया है।¹⁰ गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज वशिष्ठ और इनके वंशजों ने दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, मण्डल का दर्शन और निर्माण किया आठवें मण्डल का कण्व और अंगिरस तथा इनके वंशजों ने किया। प्रथम मण्डल और शेष 9 एवं 10 मण्डल अन्य ऋषियों द्वारा किये गये। इन ऋषियों में वेवस्वत मनु, शिवि, औशीनर, प्रतर्दन, मधुछन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।¹⁰

ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है तथा यह विभिन्न भावों में मिलता है, वेद भाष्यकार सायण ने ऋत का अर्थ उदक, यज्ञतंत्री आदित्य इत्यादि

किया है।¹¹ मेकेडॉनल ने अलग-अलग स्थानों पर एक ही शब्द के अलग अर्थ निकाले हैं, ऋत प्रकृति में व्यास शाश्वत नियम है, नैतिक क्षेत्र में सत्य एवं यथार्थ के रूप में व्यवस्था का निर्देश करता है, धार्मिक जगत में यह यज्ञ अथवा यागादि पद्धतियों का वाचक बन गया है।¹² डॉ. जयदेव विद्यालंकार के अनुसार वैदिक देवताओं में जो अलौकिक शक्तियों का वर्णन है, उसका महत्वपूर्ण कारण ऋत है, देवों में ऋत भरा रहता है, 'ऋत' शब्द ऋग्वेद का दिशा निर्धारक शब्द प्रतीत होता है, ऋत ऋग्वेद का मूलशब्द लगता है, ऋग्वेद के बारे में कहा गया है।

ऋतेन ऋतं धरूण धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।

दिवोर्धमन् धरूणे सेदुषो नृंजातै रजातां अभि ये ननक्षुः ॥¹³

परम व्योम, परम पद को प्राप्त करने का युगम परंतु सबसे कठिन पथ यज्ञ का पथ है यज्ञीय बनने का सामर्थ्य हमारे पास होना चाहिए।¹⁴ इस प्रकार अनेक स्थानों पर ऋत का अर्थ यज्ञ ग्रहण किया गया है, ऐसे ही ऋग्वेद में व्रत और धर्म शब्द हैं, व्रत शब्द 220 बार प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ सेंटपीट्सवर्ग कोष में संकल्प, आदेश, विधि, वशता, आज्ञा, परता, सेवा, धार्मिक कार्य, उपासना आदि है।¹⁵

ऐसे ही ऋग्वेद में अनेक मंत्रों के साथ धर्मन शब्द आया है, कहीं पुलिंग रूप में, कहीं नपुंसकलिंग में। धर्म को धारण करने के अर्थ में माना गया है, अतोधर्माणि धारयन मंत्र में धर्म का अर्थ धार्मिक कर्म या यज्ञ है। डॉ. जयदेव विद्यालंकार के अनुसार ऋग्वेद में व्रत और धर्म अनेक स्थानों पर एकार्थवाची से लगते हैं,¹⁶ स्वर्ग (द्यावा) एवं देवताओं का वर्णन विशेष है तथा उनके राजा इन्द्र को ही महिमा मण्डित किया गया है, ऋग्वेद में कुल सूक्तों के एक चौथाई भाग इन्द्रसूक्त हैं,¹⁷ अर्थात इन्द्र की महिमा से मण्डित हैं। निरूत में कहा गया है, जो कुछ भी शक्ति का कर्म है वह सभी इन्द्र का है।¹⁸ इन्द्र का बल देवता होने की कल्पना का समर्थन करती है, ऋग्वेद में इन्द्र का अपने आधिभौतिक पक्ष में युद्ध के नेता के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह परम पराक्रमी वीर सेनापति शत्रु संहारक, पुरंजय, धन एवं विजय को देने वाले देवता है।

'ऋग्वेद' में वैदिक संस्कृति इन्द्र की पुजारी याज्ञिक कर्मकाण्ड से युक्त, युद्ध निपुण, सर्वशक्तिमान तथा सबका मूल स्रोत ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाली संस्कृति है। ऋग्वैदिक समाज में पुत्रों का विशेष महत्व था। ऋषिगण नारी का वरण कर संतान उत्पन्न करना विशेषकर पुत्रोत्पन्न करने की अभिलाषा रखते थे। देवता नारी को पुत्रोवाली होने का आर्शीवाद देते थे¹⁹, यद्यपि ऋग्वैदिक समाज में कन्याओं को पूर्ण स्वतंत्रता थी तो भी स्त्री का महत्व मातृत्व प्राप्त करने में ही था इसीलिए विवाहित होना आवश्यक था। वह पति का स्वयंवरण भी कर सकती थी। वैदिक संस्कृति में पिता-माता, भाई-बहिन, परिवार आदि का वर्णन आता है तथा

उनके आदर्श संबंधों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वैदिक संस्कृति में वर्ण व्यवस्था ‘वर्ण’ रंग के आधार पर मान्य की गयी है, तत्कालीन समाज में दो ही वर्ण थे एक आर्य और दूसरा अनार्य (दास)। युद्ध, संघर्ष में दासों के हारने और आर्यों के जीतने का उल्लेख प्राप्त होता है²⁰।

ऋग्वेद में प्रथम सामाजिक संरचना में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उल्लेख प्राप्त होता है ‘शूद्र’ शब्द भारतीय संस्कृति में कृषि और शिल्पकारी करने वाले वर्ण के कारण संभवतः आर्यों ने अपनाया। पश्चात्वर्ती साहित्य में वर्ण व्यवस्था ईश्वर द्वारा प्रदत्त मानी जाने लगी²¹ दासों को देवताओं की सत्ता को स्वीकार न करने वाला अव्यवहारिक, अमधुर-भाषी, चपटी नाक वाले, यज्ञ न करने वाले, कहा गया है।

यजुर्वेदः

यजुर्वेद में मुख्य रूप से कर्मकाण्ड का वर्णन मिलता है, यजुर्वेद की व्याख्या करते हुए कहा गया है किंयुजुष् शब्द की निरूक्ति यास्क ने ‘यज्ञ’ धातु से बतलाई है – यजुर्यजते: तदनुसार इस संहिता का यज्ञ से पासका संबंध है, यजुर्वेद का अध्वर्युवेद भी कहा जाता है।

यजुर्वेद दो प्रधान रूपों में प्राप्त होता है, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं इसकी दो शाखाएँ उपलब्ध हैं – कण्व और माध्यान्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ हैं। काठक संहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी संहिता, तैत्तरीय संहिता। विविध ऋषिवंशों व सम्प्रदायों में श्रुति द्वारा चले आने के कारण मूल वेद मंत्रों में पाठ भेद का हो जाना असंभव नहीं। इस कारण यजुर्वेद की विभिन्न शाखाएँ बनीं।

यजुर्वेद

शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)

कण्व शाखा माध्यान्दिन शाखा कृष्ण यजुर्वेद
काठक संहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी
संहिता, तैत्तरीय संहिता

इनमें वाजसनेयी संहिता सबसे महत्त्वपूर्ण है, बहुत से विद्वान उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं²²।

वाजसनेयी संहिता (माध्यान्दिन शाखा):

वाजसनेयी संहिता में यजुर्वेद की विषय वस्तु निम्न प्रकार है, प्रथम दो अध्याय – दर्शपूर्ण मास इशियों के मंत्र, 3 अध्याय अग्नायधान के उपस्थान और

चातुर्मास्य से सम्बद्ध मंत्र, 4 से 8 अध्याय तक अग्निष्टोम के मंत्र, 9 एवं 10 अध्याय में वाजपेय और राजसूय यागों के मंत्र, 11 एवं 12 अध्यायों में उरवा सम्भारण और धारण के मंत्र, 13 से 18 अध्याय तक अग्नि चयन से संबंध मंत्र, 19 से 21 अध्यायों में सौत्रामणी संज्ञक के मंत्र इसमें सुरापान पिया जाता है, सोत्रामण्यां सुरां पिवेत्²³।

22 से 29 अध्याय तक अश्वमेध याग के विभिन्न कृत्यों के मंत्र 30 अध्याय में पुरुषमेध यज्ञ, 31 अध्याय में पुरुषसूक्त एवं आदित्योप स्थानमंत्र, 32–33 अध्याय में सर्वमोपरक मंत्र और पुरोरूक्ष, 34 अध्याय में उदात्त भावना से मुक्त शिवसंकल्प मंत्र 35 अध्याय में पितृमेध के मंत्र (पूर्वजों की वर्षी के मंत्र) 36 से 39 अध्याय में, प्रवग्यैषि (गर्म दूध और गर्म घी के मिश्रण) से संबंध मंत्र 40 वाँ एवं अंतिम अध्याय ईषोपनिषद् है, जिसका संबंध याज्ञिक क्रिया से न होकर अध्यात्म से है – कर्म करते हुए त्यागमय जीवन जीते हुए 100 वर्षों तक मनुष्य के जीवित रहने की कामना की गयी है।

कृष्ण यजुर्वेदः: इसमें काठक संहिता के मूल पुरुष कठ भारद्वाज ऋषि के शिष्य थे इसमें 5 खण्ड हैं, जिसमें 3091 मंत्र हैं, जिनमें पुरोडाश अध्वर अग्निहोत्र पशुबन्ध, वाजपेय, रासूय आदि का वर्णन है, कपिष्ठल संहिता के मूल वृत्तिकार वशिष्ठ गोत्रीय कापिष्ठल ऋषि के वंशज दुर्गचार्य हैं, मैत्रेयी संहिता प्रवृत्तक मैत्रेय ऋषि थे तथा तेत्रीय संहिता वैशम्पायन के शिष्यों के द्वारा तित्तिरक रूप से ग्रहण करने से शाखा में यजुर्वेद का प्रचलन हुआ।²⁴

यजुर्वेद के भाष्यकारः: उत्तर वाजसनेयी संहिता के प्रथम भाष्यकार (11 वीं सदी) थे महीधर (16 वीं सदी) ने उत्तर भाष्य को ही विस्तृत किया है, लेकिन महीधर पर कुछ विद्वान अश्लीलता का आरोप लगाते हैं इस संबंध में डॉ. जयदेव विद्यालंकार का कथन है, इनके भाष्य पर अश्लीलता का दोषारोपण विद्वानों ने बहुत किया है, किन्तु वास्तव में ये उस संदर्भ में दोषी नहीं हैं, अश्वमेध-प्रकरणगत अश्लीलता ब्राह्मणों तथा सूत्रों में भी विद्यमान है, महींधर ने केवल व्याख्या में उसका संदर्भ भर दिया है यज्ञानुष्ठानों से ये सुपरिचित थे²⁵।

अतः शुक्ल यजुर्वेद के प्राचीन भाष्यकारः, हलायुध, सायण, भट्ट भास्कर मिश्र हैं, सायण ने सम्पूर्ण काव्य संहिता पर भाष्य किया है।

यजुर्वेद में यज्ञ को मुख्यतः पाँच भागों में विभाजित किया गया है, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बालवैश्व देवयज्ञ, अतिथियज्ञ।

सामवेदः

सामवेद के दो भाग हैं पूर्वार्चिक और उत्तार्चिक तथा इसकी तीन शाखाएँ हैं जहाँ से यह ग्रंथ प्राप्त होता है।

सामवेद में मूलसूत्र 75 हैं लेकिन इस ग्रंथ में ऋग्वेद से 1474 सूत्र लिये

गये हैं तथा 261 ऐसे सूत्र हैं जिन्हें ग्रंथ में दो बार लिखा गया है, इस प्रकार सामवेद में 1810 कुल सूत्र हैं। सम्भवतः सामवेद में ऐसी ऋचाओं का प्रथक रूप से संग्रह किया गया है, जिन्हें गीत के रूप में गाया जा सकता है, सामवेद में ऋचाएँ वैदिक ऋषियों द्वारा संगीत के लिए भी प्रयुक्त होती थीं। सामान्यतया पाश्चात्य एवं आधुनिक विद्वान् सोमपान का अर्थ पेय पदार्थ से करते हैं, जो मादकता उत्पन्न करता है, लेकिन ‘सोम’ शब्द अनेकार्थावाची है। सोमपायी व्यक्ति में अत्यधिक बल का संचार होता है, वह सदा आनन्दित रहता है तथा वह कदापि विचलित नहीं होता इन अर्थों के साथ-साथ कुछ विद्वान् सोम का अर्थ मद्य भी करते हैं,²⁶ सामवेद में सोम का अर्थ ग्रंथ में उल्लिखित मंत्रों के अनुसार अलग-अलग घटित होता है, पावामान काण्ठ में तो सोमपान को अधिक महिमा मण्डित कर प्रस्तुत किया गया है – सोमपान करने वाले व्यक्ति को प्रभु का साक्षात्कार होता है,²⁷ वर्हीं एक स्थान पर कहा गया है सोम के द्वारा मैं दक्षता आदि सात रक्तों से अपने जीवन को सुशोभित करने वाला बनूँ।²⁸

सोमरस को बनाने के लिए सोमलता को पानी में धोकर पत्थरों पर पीसा जाता था, पीसने पर सोमरस नीचे बिछे चमड़े के वस्त्र पर इकट्ठा हो जाता था, इस सोमरस को छानकर घड़ों में भर लेते थे, पश्चात् इसका पान करते थे।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रंथों में तो सोम रस को बहुत अधिक महिमा मण्डित किया गया है – एतरीय ब्राह्मण में कहा गया है – देवताओं में प्रतिस्पर्धा होती थी, प्रथम अनेवाले को सोमरस पीने का प्रथम अधिकार मिलता था।²⁹ इस ग्रंथ में कहा गया है इन्द्र ने तो सोमरस की चोरी कर ली थी,³⁰ सोमपान मात्र ब्राह्मणों के लिए उपलब्ध था, अन्य वर्ग के लोगों को सोमपान ग्रहण करने का अधिकार ही नहीं था, क्षत्रिय, सोमरस के स्थान पर, पीपल, बरगद, गूलर तथा पलाश के फल एवं अन्य रस पीते थे,³¹ आज पीपल, बरगद, गूलर, पलाश आदि की तरह सोम वनस्पति की पहचान दुर्लभ हो रही है।

अथर्ववेदः

अथर्ववेद में 20 काण्ड और 732 सूक्त हैं सूक्तों के मंत्रों की संख्या 6000 के लगभग है, इसमें बहुत से मंत्र ऋग्वेद के संकलित कर लिए गए हैं, अथर्ववेद में पिप्लाद और शौनक दो शाखाएँ प्राप्त होती हैं, इन दोनों शाखाओं का आपस में पाठान्तर है, इसलिए शौनक शाखा को ही प्रमाणित माना है, शौनक शाखा का अथर्ववेद प्रमाणित ग्रंथ स्वीकार किया गया है।³²

पश्चात्य विद्वान् तथा कुछ भारतीय मनीषी अथर्ववेद को कुछ परवर्ती मानते हैं, उसके मंत्रों की रचना संहिताकरण, नामकरण सबकुछ बहुत अर्वाचीन है, ब्लूम फील्ड आदि विद्वानों ने तो यहाँ तक सन्देह प्रगट किया है कि अथर्ववेद को

वेद की मान्यता दिलाने के लिए एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा।³³

ब्लूमफील्ड की मान्यता है कि पूर्व ‘वेदत्रयी’ नाम ही बहुत काल तक प्रचलित रहा अथर्ववेद की भाषा बहुत अर्वाचीन है, ऋग्वेद और यजुर्वेद में अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है, अन्यवेदों की विषयवस्तु से अथर्ववेद की विषयवस्तु बहुत अलग है। परंतु चतुर्वेद समर्थकों का मानना है, वेदत्रयी के अंतर्गत अथर्ववेद का भी समावेश हो जाता है। अथर्ववेद में तीन वर्णों के स्थान पर चार वर्णों ने स्थान ले लिया अथवा वेद में वर्णों को ईश्वरकृत मानकर विराट पुरुष का मुख ब्राह्मण, बाहुओं क्षत्रिय, मध्यभाग वैश्य और शूद्र को पैर माना गया है। अथर्ववेद में आर्य और दास का भेद स्पष्टः हो गया, इन्द्र चूंकि आर्यों में इष्ट और सहयोगी थे इसलिए उन्होंने दासों को नष्ट कर दिया तथा दस्युयों (दासों)को नष्ट करके आर्यों की रक्षा की।

‘जय’ महाकाव्य से ‘महाभारत’ महाकाव्य तकः

वैदिक संस्कृत में महाभारत के संदर्भ में प्रारंभिक संदर्भ शतपथ ब्राह्मण में पाये गए हैं, उनमें रामकृष्ण की कहानियाँ थी, कुछ विद्वानों का मत है कि सदियों से प्रचलित मौखिक कहानियों को संस्कृत भाषा के महाकाव्य रामायण और महाभारत में लिपिबद्ध किया गया।

महाभारत के आदिपर्व में वर्णन आया है कि व्यास ने 8800 श्लोक में ‘जय’ महाकाव्य रचा गया³⁴ जिसे व्यास के शिष्य वैष्णव्यायन ने जनमेजय के सर्पयज्ञ समारोह में सुनाया तब इस महाकाव्य को ‘भारत’ नाम से स्वीकार किया गया। इस महाकाव्य में श्लोक प्रमाण 24000 रहें³⁵ पश्चात् उग्रश्रवा सोती ने 96244 श्लोक प्रमाण कर महाभारत नाम स्वीकार कर दिया।

पाँचवीं शताब्दी के शरबद्ध के तांबे के पत्र पर महाभारत के एक लाख श्लोकों का कथन प्राप्त हुआ है तथा संस्कृत की प्राचीनतम लिपि में महाभारत के 100 पर्वों का नहीं बल्कि 18 पर्वों का उल्लेख प्राप्त होता है। पाणिनी की अष्टाध्यायी (लगभग 500 ई.पू.) में भारत और ‘महाभारत’ दोनों शब्द मिलते हैं जिससे अनुमान लगाया जा सकता है, वैश्णव्यायन की भारत तथा महाभारत कथा पाणिनी के काल के पूर्व प्रचलित होना चाहिए।³⁶

आश्वालयन के श्रोत गृह्यसूत्र में भारत तथा महाभारत दोनों का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध विद्वान् बल्देव उपाध्याय महाभारत की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए इसको एक अलग दृष्टि से देखते हैं – आज कल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं, इसलिए इसे शतसहस्री संहिता कहते हैं, इसका यह स्वरूप कम से कम 1500 वर्ष से अवश्य है, क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में ‘शतसहस्री ‘संहिता’ का उल्लेख हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक

शताब्दियों में विकसित हुआ। बहुत प्राचीनकाल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे, जिनमें कौरवों और पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अर्थर्ववेद में परीक्षत का आख्यान उपलब्ध होता है, अन्य वैदिक ग्रंथों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरुषों की गाथाएँ उल्लिखित मिलती हैं, इन्होंने सब गाथाओं और आख्याओं को एकत्र कर महर्षि वेद व्यास ने जिस काव्य का रूप दिया वही आज कल का सुप्रसिद्ध ग्रंथ महाभारत है।³⁷

ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत के मूलग्रंथ में अनेक वीर गाथाओं आख्यानों, धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों और उपदेशों को सम्मिलित कर लिया गया है, समय-समय पर उसमें अनेक प्रक्षेप जोड़ दिए गये। महाभारत के कुछ भागों में भारत में रहने वाली विदेशी जातियाँ युनानी शक पल्लव आदि का उल्लेख हैं ये जातियाँ भारत में ईसवी पूर्व पहली और दूसरी शताब्दी में आई।

महाभारत ग्रंथ के लेखन के काल में विद्वान एकमत नहीं हो सके - बी.एल. लुनिया अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय संस्कृति' में लिखते हैं - मैकडानल ने महाभारत का रचना काल 500 ई.पू. और विन्टरनीटज ने 400 ई.पू. माना है, आर.जी. भण्डारकर का मत है कि ई.पू. 500 तक 'महाभारत' एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रंथ बन चुका था।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में पतंजलिकृत महाभाष्य ग्रंथ के समय से महाभारत का वर्तमान रूप सर्वविदित था। तथा महाभारत में विष्णु और शैवमतों का विशद् विवरण है। ये मत ईसा के बाद की प्रारंभिक सदियों में प्रचलित थे तथा गुप्तकाल में यह अपने शिखर पर थे।

डॉ. राधा मुकुन्द मुकर्जी का मत है महाभारत का यह परिवर्धित रूप ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी तक पूर्ण हो चुका था। कुछ अन्य विद्वान 'महाभारत' ईसा पूर्व 300 से ईसा पूर्व 100 के युग को मानते हैं।³⁸ बोधायन के गृह्यसूत्र में विष्णु सहस्रनाम का स्पष्ट उल्लेख है तथा भगवत् गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है, बोधायन की काल स्थिति 400 ई.पू. की मानी जाती है।

पल्लव, शक, युनानी आदि जातियों के उल्लेख होने से महाभारत और अर्वाचीन अथवा परिवर्द्धित ग्रंथ के रूप में आ जाता है क्योंकि इतिहास में इन जातियों का भारत में उदयकाल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग माना जाता है। महाभारत के कथानक में पारीक्षत का उल्लेख है, यदि पौराणिक मान्यताओं को देखें तो अर्जुन के पौत्रे पारीक्षत और महानन्द का काल 382 ई.पू. ठहरता है।³⁹ जबकि महाभारत ग्रन्थ के रचयिता माने जाने वाले व्यास भीष्म पितामह के सहोदर भ्राता माने जाते हैं, जिनका जन्म कौरव-पाण्डव युद्ध होने के बहुत पहले हो गया था। भीष्म इस युद्ध में सबसे वरिष्ठ यौद्धा थे। कौरव पाण्डव युद्ध का काल 11 वीं शताब्दी ईसा

पूर्व से 14 वीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, महाभारत में व्यास उनके सहोदर भीष्म तथा पाण्डु धृतराष्ट्र, विद्वान की अगली पीढ़ी के युधिष्ठिर आदि पाण्डुपत्र तथा द्रोण आदि कौरव, अर्जुन की वंश परम्परा में अभिमन्यु, पारीक्षत, जनमेजय आदि का विस्तार से वर्णन है। यह बहुत आश्चर्य जनक प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति अपने पश्चात्वर्ती छः पीढ़ियों का विस्तार से वर्णन कर सकने की सामर्थ्य रखता हो। वेदव्यास की माता सत्यवती और पिता ऋषि पारासर के कथानक के वर्णन को जोड़ दें तो महाभारत ग्रन्थ में सात पीढ़ियों का वर्णन प्राप्त होता है। कम्बोडिया के पाँचवी, छठवी शताब्दी के शिलालेखों में महाभारत का उल्लेख धार्मिक ग्रंथ के रूप में मिलता है।

डॉ. रत्नचंद्र ने महाभारत ई.पू. 500 से 100 ई.पू. की रचना स्वीकार की है⁴⁰। विस्तृत अध्ययन के पश्चात् प्रसिद्ध वैदिक विद्वान डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार अपनी पुस्तक प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन में स्पष्ट रूप से लिखते हैं महाभारत जिस रूप में आज कल उपलब्ध है, उसका निर्माण शुंगकाल में ही हुआ था।⁴¹ इतिहासकार शुंगकाल को ई.पू. 184 से 148 ई.पू. तक मानते हैं।

वैदिक संस्कृत में व्यास को 19 वा अवतार तथा बुद्ध को 23 वाँ अवतार माना गया है, इस प्रकार व्यास का जन्म बुद्ध से बहुत पहले माना जाता है, इससे लगता है निश्चित रूप से व्यास ने अपने जय महाकाव्य की रचना बहुत पहले की होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है। परंतु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यह मानना न्याय संगत है।⁴²

महाभारत और रामायण जैसे ग्रन्थों की रचना से श्रीकृष्ण और श्री राम जैसे महापुरुषों ने अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। इससे वेदों में वर्णित यज्ञ अतीत में बहुत पीछे छूटते चले गए तथा इसी प्रकार वेदों में वर्णित देवी-देवताओं का स्वरूप, प्रतिष्ठा यज्ञों की तरह ही नाम मात्र के रूप में दृष्टव्य होने लगे। धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति के महापुरुष भागवत धर्म के श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा का विरोध कर स्वयं को इन्द्र से श्रेष्ठ स्वीकार करने का कार्य किया।

वैदिक और आगमिक तत्त्वों के बीच संघर्ष कदाचित वेदों के समय भी चलते रहे हैं क्योंकि आगम हिंसा के विरुद्ध थे इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्मों का मूल, आगमों में अधिक वेदान्त में कम मानना चाहिए हाँ जब 'गीता' की रचना की गयी। तब उसका रूप भागवत आगम सम्मत हो गया।

ब्राह्मणग्रंथ:

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन आर्यों के धर्म में यज्ञों की प्रधानता थी, यज्ञ के विधि विधानों व अनुष्ठानों को वे बहुत महत्व देते थे, इसीलिए याज्ञिक अनुष्ठानों

के प्रतिपादन में उनमें वैदिक मंत्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की थी।⁴³

ऐतरेय ब्राह्मण: यह ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण ग्रंथ है, इसमें 40 अध्याय हैं एक लंबे याज्ञिक अनुष्ठानों के फलस्वरूप ग्रंथ रूप में संकलित किया गया। ग्रंथ के बारे में प्रमुख वैदिक विद्वान् डॉ. जयदेव विद्यालंकार का मत है अनुश्रुति के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ के रचयिता ऐतरेय महीदास थे पर सम्भवतः ऐतरेय महीदास इस ग्रंथ के रचयिता न होकर संकलन कर्ता मात्र थे क्योंकि ऋग्वेद के समान इस ब्राह्मण ग्रंथ का निर्माण भी एक सुदीर्घ युग में याज्ञिक अनुष्ठानों के विकास के साथ-साथ हुआ था।⁴⁴ ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ में सात होते हैं ऋत्विज के कार्यों का वर्णन, 12 योगों तथा कई दिनों चलने वाले सोमयाग का, राजसूययज्ञ आदि का वर्णन प्राप्त होता है, ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रंथ कौषीतकी या सांख्यान ब्राह्मण भी उल्लिखित होता है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ

तैत्तिरीय ब्राह्मण: कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है इसमें मंत्रों के साथ-साथ विधि विधान व याज्ञिक अनुष्ठान के साथ संबंध रखने वाले ब्राह्मण भाग भी दे दिया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के द्वारा यह ग्रंथ संकलित है, इसीलिए इसका नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रचलित हो गया है। इस ग्रंथ के प्रथम काण्ड में अग्नाध्यान, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, सोमयाग, द्वितीयकाण्ड में अग्निहोत्र, सोत्रामणि, ब्रह्मस्पति आदि तृतीय काण्ड में पुरुष मेध, नक्षत्रेष्टि का एवं पुरुष मेध यज्ञ का वर्णन।⁴⁵

शतपथब्राह्मण: शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रंथ है, शतपथ ब्राह्मण का दूसरा नाम 'बाजसनेय ब्राह्मण' भी है, इस ग्रंथ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय अग्निहोत्र, पिण्ड पितृयज्ञ, आग्रायण, सोमयाग एवं राजसूय है तथा दर्शपूर्ण मास, पंच महायज्ञ तथा पशुबन्ध के अपशिष्ट विधान, अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदि का वर्णन है। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार का मानना है सम्भवतः यह विशाल ग्रंथ किसी एक ऋषि की रचना न होकर अनेक ऋषियों की कृति है,⁴⁶ जबकि अन्य विद्वान् इसे याज्ञवल्क्य ऋषि की रचना मानते हैं।

सामवेदके ब्राह्मण ग्रंथः

ताण्डय महाब्राह्मण: इस ग्रंथ में 25 अध्याय हैं, इस ग्रंथ का पतिपाद्य विषय त्रिवृत्, सप्तदश आदिस्तोम, ज्योष्ट्रिम, रात्रिकालीन पूजा द्वादश याग, साम, त्रयोदशाह यज्ञ से लेकर सहस्र संवत्सर सत्र है।

षड्विंश ब्राह्मण: 5/6 अध्यायों में अहीन सोमयज्ञ, ब्रात्य सोमयज्ञ तथा

अश्वतरी के ग्रंथ होने तथा हथिनीके ढूबने आदि का विवेचन है।

जैमिनीय ब्राह्मणः इस ग्रंथ के तीन भाग हैं इस ग्रंथ में गवामयन सत्र, एकह, दशाह आदि यज्ञों का विवेचन किया गया है, इन ब्राह्मण ग्रंथों के अतिरिक्त सामविधान, आर्षेय, देवता ध्यान, उपनिषद ब्राह्मण, संहितोपनिषद ब्राह्मण भी उल्लेख में आते हैं।

अर्थर्ववेदीय ब्राह्मणः

गोपथ ब्राह्मणः इस ग्रंथ में 5/6 अध्याय हैं, इस ब्राह्मण ग्रंथ में ऊँ तथा तीनों वेदों की उत्पत्ति बताई गयी है, गायत्री का महत्व प्रतिपादित किया गया है, ऋत्विज के कार्य उसकी दीक्षा संवत्सर, नरमेध, अश्वमेध, अग्निष्ठोम आदि यज्ञों का वर्णन है मनुष्य के तीन ऋण होते हैं, जो विवाह करके संतानोत्पत्ति करके पूर्ण करता है, आदि इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अनेक विद्वानों का ऐसा मानना है कि यह बहुत प्राचीन ग्रंथ नहीं है, इसमें उस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों का वर्णन नहीं है जैसे कि अन्य ब्राह्मण ग्रंथों में पाया जाता है।⁴⁷

आरण्यकः

प्राचीन काल में यज्ञादि अनुष्ठानों के कर्मकाण्डों से दूर अद्भुत, अनुपम चिंतन की विचारधारा प्रचलित हुई जो कर्मकाण्ड से दूर ले जाकर व्यक्ति को शान्ति के पथ का दर्शन कराती है। प्राचीनकाल में ऋषि व विचारक जंगलों में निवास करते थे तथा चिंतन किया करते थे, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार प्राप्त हुई? सृष्टि का कर्ता कौन है? जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन प्रकृति की सत्ता है, उसका क्या स्वरूप है? आत्मा क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर उहें अगम्य मार्ग पर ले गया और चिंतन प्रस्फुटित हुआ। आत्मा क्या है इस प्रकार के विषयों पर चिंतन कर जो लिपिबद्ध किया गया वह आरण्यक तथा उपनिषद है ऐसा माना जाता है कि अरण्य में जिन उपनिषदों का विकास हुआ वे उपनिषद वैदिक साहित्य के महत्वपूर्ण अंग बने। इनकी संख्या 200 से भी अधिक है, इससे स्पष्ट है कि याज्ञिक कर्मकाण्ड से दूर जंगल निवासी ऋषियों ने बहुत लंबे समय तक शांति की खोज की।

उपनिषदः

उपनिषद का तात्पर्य शिष्य का समीप बैठकर शिक्षा ग्रहण से भी माना जाता है, संभवतः इस कारण इसका नाम उपनिषद रूढ़ हो गया। विशेष ख्याति प्राप्त उपनिषद, ऐतरेय उपनिषद, ईषोपनिषद, ब्रह्मदारण्यकोपनिषद, कठोपनिषद तैत्तिरीय उपनिषद, छांदोग्य उपनिषद, मुण्डक उपनिषद, माण्डुक उपनिषद आदि हैं।

उपनिषदों का वर्ण्य विषयः

कठोपनिषद में एक स्थान पर कहा गया है वह आत्म तत्त्व अर्थात् अग्राह्य और निर्विकार है,⁴⁸ माण्डूक्योपनिषद के अनुसार वह न अंतः प्रज्ञ है, न ब्रह्म प्रज्ञ है,

न उभयात्मक है, न प्रज्ञान धन है, न प्रज्ञ है, न अज्ञ है, न अदर्श, अव्यवहार्य अग्राह्य अलक्षण अचिंत्य, एकात्म पल्यसार प्रपंचोपशम, शान्त शिव और अद्वेत रूप है।⁴⁹ मुण्डकोपनिषद के अनुसार उसे स्वरूपेण, निष्कल, निष्क्रिय, प्रशान्त निरवयव और निरंजन कहा गया है।⁵⁰ ईसापनिषद में जो कुछ भी यह स्थावर जंगम है वह सब उसके द्वारा आच्छादित है।

मुण्डकोपनिषद में आत्मा को नित्य, विभु सर्वगत, सूमुक्ष्म तथा भूतयोनि कहा गया है तथा ब्रह्मदारण्योपनिषद में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन कर्त्तवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है।⁵¹ जीव के पुण्य पापादि कर्मों के परिणाम उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करते वह सर्वरूपेण, आत्मकाम निखिलेष विधाता है, जीवात्मा को उनके धर्माधर्मानुसार फल देता है।⁵²

छान्दोग्य उपनिषद के अध्याय 8 में आत्मा का कथन इस प्रकार किया गया है एक बार प्रजापति ने जो आत्मा पापशून्य जरारहित मृत्यु, शोक, क्षुधा, प्यास रहित सत्य, काम और सत्य संकल्प है उसे खोजना चाहिए और उसे विशेष रूप से जानना चाहिए जो आत्मा को जान लेता है वह संपूर्ण लोक और संपूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता से आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने वाले ये विद्वान सहमत नहीं थे, वे अनुभव करते थे कि यज्ञों द्वारा मनुष्य यथेष्ट फल की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिए उनका कथन था कि यज्ञ रूपी नौकाएँ अदृश्य हैं, संसार सागर से तरने के लिए इन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यज्ञ के स्थान पर इन विचारकों ने तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया। वे कहते थे मानव जीवन की उन्नति और परम पद की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों का वश में रखे वाणी और मन पर नियंत्रण रखे तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करे। दृढ़ संकल्प से आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे और ईश्वर में ध्यान लगाए। शरीर से भिन्न जो आत्मा है जिसके कारण शरीर को शक्ति प्राप्त होती है उसको और उस पर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। तप के अभाव में प्रमादी मनुष्य इसे कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते।⁵³

उत्तर वैदिक काल:

ऋग्वेद के बाद हिन्दू धर्म ग्रंथों, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद के रचनाकाल को उत्तर वैदिक काल के नाम से जाना जाता है, साधारणतः उत्तर वैदिक काल का समय 100 ई.पू. से 200 ई. तक माना जाता है। ब्राह्मण ग्रंथ आरण्यक उपनिषदों के निर्माण के काल में वैदिक साहित्य से सम्बद्ध होते हुए भी वैदिक साहित्य से भिन्न साहित्य का निर्माण हुआ, इस निर्माणकाल को ही उत्तर वैदिक काल के नाम से विद्वानों ने स्वीकार किया। इस उत्तर वैदिक युग में वेदांगों, उपवेदों,

इतिहास पुराण ग्रंथ, नीति ग्रंथ, दर्शन ग्रंथों जैसे साहित्य का सृजन प्रारंभ हुआ।

वेदांग – वेदांग के छह भेद हैं शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष और काल।

उपवेद – उपवेद के चार भेद हैं, आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पवेद, गन्धर्ववेद।

इतिहास – इतिहास में पुराण रामायण, महाभारत जैसे ग्रंथ उल्लेखित हैं।

दर्शन ग्रंथ: प्राचीन आर्यों, आचार्यों, ऋषियों की मान्यताएँ दर्शन ग्रंथ के अंतर्गत आती हैं। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार दर्शन के बारे में लिखते हैं प्राचीन भारत के धार्मिक जीवन के उन तत्त्वचिन्तकों के विचारों ने बहुत प्रभावित किया जोकि प्रकृति, जीव और परमेश्वर सदृश गूढ़ तत्त्वों के प्रतिपादन तथा सत्य-असत्य के निर्णय के लिये किन्हीं विश्वसनीय कसौटियों व प्रमाणों के निरूपण में तत्पर थे, तत्त्व चिन्तकों के ये मन्त्रव्य ही दर्शन कहे जाते हैं। दर्शन के मूलतः दो भेद हो जाते हैं, आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन।

दर्शन

आस्तिक दर्शन

न्याय, वैशेषिक, सांख्य,
योग, मीमांसा और वेदांत दर्शन

नास्तिक दर्शन

जैन, बौद्ध और चार्चाका

आस्तिक दर्शन:

वैदिक संस्कृति में आस्तिक दर्शन की ही मान्यता है भारत में प्रचलित दर्शन परम्परा में आस्तिक दर्शन उसे माना गया है जिसमें वेद आधारित दर्शन की न्यूनाधिक रूप से सहमति है, इस आस्तिक दर्शन का षड्दर्शन की मान्यता के आधार पर उल्लेख किया जाता है। भारत में प्राचीन संस्कृति के प्रभाव के कारण ऋषियों के प्राचीन वैदिक संस्कृति से सम्मति, असम्मति अर्द्धसम्मति के आग्रह के कारण ही सम्भवतः वैदिक संस्कृति के पश्चात्वर्ती काल में षट्दर्शन का उदय हुआ।

1. न्यायदर्शन: न्यायसूत्र नामक ग्रंथ में गौतम ऋषि ने न्याय दर्शन का प्रतिपादन किया है, उन्होंने अपने दर्शन के लिए चार आधारभूत तथ्यों को मान्य किया है।

प्रत्यक्ष: जो ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष अथवा साक्षात् जाना जा सके, वह प्रत्यक्ष है, जैसे आंख से देखना, कान से सुनना आदि।

अनुमान: किसी हेतु से वस्तु को जानना अनुमान है, जैसे दूर से धुंआ को देखकर आग का अनुमान लगा लेना।

उपमान: किसी जानी पहचानी वस्तु से अनजानी वस्तु के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेना। जैसे गाय के आकार आदि का ज्ञान होने पर जंगल में चबर गाय को जान लेना।

शब्द: जब कोई वस्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान से नहीं जान सकते तो उसे शब्दों से जान सकते हैं, जैसे - चन्द्रगुप्त मौर्य का जैनमुनि भद्रबाहु से प्रभावित होकर उनका शिष्य बन जाना।

2. वैशेषिक दर्शन: वैशेषिक दर्शन के प्रतिपादक कणाद ऋषि थे इन्होंने ज्ञान के चार आधार बताए हैं।

प्रत्यक्ष: इन्द्रियाँ, मन और आत्मा से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

अनुमान: अनुमान, उपमान, शब्द और एतिहय (अनुश्रुति) से जो ज्ञान होता है वह लैंगिक ज्ञान है।

उपमान: संज्ञा- संज्ञी ज्ञान को उपमान कहते हैं।

शब्द : वेद को प्रमाण माना जाता है।

आर्धज्ञान: पूर्व में ऋषियों द्वारा जाना गया ज्ञान आर्धज्ञान है। वैशेषिक दर्शन में संसार के सभी पदार्थों को सात भागों में विभाजित किया जा सकता है, द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय, अभाव। इसमें द्रव्य के नौ भेद किये गये हैं पञ्चमहाभूत तत्त्व (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आकाश) तथा काल, दिक्, आत्मा और मन। आत्मा और मन का संबंध भौतिक पदार्थों से नहीं माना गया है। काल और दिक् में विश्व की संपूर्ण सत्ता समाहित है।

3. सांख्य दर्शन: कपिल मुनि सांख्य दर्शन के प्रतिपादक हैं उन्होंने सांख्य सूत्रों की रचना की थी, सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप केवल चेतन और सदा प्रकाश स्वरूप है। सुख अथवा दुःख, काम, क्रोध लोभ मोह आदि का संबंध प्रकृति से है, प्रकृति के संयोग से ही पुरुष सुख, दुःख का अनुभव करता है, अहंकार ममकार करता है। सांख्य दर्शन सृष्टि के निर्माण में ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता यही कारण है कि उसके मूल तत्त्वों में ईश्वर को नहीं गिना गया है, सांख्य दर्शन में संसार का कारण प्रकृति है, प्रकृति अनादि और नित्य है, इसका मुख्य सिद्धांत सत्कार्यवाद है, सत्कार्यवाद के अनुसार सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्येक सत्ता कारण रूप से अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है तथा किसी विद्यमान सत्ता का भी कभी विनाश नहीं होता, वह अपने कारण में लय हो जाती है। जैसे घट और मृतिका घट टूटने पर मृतका रूप हो जाती है।

4. योग दर्शन: वैदिक संस्कृति के अनुसार योग दर्शन के प्रतिपादक महर्षि पतंजलि थे इन्होंने योग सूत्र में योग दर्शन का प्रतिपादन किया है, योग दर्शन और सांख्य दर्शन में बहुत कम भेद है, दोनों के सिद्धांत लगभग एक जैसे हैं। सांख्य

के समान योग दर्शन भी प्रकृति से संसार की उत्पत्ति स्वीकार करता है, लेकिन योग दर्शन प्रकृति के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करता है, उसका मानना है कि ईश्वर की भक्ति के माध्यम से ही पुरुष अहंकार आदि बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

5. मीमांसा दर्शन: मीमांसा दर्शन के प्रतिपादक ऋषि जैमिनी थे, इनका मुख्य प्रयोजन था वैदिक कर्मकाण्ड का शास्त्रीय रूप से प्रतिपादन कर धर्म के नियमों की ठीक-ठीक मीमांसा करना। इनका मानना था कि वेद विहित कर्म ही धर्म है, इससे अपूर्व फल की प्राप्ति हाती है, जो मनुष्य के साथ रहता है।

6. वेदांत दर्शन: वेदांत दर्शन के प्रवर्तक वादनारायण व्यास थे, इन्होंने वेदांत सूत्रों की रचना की। वेदांत के अनुसरण की विश्व की वास्तविक सत्ता ब्रह्म है, वस्तुत ब्रह्म ही सत्य है अन्य कोई सत्ता सत्य नहीं है, जीव ब्रह्म से प्रथक् कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, प्रकृति या जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्म चेतन स्वरूप है वह चित् शक्ति है।

सांख्य दर्शन जिस पुरुष व प्रकृति की सत्ता को प्रस्तुपित करता है वेदांत दर्शन में उसका विकास ब्रह्म से होना स्वीकार किया गया है। संसार में दृष्टि गोचर होने वाली समस्त सत्ता भ्रम का परिणाम है, जगत् माया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब ब्रह्म माया से अविछिन्न हो जाता है तो वह ईश्वर कहलाने लगता है, जीवात्मा तो वास्तव में ब्रह्म है।

वैदिक संस्कृति से हिन्दू संस्कृति की ओर:

डॉ. जयदेव विद्यालंकार के अनुसार हिन्दू संस्कृति का आर्विभाव आर्य और आर्येतर संस्कृति के मिश्रण से हुआ जिसे हम उत्तर वैदिक कहते हैं, वह वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियाँ के मिश्रण से हुई थी। यह अनुमान कई प्रकार की उकियों पर आधारित है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने अपनी पुस्तक पाणिनी में श्रमण ब्राह्मण संघर्ष का उल्लेख शाश्वतिक विरोध के उदाहरण के रूप में किया है⁴

पाणिनी का उल्लेख 600 ई.पू. से 500 ई.पू. प्राप्त होता है, अवश्य ही शाश्वत शब्द सौ-दोसौ वर्षों का अर्थ नहीं देता वह इससे बहुत अधिक काल का संकेत करता है। अतएव यह मानना युक्तियुक्त है कि श्रमण संस्था भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे, श्रमणों और ब्राह्मणों के बीच सर्प नकुल संबंध का उल्लेख बुद्धोत्तर साहित्य में बहुत अधिक हुआ है, किन्तु पाणिनी के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है, कि श्रमण ब्राह्मण संघर्ष बौद्ध मत से प्राचीन है।⁵

प्राचीन आर्य मात्र वैदिक परम्परा के ही पोषक थे, एक वर्ग विशेष अपनी

श्रेष्ठता को लेकर बहुत सजग था कर्मकाण्ड की संपूर्ण क्रिया का कर्ता वही था, हिंसा और कर्मकाण्ड के कारण लोग अत्यंत त्रस्त होने लगे थे ऐसी दशा में लोग परिवर्तन की दशा में आगे की ओर बढ़े यही नहीं उन्होंने अपना स्थान परिवर्तन करना भी प्रारंभ कर दिया था। फलस्वरूप आर्य जाति के लोग उत्तर से दक्षिण पश्चिम की दिशा में सिन्धु नदी के किनारे प्राचीन भारत की सीमा में आकर बस गए। अतः आर्य सिन्धु नाम से संबोधित होने लगे कालांतर में 'हिन्दू' नाम से पहचाने जाने लगे। आर्यों का क्षेत्र परिवर्तन होने से भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता ने उन्हें काफी हद तक प्रभावित किया विशेष कर भारत देश की आत्म प्रधान संस्कृति के फलस्वरूप आर्यों के अनेक ऋषि इस संस्कृति से प्रभावित हुए।

भारतीय संस्कृति में आर्य संस्कृति की अपेक्षा आर्येतर संस्कृति का प्रभाव अधिकतम था, प्रारंभ में आर्यों का जीवन यज्ञ से प्रारंभ होकर यज्ञ से पूर्ण होता था, प्रत्येक गृहस्थ (आर्य) के लिए देवयज्ञ पितृयज्ञ, नृयज्ञ, ऋषियज्ञ भूतयज्ञ (वलिवैश्वदेवयज्ञ) प्रतिदिन करना था, कुछ विशेष तिथियों में कुछ विशेष यज्ञ भी किये जाते थे, विशेष कार्यों के लिए विशेष यज्ञों का प्रावधान भी ब्राह्मण ग्रंथों में उपलब्ध है जैसे राजा बनने हेतु राजसूय यज्ञ, चक्रवर्ती बनने हेतु अश्वमेध यज्ञ इस प्रकार अनेक प्रकार के अत्याधिक खर्चीले एवं कर्मकाण्ड युक्त यज्ञ उस काल की वैदिक संस्कृति के अभिन्न अंग थे, ब्राह्मण ग्रंथों में अजामेध, गोमेध और पुरुष मेध सदृश यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है, जिनसे यज्ञों में पशुओं की बलि देने की बात सूचित होती है इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारत में एक ऐसा समय आ गया था जबकि यज्ञों में पशु बलि की प्रथा प्रारंभ हो गयी थी और यज्ञ कुण्डों के समीप ऐसे युपों का निर्माण होने लगा था जिनमें पशुओं को बांधा जाता था। महात्मा बुद्धके समय में इस प्रकार पशु बलि देने के प्रमाण विद्यमान हैं¹⁶ यद्यपि कुछ विद्वानों का मानना है कि पूर्व में यज्ञों में केवल तंदुल, दुग्ध, घृत सामग्री का ही विधान था।

यज्ञों से मोह भंग करता हुआ आर्यों का एक वर्ग भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों से प्रभावित होकर आत्मा क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? शरीर आत्मा से किस प्रकार भिन्न है? इस सृष्टि का कर्ता कौन है? इसका नियंत्रण किस शक्ति के द्वारा होता है? आदि प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए याज्ञिक कर्मकाण्डों से दूर आश्रमों में ब्रह्म विद्या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आतुर लोग एकत्र होते थे और तप तथा स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास बुझाते थे, वे याज्ञिक कर्मकाण्डों को अदृढ़ मानते थे।

प्राचीन वैदिक संस्कृति और भारतीय संस्कृति-

भारतीय संस्कृति में आज अच्छे कर्मों से स्वर्ग और बुरे कर्मों से नरकों में जाने का सर्वमान्य उल्लेख प्राप्त होता है, वह वैदिक संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों में कहीं

भी दृष्टव्य नहीं होता। अतः स्पष्टतया स्वर्ग नरक और मोक्ष का उल्लेख मूल भारतीय संस्कृति (श्रमण संस्कृति) की देन है, जिससे व्यक्ति में अनुशासित होकर संसार में शुभ कर्मों की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति बनी तथा निवृत्ति मार्ग अपनाकर मोक्ष की प्राप्ति हेतु लक्ष्य का निर्धारण किया।

डॉ. जयदेव विद्यालंकार इस प्रसंग में लिखते हैं 'यह विलक्षण बात है कि वेदों में नरक और मोक्ष की कल्पना प्रायः नहीं के बराबर है। वहीं विश्रुत वैदिक विद्वान् डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है बहुत से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में मुक्ति, मोक्ष अथवा दुःख शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला। अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि नरक शब्द ऋग्वेद संहिता, वाजसनेयी माध्यन्दि संहिता तथा साम-संहिता में एक बार भी नहीं आया है, अर्थर्ववेद संहिता में नरक शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।'¹⁷

डॉ. जयदेव विद्यालंकार के अनुसार पुराणों में प्राप्त ऋषि और मुनि का युग्म विचारणीय है, ऋषि शब्द का अर्थ मन्त्रदृष्टा है किन्तु मंत्रों के दृष्टा होने पर भी वैदिक ऋषि गृहस्थ होते थे और सामिध आहार से उन्हें परहेज नहीं था, पुराणों में ऋषि और मुनि पर्यायवाची समझे गये हैं, फिर भी विश्लेषण करने पर यह पता चल जाता है कि मुनि गृहस्थ नहीं होते थे, उनके साथ ज्ञान, तप योग और वैराग्य का गहरा सम्बंध था, ऋषि और मुनि दो भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति ही हुए हैं और होने पर उसका मुनि शब्द से कोई संबंध नहीं है, जबकि पुराणकार ऋषि और मुनि को पर्यायवाची होने के कारण एक मानते हैं तो यही मानना होगा कि पुराणों का आधार वैदिक और प्राग्वैदिक का समन्वित रूप है। बौद्धों और जैनों ने प्रधानता ऋषि शब्द को नहीं दी, मुनि शब्द को दी, इससे भी यह अनुमान दृढ़ होता है कि मुनि परम्परा प्राग्वैदिक रही होगी।¹⁸ पश्चात्वर्ती वैदिक संस्कृति पर प्राग्वैदिक संस्कृति का प्रभाव रहा, ऋषि सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के संबंध में संक्षेप में हम इतना कहना चाहेंगे कि दोनों की दृष्टियों में हमें महान भेद प्रतीत होता है जहाँ ऋषियों का झुकाव बाह्य आडंबर एवं क्रियाकाण्ड पर था वहाँ दूसरी ओर मुनियों का झुकाव शुद्ध आहार शुद्ध व्यवहार एवं विचार-सहिष्णुता अथवा अनेकांतवाद की ओर रहा।

पश्चात्वर्ती ग्रंथकारों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर उसमें अपना चिंतन जोड़कर वैदिक कर्मकाण्ड से दूर अपने तत्त्व चिंतन को नवीन रूप में स्थापित करने का प्रयास किया अब वे देह और आत्मा के चिंतन में लग गये, फलस्वरूप वे वेद एवं ब्राह्मण ग्रंथों के अतिरिक्त आरण्यक उपनिषदों से होकर भागवत धर्म तक आ गये तथा पूर्व से प्रचलित भारतीय संस्कृति में कथाओं और अनुश्रुतियों के आधार पर पुराण एवं चरित्र ग्रंथों का निर्माण करने लगे तथा इसी काल में इस संस्कृति में अवतारवाद का जन्म हुआ जिसमें विश्व में श्रेष्ठ एवं शक्तिवान ब्रह्मा

ईश्वर रूप में उद्देश्य पूर्ति हेतु मानव रूप में जन्म लेते थे। प्रारंभ में अवतारवाद की संख्या 4 थी, पश्चात्वर्ती साहित्य में यह संख्या 24 तक पहुँच गयी।

वैदिक काल के देवता इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि के स्थान पर अब ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव) की पूजा की जाने लगी। इन श्रेष्ठ पुरुषों के आगे वैदिक काल के देवता कम बलशाली हो गये साथ ही यज्ञों का महत्त्व कम होने लगा और अपनी आत्मा की पहचान का प्रचलन बढ़ने लगा। अब ‘विश्व ब्रह्म’ है और ‘ब्रह्म आत्मा है’, जैसे सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ।

ऐसा भासित होता है कि जैसे-जैसे आर्य भारत की धरती पर सिन्धु से विध्याचल की ओर स्थापित होने लगे आर्यों की सांस्कृतिक विरासत पर प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रभाव बढ़ता गया।

वैदिक काल में याज्ञिक कर्मकाण्ड की क्रिया ब्राह्मणों के माध्यम से ही संपन्न होती थी, अतः ब्राह्मण वर्ग ही आर्यों के मध्य श्रेष्ठ वर्ग के रूप में मान्य था, कालांतर में वे क्षत्रियों के ज्ञान (आत्मज्ञान) से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। ‘शतपथ ब्राह्मण’ में विदेह के राजा जनक का बारंबार उल्लेख आता है जिसने अपने ज्ञान से सब ऋषियों को हतप्रभ कर दिया था, राजा जनक ने श्वेतकेतु, सोम, शुष्मा और याज्ञवल्क्य से पूछा कि आप अग्नि होत्र कैसे करते हैं, किन्तु उनमें से किसी ने भी संतोषजनक उत्तर नहीं दिया अंत में याज्ञवल्क्य जनक के पास गये और उनसे ज्ञानदान की प्रार्थना की⁵⁹ ‘आपस्तम्बीय धर्मसूत्र (2.2-4.24) में ब्राह्मण के लिये अनुज्ञा है कि वह आपत्तिकाल में वह क्षत्रिय अथवा गुरु से भी पढ़ सकता है।

डॉ. दासगुप्ता ने हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर में लिखा है – कि क्षत्रियों में गंभीर दार्शनिक अन्वेषण की प्रवृत्ति थी जिसने उपनिषदों के सिद्धांतों के निर्माण में प्रमुख प्रभाव डाला, अतः यह संभव है कि यद्यपि उपनिषद ब्राह्मणों के साथ संबंध है, किन्तु उनकी अकेले उपज ब्राह्मण सिद्धांतों की उनति का परिणाम नहीं है।⁶⁰

डॉ. भण्डारकर वैदिक संस्कृति से उत्तर वैदिक संस्कृति के सिद्धांतों, विचारों में आने वाले परिवर्तन के बारे में अपनी पुस्तक कलेक्टेड वर्क्स ऑफ भारत में लिखते हैं – भारत सदा से विदेशियों के आक्रमण के लिये मुक्त रहा है और उनके भारत में बस जाने से यहाँ जातियों का समिश्रण होता आया है, इन जातियों के अपने देवता होते थे, आर्यों के हाथ में भारत का अधिकार आने से पूर्व उनमें से कुछ जातियाँ जो लिंग द्वारा अपने देवताओं की उपासना करती थी, जिसे आर्यों ने स्वीकार कर लिया और अपने वैदिक देवता इन्द्र के साथ उसका एकीकरण कर दिया। उनकी प्रशंसा में पुराण रचे गये। जैन और बौद्ध धर्म की स्थापना उन मनुष्यों ने की थी जो परमात्मा माने जाते थे, अतः उनके स्मारकों की पूजा तथा उनकी मूर्तियों का आदर करने की इच्छा होना स्वाभाविक है, इससे पूजा (मूर्ति पूजा) प्रचलित हो गयी और

समस्त भारत में फैल गयी। अतः राम कृष्ण, नारायण, लक्ष्मी और शिव पार्वती की मूर्तियाँ तैयार की गयी और पूजा के लिये सार्वजनिक स्थानों में स्थापित की गयी।⁶¹

विद्वानों का मत है कि वैदिक सभ्यता के उत्तरकाल में जो शहरों के स्थान पर वनों का और यज्ञों के स्थान पर मंदिर पूजा का प्रचलन हुआ यह अ-वैदिक संस्कृति का प्रभाव है, क्योंकि ये दोनों तथ्य मूलतः अवैदिक हैं और इन दोनों का दर्शन शास्त्र की अध्युन्नति पर बढ़ा प्रभाव है।⁶²

एक वर्ग याज्ञिक कर्मकाण्ड से दूर वनों में जाकर भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ पुरुषों की तरह चिन्तनमनन का प्रयास करने लगे इससे वेद यज्ञों का प्रभाव मंद होने लगा। जब यज्ञों की वेद ध्वनि में मंदता आती गयी तो अरण्यों से अरण्यों की ध्वनि सुनाई देने लगी। अरण्य की ध्वनि सुनाई पढ़ने के बाद से वेद ध्वनि मंद और मन्दतर होती जाती है।⁶³ वेद साहित्य और उपनिषदों में अरण्य के भावों में ही परिवर्तन हो गया। पश्चात्वर्ती रचना में उपनिषदों अरण्य का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया छांदोपनिषद में लिखा गया कि अरण्य में तपस्वीजन निवास करते हैं।⁶⁴

वैदिक संस्कृति के मूल आर्यों ने जैसे-जैसे क्षेत्र परिवर्तन किया वे पूर्व की ओर आगे बढ़े। उनके ज्ञान भाव और क्रियाओं में भारतीय संस्कृति का जबरदस्त प्रभाव पड़ता गया वेदों के विचार और यज्ञों की ध्वनि में मंदता आती गयी, विद्वानों का ऐसा मत है कि जब वैदिक आर्य पूर्व की ओर बढ़े अर्थात् सिन्धु घाटी से गंगा की ओर गये तो यज्ञ पीछे रहे गये और यज्ञ का स्थान तप ने ले लिया।⁶⁵

तप को सत्य से भी उच्च बतलाया गया है किन्तु इस काल में तप की विविध विधियों का उल्लेख प्रास नहीं होता यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथों में मुनि, परिव्राजक, तापस और श्रमणों का निर्देश पाया जाता है। तप और अरण्यों के प्रति ब्राह्मणकाल के वैदिक आर्यों की आस्था नहीं थी और न उनके प्रति विशेष आकर्षण था, क्योंकि इन दोनों का संबंध उनकी संस्कृति से नहीं था।⁶⁶

वेदों की ऋचाओं में पाप करने वाले के लिए भावी जीवन में कोई दण्डात्मक चेतावनी का उल्लेख नहीं था। उसके पीछे संभावित कारण वेदों में पुर्नजन्म को स्वीकार न करना है, लेकिन भारतीय संस्कृति से जब पुर्नजन्म स्वीकार कर लिया तब पाप पुण्य की व्याख्या की जानेलगी। पुर्नजन्म के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के बाद भी उनमें अहिंसा का सिद्धांत रूप से प्रवेश हुआ जान पड़ता है।⁶⁷

वेदों में तो गृहस्थाश्रम का ही उल्लेख प्राप्त होता है, ‘गौतम धर्मसूत्र’ के अनुसार वेदों को तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है उसी का प्रत्यक्ष विधान है इतर आश्रमों का नहीं।⁶⁸ छान्दोग्योपनिषद में प्रथम बार चार आश्रमों का उल्लेख प्राप्त होता है, हिन्दू धर्म समीक्षा में कहा गया है कि विद्वानों का मत है कि वानप्रस्थ और सन्यास को वैदिक आर्यों ने अवैदिक लोगों की संस्कृति से लिया है।⁶⁹

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने ग्रंथ 'गीता रहस्य' में सन्यास और कर्मयोग नामक प्रकरण में इस बात का जोरदार समर्थन किया है कि वैदिक धर्म में सन्यास मार्ग विहित नहीं था, वह लिखते हैं वेद सहिता और ब्राह्मणों में सन्यास आश्रम को कहीं नहीं कहा गया उलटा जैमिनी ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से मोक्ष मिलता है।⁷⁰

महाभारत में एक प्रकरण में जब युधिष्ठिर सन्यास लेना चाहते हैं तब भीम कहते हैं कि शास्त्र में लिखा है कि जब मनुष्य संकट में हो या बूढ़ा हो गया हो या शत्रुओं से त्रस्त हो तो उसे सन्यास ले लेना चाहिये अतः बुद्धिमान मनुष्य संसार का त्याग नहीं करते और दृष्टि संपन्न मनुष्य इसे नियम का उल्लंघन मानते हैं, भाग्यहीन और नास्तिक लोगों ने ही सन्यास चलाया है।⁷¹ इस प्रकरण से यह तो स्पष्ट होता है कि पश्चात्वर्ती वैदिक संस्कृति ने सन्यास मार्ग को अपनाया है, सन्यास मार्ग को अपनी आस्था और शर्तों के आधार पर स्वीकार कर उसे मूल भारतीय संस्कृति से भिन्न नवीन स्वरूप प्रतिपादित किया।

पं. कैलाशचंद जी लिखते हैं आत्मा, पुर्नजन्म, अरण्य, सन्यास, तप और मुक्ति ये सारे तत्त्व परस्पर में सम्बद्ध हैं, आत्मविद्या का एक छोर पुर्नजन्म है तो दूसरा छोर मुक्ति है, सन्यास लेकर अरण्य में तप करना पुर्नजन्म से मुक्ति का उपाय है ये सब वैदिकतर संस्कृति से वैदिक संस्कृति में प्रविष्ट हुए हैं।⁷² डॉ. राधाकृष्णन इसी विचार को और परिष्कृत करते हुए लिखते हैं अवैदिक तत्त्वों का प्रभाव केवल देश में विचारों का विकास के लिए एक नये प्रकार के दृश्य से परिचय में ही लक्षित नहीं होता किन्तु सत्य तक पहुँचने के उपायों के परिवर्तन में भी लक्षित होता है,⁷³ डॉ. राधाकृष्णन का यह विचार सत्य तक पहुँचने के उपायों के परिवर्तन में भी लक्षित होता है विशेष ध्यान देने योग्य है मूल भारतीय संस्कृति अहिंसा के आधार पर सत्य के निकट तथा प्रभावक होने के कारण वैदिक संस्कृति को अपने सिद्धांतों में नवीनता हेतु परिवर्तन करना पड़ा।

प्रो. बरूआ ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ प्री बुद्धिस्टिक द इंडियन फिलासफी में वैदिक काल और न्यूवैदिक काल के बीच में याज्ञवल्क्य को सीमा चिह्न माना है, अर्थात याज्ञवल्क्य के साथ वैदिक काल का अंत और न्यूवैदिक काल का आरंभ होता है। भारतीय धर्मों के इतिहास में इस काल को श्रमण ब्राह्मण काल संज्ञा दी जा सकती है। वैदिक पश्चात काल के विचारकों में याज्ञवल्क्यम ही प्रथम विचारक है जिन्होंने श्रमणों की ओर लक्ष्य किया श्रमणों के सिवाय तापसों का भी उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है⁷⁴ इसका यह तात्पर्य कदापि स्वीकार ना किया जावे कि याज्ञवल्क्य के समय से श्रमण परम्परा का अभ्युदय हुआ था। पं. कैलाशचंद शास्त्री ने इस कथन को ओर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण ग्रंथों में जो श्रमणों और तापसों

का उल्लेख प्रथम बार मिलता है उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्राह्मण काल में तापसों और श्रमणों की संस्था प्रकाश में आई या ब्राह्मण लोग इनके परिचय में आये न कि तापस और श्रमण सम्प्रदाय का जन्म हुआ।⁷⁵

अधिकांश विद्वानों ने कर्मकाण्ड वाले वैदिक सम्प्रदाय में सन्यास मार्ग एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत को निराशावादी के रूप में माना है लेकिन आश्चर्य जनक तथ्य यह है कि लगभग वही विद्वान इसे भारतीय संस्कृति की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया में उल्लेख आया है कि इस सिद्धांत (पुनर्जन्म और सन्यास) की असाधारण सफलता बतलाती है कि यह सिद्धांत भारतीय आत्मा के साथ एकलय था। और उसका जो संभाव्य परिणाम हो सकता था वही हुआ। ब्राह्मण काल के अंत तक आर्य प्रभाव मुरझा गया और बुद्धिवादी वर्गों का यथार्थ भारतीय चरित्र निश्चित रूप से साकार हो गया।

वैदिक संस्कृति में श्रमण परम्परा:

श्रमण परम्परा वैदिक संस्कृति में यह चौकाने वाला चिन्तनीय विषय है यह तथ्य भारतीय संस्कृति में लुप्त प्राय सा है विगत कुछ शताब्दियों में श्रमण परम्परा के परम्परा और सिद्धांतों को स्वीकार तो किया गया लेकिन उसमें से श्रमणत्व, दिग्म्बरत्व, जैनत्व शब्द का लोप कर दिया गया शौधार्थीयों के लिए इस विषय में और अधिक पर्यास सामग्री प्राप्त करने की आवश्यकता है।

वैदिक ग्रंथों में वैदिक श्रमणों का उल्लेख:

ऋग्वेद में केशी सूक्त वातरसन के पुत्र जुति, वातजूति, विप्रजूति वृशाणक, कारिक्रत और एवष मुनियों का वर्णन है, जो वायु, सूर्य, आदि देवों के साथ सायुज्य प्राप्त करते हुए अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हैं, ऋग्वेद में मुनि की कोटि के अन्यशब्द यति का भी प्रयोग हुआ है।⁷⁶

ऋग्वेद में साधुओं की दो श्रेणी का उल्लेख प्राप्त होता है।

(1) अयाजित यति (2) अंगिरस यति। अयाजित यति को मुनि भी कहा जाता रहा है, जो कि प्रावैदिक श्रमण संस्कृति से रहे, अंगिरस यति वैदिक श्रमण की ओर संकेत करता है, अंगिरस श्रमणों के प्रेरणा स्रोत वरूण देव को माना जा सकता है, वरूण की विशेषता उनके घृतव्रतित्व में हैं वे ऋत के पालक भौतिक रूप में विश्व की व्यवस्था तथा आध्यात्मिक रूप में ब्रताचरण के प्रतिरूप हैं उनके ब्रत अटल हैं और हिंसा से रहित हैं, वरूण से पापों को काटकर मुक्ति की प्रार्थना की गयी है, बाद में इन्द्र के उपासक (यज्ञादि को महत्व देने वाले) और वरूण के उपासकों (आत्मा की पहचान करने वाले श्रमण) में मतभेद बना।⁷⁷

वैदिक संस्कृति में श्रमण संस्कृति के जनक प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव को

विष्णु का अवतार मानने से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संस्कृति में श्रमण परम्परा सर्वमान्य रूप से स्वीकार थी। आगे चलकर इसी परम्परा ने इतिहास पुरुष महात्मा बृद्ध (बौद्ध श्रमण संस्कृति के जनक) को भी विष्णु का अवतार मानकर उन्हें वैदिक परम्परा में स्थान दिया है, इस प्रकार वैदिक संस्कृति में दिगम्बर जैन श्रमण एवं बौद्ध श्रमणों की भी श्रेष्ठता एवं पूज्यता को स्वीकार किया गया है।

वैदिक श्रमण में मुनि यति, परमहंस वालिवल्य तापस और गौरिकों की श्रमण परम्पराएँ गोरखपंथ, नेमनाथी कदंभ, मरीचि, अति पुलस्य, अंगिरा, अरिष्टनेमि आदि मुनियों की परम्पराएँ मिलती हैं। उत्तरकालीन वैदिक परम्परा में श्रमण, पतंजलि, बाल्मीकि तथा महामुनिव्यास के नाम प्राप्त होते हैं⁷⁸

अथर्ववेद तो अंगिरसों का वेद था यह अंगिरस ब्राह्मण नहीं थे, वे श्रमण आचार-विचार को मान्यता देते थे, इसमें तो एक पूरा खण्ड ही ब्रात्य श्रमणों के प्रधान एक ब्रात्य को समर्पित है, इसे वेद के रूप में मान्यता बाद में मिली⁷⁹ वैदिक संस्कृति में श्रीकृष्ण के गुरु भी अंगिरस माने जाते हैं। ‘मुण्डकोउपनिषद्’ में तो विषय वस्तु ही केश रहित श्रमणों के दर्शन की है।

बाल्मीकि कृत रामायण में दो प्रकार के मुनियों का वर्णन प्राप्त होता है, एक तो अग्नि होत्रादि (यज्ञादि करने वाले) गृहस्थाश्रम में रहने वाले, दूसरे वे जो केवलज्ञन तपोब्रह्मचर्य युक्त अध्यात्म धर्म के प्रवर्तक जिनमें सप्तर्षि सहित 88000 मुनि शामिल हैं।⁸⁰ बाल्मीकि रामायण में अगस्त मुनिका वर्णन भी मिलता है। महाभारत ग्रंथ के रचनाकार व्यास स्वयं अपने आपको महाभारत मुनि लिखते हैं।

सन्यासोपनिषद् में संन्यासियों के छः भेद बताए गये हैं –

- | | | |
|-----------|--------------|----------|
| 1. कुटिचक | 2. बहुदक | 3. हंस |
| 4. परमहंस | 5. तुरियातीत | 6. अवधूत |

इसमें परमहंस परिव्राजक के बारे में लिखा है शिखा यज्ञोपवीत रहित पंचागृहेषु करपात्री एककौपीन धारी शाटीमेकामेंक वैष्णव दण्डमेक शाटी धारी व भस्मोद्धलन परः⁸¹

परमहंस के उत्कृष्ट अवस्था तुरीयात अवस्था है इसमें साधक सर्वत्यागी गौमुख की तरह फलाहार, अन्नाहार करता है बाह्य परिग्रह रहित दिगम्बर होता है। परमहंस सन्यासी तुरियातीत अवस्था का प्राप्त करता हुआ अवधूत देह त्याग हेतु संन्यासी की उत्कृष्ट अवस्था है। परमहंस, तुरियातीत और अवधूत यह तीनों अवस्थाएँ परमहंस सन्यासी की क्रमशः उत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं।

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव का वर्णन करते हुए उन्हें परमहंस बताया गया है।

तैत्तिरीयाण्यक का निम्नलिखित उद्धरण दिगम्बर जैन श्रमण और वैदिक श्रमणों की एक साथ उपस्थिति प्रगट करता है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि वैदिक

श्रमण (ऋषिजन) वातस्यन निग्रंथ श्रमणों से (आदिपुराण ग्रंथ में भी श्रमणों को ऐसे ही पर्यायवाची नामों से उल्लिखित किया गया है, दिग्वासा वातरसनो निग्रन्थसो निरम्बरः) पवित्र आत्मविद्या के बारे में जानने की जिज्ञासा प्रगट करते हैं।

वातरशना हवा ऋष्यः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनों वधूवृस्तानृषयोऽर्थमायास्तेऽनिलामचरस्तेऽनुप्रविषुः कुष्माण्डानि तांसेष्वन्वविन्दन श्रद्धयाच तपसा च तानृषयोऽब्रुवन् कथा निलायं चरथेति ते ऋषीन ब्रुवन्मो वोऽसु भगवन्तोऽस्मिन् धाम्नि के वः सप्तयोमेति तानृषयोऽब्रुवन् पवित्रं नो ब्रुत येनोरेपसः स्यामेति त एतानि सूक्तान्यपश्यन ॥⁸²

अनुवाद वातरसन – श्रमण – ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्म पद की ओर उत्क्रमण करने वाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुए उन्हें देखकर वातरसन कुष्माण्ड की तरह हो गए अर्थात इन्द्रियों को नियंत्रित कर अपने में लीन हो गये। ऋषियों ने उन्हें वंदना श्रद्धा और तप से प्राप्त कर लिया। ऋषियों ने उन वातरसन मुनियों से प्रश्न किया आप किस विद्या से अन्तर्हित हो जाते हैं ? (आत्मलीन हो जाते हैं,) वातरसन मुनियों ने उन्हें अध्यात्मधाम से आए हुए अतिथि समझकर कहा है मुनिजनों आपकी सपर्य (सत्कार) किससे करें। ऋषियों ने कहा हमें पवित्र आत्म विद्या का उपदेश दीजिये जिससे हम निष्पाप होवें।

तुरीयातीतोपनिषद् में कुटीचक अवस्था से तुरीयातीत और अवधूत अवस्थाओं को प्राप्त करने का क्रम इस प्रकार बतलाया है – सबसे पहले कुटीचक साधु बहुदक अवस्था को प्राप्त करे, फिर बहूदक हंसावस्था का अवलम्बन करें, तदन्तर हंस, परमहंस अवस्था में पहुँचे। परमहंस होकर स्वरूपानुसंधान द्वारा सबको प्रपञ्च समझकर दण्ड, कमण्डलु, कटिसूत्र, कोपीन और आच्छादन, इन सबको स्वविधि के अनुसार जल में विसर्जित कर दिगम्बर हो जाय। विवरण, जीर्ण, वल्कल तथा अजिन के परिग्रह का भी त्याग दें तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान को जीतकर वासना त्रयपूर्वक (मन, वचन, काय), निन्दा, अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ दर्प, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अहर्ष, असूया आत्मसंरक्षणादि को दाध कर अपने शरीर को शव के समान समझता हुआ लाभ-अलाभ में समभाव रखते हुए गोचरी द्वारा प्राण धारण करे। सदा उन्मत्त रहे किन्तु उन्मत्त और पिशाच के समान उन्मत्त रहते हुए स्वरूप में लीन होकर सबको भूल जाय इस प्रकार तुरियातीत और अवधूत का वेश धारण कर उद्घेत में निष्ठा रखते हुए औंकार ध्वनि के साथ जो देह त्याग करता है ‘अवधूत’ कहलाता है, वही कृतकृत्य होता है यह उपनिषत् है।⁸³

जवाहिर लाल लिखते हैं – प्रारंभ में स्वाभाविक ही इन दोनों सांस्कृतियों में संघर्ष हुआ होगा और श्रमण और ब्राह्मण वैर की स्थिति कभी-कभी बनी होगी पर साथ ही श्रमण आचार विचार, दर्शन और जीवन-पद्धति ने वैदिक धर्म तथा

समाज को इतना प्रभावित किया कि इन्द्र और यज्ञ वैदिक जीवन ही तिरोहित हो गये। उनका स्थान शिव और विष्णु ने लिया जिनके प्रारंभिक अवतार ऋषभदेव थे। यज्ञ का स्थान पूजा ने लिया हिंसक बलि पद्धतियाँ समाप्त हुई और निरामिष श्रमणों की प्रार्थना पद्धति तथा शाकाहार मान्य हुआ। स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य मान्य हुआ। ब्राह्मण ऋषियों के साथ ही अब्राह्मण मुनि तथा राजा समाज के नेता हुए। इसे यो भी कहा जा सकता है कि श्रमण संस्कृति की समवन्यात्मक शक्ति के कारण वैदिक धर्म और वैदिक समाज हिन्दू धर्म और समाज के रूप में समृद्ध और व्यापक हुए।^{१४} वैदिक संस्कृति में श्रेष्ठता प्राप्त महाभारतकार ने अरिष्टेमि के व्यक्तित्व को स्वीकार कर उनके मुख से सगर नामक राजा को यज्ञ करो, होम करो, इन्द्र को प्रसन्न करो, संसार के सुख प्राप्त करो पुत्र उत्पन्न करो, प्रस्तुत करो और पूर्वजों को सुख पहुँचाओ जैसे विचारों को प्रस्तुत नहीं करवाया बल्कि उन विचारों को प्रस्तुत करवाया जो जैन संस्कृति के आधारभूत तथ्य हैं, उसके प्राण हैं यह किसी संस्कृति से आयातित कर समायोजित नहीं किए गये हैं। संसार में मोक्ष का ही सुख वास्तविक सुख है जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त हैं उसका मन अशान्त होता है। स्नेह बंधन में बंधे हुए अज्ञानी को मोक्ष नहीं हो सकता। तुम न्याय पूर्वक इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करके अलग हो जाओ और आनन्द के साथ विचरते रहो (संसार को त्यागकर आत्म चिंतन करने लगो) इस बात की परवा न करो कि सन्तान हुई या नहीं ? प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता है और स्वयं ही सुख दुःख मृत्यु को प्राप्त होता है। मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार भोजन वस्त्र तथा अपने माता-पिता के द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करते हैं।^{१५}

विषय सुख से मुक्ति के बिना आत्मा का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। सच्चा सुख तो मोक्ष में ही प्राप्त होता है, जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगते हैं, कर्मसिद्धांत के ऐसे विचार प्रावैदिक काल से ऋषभदेव ने केवलज्ञान प्राप्त कर संसारी प्राणियों को दिये जो आज भी प्राप्तिक हैं।

सन्दर्भ सूची

01. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 01
02. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग 1 पृ.52
03. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 02
04. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 03
05. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 04 एवं आर्कटिक होम इन वेदाज

06. आर्यों का आदिदेश, डॉ सम्पूर्णनन्द पृ.33
07. आर्यों का आदिदेश, डॉ सम्पूर्णनन्द पृ.38
08. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ.13
09. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ.21
10. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ.21
11. ऋग्वेद 10.19.1 एवं वैदिक संस्कृति पृ.78
12. वैदिक माइथालौजी पृ. 18 (अनुवादक सूर्यकान्त निराला) एवं वैदिक संस्कृति पृ. 78-79)
13. ऋग्वेद 05.15.2
14. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 84
15. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 90
16. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 16
17. वैदिक संस्कृति,
18. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 01
19. ऋग्वेद 10.85.42 एवं वैदिक संस्कृति पृ.193
20. ऋग्वेद 01.179.6
21. छान्दोग्योपनिषद् 5.10.7 एवं संस्कृति वैदिक पृ. 211
22. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पृ. 21
23. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 248
24. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 250
25. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 244
26. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ.122
27. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 306
28. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 310
29. ऐतरीय ब्राह्मण 35.11 एवं वैदिक संस्कृति पृ.
30. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 333
31. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 333
32. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ.22
33. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 340
34. महाभारत आदिपर्व 99-100 एवं आदिपर्व 1/274
35. महाभारत आदिपर्व 84
36. महाभारत और सिन्धुसभ्यता सुभाष कुरु
37. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. 81-82 जैन परम्परा और यापनीय संघ

38. प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ. 157 एवं जैन परम्परा जैन यापनीय संघ
39. संस्कृत हिन्दी कोश पृ. 595
40. जैन परम्परा और यापनीय संघ
41. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 83-84
42. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. 83-84 एवं जैन परम्परा यापनीय संघ 1/
242
43. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 23
44. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 533
45. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 534
46. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 22
47. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 57
48. कठोपनिषद 1.1.5 एवं वैदिक संस्कृति पृ. 651
49. बृहदोपनिषद 3.8.1 एवं वैदिक संस्कृति पृ. 650
50. माण्डूक्योपनिषद 6.7
51. बृहदोपनिषद 4.4.22
52. छान्दोग्योपनिषद एवं वैदिक संस्कृति पृ. 651
53. प्राचीन भारतीय इतिहास पृ. 32
54. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 223
55. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 224
56. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन पृ. 30-31
57. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 277
58. वैदिक संस्कृति, डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 278
59. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 36 एवं हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटलेचर पृ. 59
60. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 42 एवं हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटलेचर पृ. 33
61. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 40
62. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 41
63. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 42
64. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 42 एवं छान्दोग्योपनिषद 8.5.5
65. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 41 एवं केन्द्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
66. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 43
67. वैदिक इन्डेक्स 1.145 जैन साहित्य का इतिहास पृ. 45
68. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 45
69. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 45 एवं हिन्दूधर्म समीक्षा पृ. 127
70. वेदान्त सूत्र 3.4.17-20 एवं जैन साहित्य का इतिहास पृ. 40
71. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 47
72. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 47
73. हिस्ट्री ऑफ फिलासफी ईस्टर्न एण्डवेस्टर्न पृ. 32
74. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 47
75. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 50
76. भारतीय श्रमण संस्कृति जवाहिर लाल पृ. 62
77. भारतीय श्रमण संस्कृति जवाहिर लाल पृ. 62
78. भारतीय श्रमण संस्कृति जवाहिर लाल पृ. 62
79. भारतीय श्रमण संस्कृति जवाहिर लाल पृ. 65
80. भारतीय श्रमण संस्कृति जवाहिर लाल पृ. 65
81. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 25
82. तैत्तिरीयाण्यक 2/7/1-2 तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा।
83. जैन परम्परा और यापनीय संघ भाग-1 पृ. 280
84. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 65
85. गिरनार गौरव पृ. 13

विश्व में मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा-श्रमण संस्कृति की देन

यह तथ्य हीरे के फलक की तरह साफ स्वच्छ एवं प्राचीनता को लिए हुए है कि संसार में दो संस्कृतियाँ ही सर्व प्राचीन रहीं, प्रथम तो दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति एवं द्वितीय वैदिक संस्कृति।

उपर्युक्त दोनों ही संस्कृतियाँ इतिहासकारों, पुरातत्व विदों एवं विद्वानों द्वारा अति प्राचीन स्वीकार की गयी हैं। यह दोनों ही संस्कृतियाँ प्रागैतिहासिक मानी जाती हैं। चूंकि यह संस्कृतियाँ वेदों से पूर्व की हैं इसीलिए प्राग्वैदिक भी कही जा सकती हैं।

ऐतिहासिक तथ्यों से, वेदों से, पुराणों से, पुरातात्त्विक सामग्री से एवं प्रचलित परम्परा श्रुत परम्परा एवं अन्य परम्परा के अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि संसार में अति प्राचीनकाल से मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति की देन है।

अति प्राचीनकाल से प्रचलित संस्कृतियों में एक संस्कृति वैदिक संस्कृति में वैदिक काल तक मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा का सर्वथा अभाव ही प्रकट होता है। डॉ. पंकज शर्मा वैदिक संस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखते हैं ऋष्वैदिक धर्म में मूर्ति पूजा का सर्वथा अभाव था। वहीं श्री डी.पी. द्विवेदी वैदिक संस्कृति के सामयिक काल पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं - राजा का कर्तव्य शान्ति के समय यज्ञ एवं अनुष्ठान आदि करना उसका कार्य था।¹ वह आगे लिखते हैं कि धार्मिक क्रियाकलापों में प्रार्थना एवं स्तुति मुख्य थी ऐसी धारण थी कि देवता प्रार्थना से प्रसन्न होते हैं इनके लिये यज्ञ, हवन एवं अनुष्ठान भी किये जाते थे। प्रत्येक गृहपति अपने घर में अग्नि प्रज्वलित करके यज्ञ और हवन करता और आहुति देता था। वैदिकाल में आर्यों ने जिन देवताओं का आलम्बन लिया था उनके बारे में वह लिखते हैं आर्यों ने कुछ देवियों की कल्पना की प्रभात की मनोरम छवि को उन्होंने उषादेवी कहा। उनकी देवी अदिति, प्रकृति की देवी रूप आछायानी वनदेवी ज्ञान की देवी आदि थीं। इसी प्रकार देवताओं का भी उल्लेख किया गया है'' आर्यों ने विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, चन्द्र मेध, विद्युत से प्रभावित होकर उनको दैवीय शक्तियों के रूप में मानना आरंभ कर दिया था, आर्यों ने प्राकृतिक शक्तियों में देवताओं की परिकल्पना की उनमें प्रमुख देवता घोष आकाश, पृथ्वी, वरुण, इन्द्र सूर्य, विष्णु अग्नि, मरुद

पर्जन्य, विश्वकर्मन, प्रजापति, श्रद्धा, ओम, कोच आदि थे² 'उत्तरवैदिक काल का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं' पूर्व वैदिक युग में प्रकृति की आराधना की जाती थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में अन्य साधना के द्वारा देवताओं को वश में करके अभिलाषा पूर्ति करने की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, यह वेद वाद का काल कहलाता है। इसमें कर्मकाण्डों का विस्तार हुआ, लंबे पैचीदे और खर्चीले यज्ञ होने लगे। सारा कर्मकाण्ड एक बाह्य आडम्बर का रूप ले रहा था। जिसमें धर्म की आत्मा नीचे दब गयी थी अश्वमेध राजसूय, वाजपेय आदि बड़े-बड़े यज्ञ होते थे। जिसमें बड़ी संख्या में पशुवध होता था।

डॉ. जयदेव विद्यालंकार पूजा के बारे में लिखते हैं - वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप में थे अतः उनकी मूर्ति बनाने व इन मूर्तियों की पूजा करने की पद्धति सम्भवतः वैदिक युग में विद्यमान नहीं थी। वैदिक आर्य देवताओं की पूजा के लिये ऐसे मंदिरों का भी निर्माण नहीं करते थे जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हों, वैदिक युग में देवताओं की पूजा का ढंग याज्ञिक अनुष्ठान था।³ इस प्रकार विद्वानों के उल्लेख से यह तो स्पष्ट हो गया कि पूर्व में वैदिक संस्कृति एवं उत्तर वैदिक संस्कृति में दूर-दूर तक मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा के ज्ञान का अभाव था।

जैन श्रमण संस्कृति ही एक मात्र ऐसी संस्कृति है जिसके उद्भव काल से ही मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा का उल्लेख मिलता है। जैन संस्कृति में मूर्ति निर्माणकला का जो विकास हुआ उसके मूल में ही धार्मिक आस्था ही, मूर्ति पूजा की थी, जबकि अन्य प्रचलित प्राचीन धर्मों में से किसी भी धर्म में मूर्ति पूजा के प्राचीन काल के उल्लेख नहीं मिलते। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर के समय में महात्मा बुद्ध के प्रयत्नों से प्रचलित बौद्ध धर्म में भी प्रारंभ में मूर्ति पूजा का उल्लेख नहीं मिलता, स्वयं गौतमबुद्ध ने मूर्ति पूजा का विरोध किया।⁴ महात्मा बुद्ध के पश्चात् कालान्तर में उनके अनुयायी अपने-अपने स्वार्थ के कारण 18 भागों में विभक्त हो गए उसमें दो यान महत्वपूर्ण रहे। एक हीन एवं दूसरा महायान। हीनयान वाले अपनी पुरानी परम्परा पर चलते रहे लेकिन महायान शाखा ने महात्मा बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण कर उनकी अर्चना (पूजा) प्रारंभ कर दी। डॉ. पंकज द्विवेदी लिखते हैं बौद्ध धर्म मूर्ति पूजा का विरोध करता था किन्तु कालान्तर में उनकी ही पूजा होने लगी। संसार में प्रचलित अन्य धर्म इसाई धर्म, इस्लाम धर्म, पारसी धर्म सिक्ख धर्म आदि अनेक पश्चात्कर्त्ता धर्मों में भी प्रारंभ में मूर्ति पूजा का उल्लेख नहीं मिलता। इस्लाम धर्म तो मूर्ति पूजा का कट्टर विरोधी रहा है। सिक्ख धर्म में भी आचरण एवं ग्रंथ को महत्व दिया गया।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के भूतपूर्व निदेशक अमलानंद घोष जैन का

प्रतिमाओं के बारे मानना है कि, – जैन धर्म की वरिष्ठ धार्मिक और पौराणिक संकल्पनाओं ने ऐसे शिल्प प्रकारों को जन्म दिया जो अन्य सम्पदाओं की कलाकृतियों में नहीं पाये जाते हैं। लोहानीपुर की मौर्य युगीन प्रतिमाएँ (लगभग 300 ई. पू.) यह सूचित करती हैं कि इस बात की सर्वाधिक संभावना है कि जैन धर्म पूजा हेतु प्रतिमाओं के निर्माण में बौद्ध धर्म का ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवताओं की इतनी प्राचीन प्रतिमाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं।

तात्पर्य यह है कि मात्र जैन संस्कृति में ही प्रारंभ से मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा का उल्लेख मिलता है अन्य धार्मिक सभ्यताओं के मूल में मूर्ति पूजा का पूर्णतः अभाव ही था। स्वामी दयानंद सरस्वती का मानना है हिन्दुओं ने मूर्ति पूजा जैन धर्म से प्रेरित होकर प्रारंभ की। वेदों में पाषाणादि मूर्ति पूजा और परमेश्वर का आवाहन, विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।

मूर्ति निर्माण कला

डॉ. रायदास मूर्ति निर्माण कला के बारे में लिखते हैं सोना, चांदी, तांबा कांसा पीतल अष्टधातु आदि प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु पारे आदि के मिश्रण से मोम लाख गंधक हाथी दांत शंख, शीप, अस्थि सींग लकड़ी एवं कागद के कूट आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गड़कर खोदकर, उभारकर कोरकर हाथ से या औजार से डोलियाकर (हाथों से आकृति प्रदान करना) ठप्पा करके या सांचा छापकर उत्पन्न की हुई आकृति को मूर्ति कहते हैं।^१ लेकिन जैन श्रमण संस्कृति में मूर्तियाँ प्राकृतिक धातुओं काष्ठ, पत्थर, मिट्टी, बालू आदि से बनाई जाती रही। सींग शीप, शंख, अस्थि, हड्डी आदि अशुद्ध वस्तुओं से मूर्ति बनाने का उल्लेख कहीं पर भी प्राप्त नहीं होता एवं न ही ऐतिहासिक या पुरातात्त्विक तथ्यों से भी ऐसा कहीं प्रकट हुआ है। हाँ, जल, थल, नभ, वायु की काल्पनिक मूर्तियाँ बनाकर ध्यान करने का उल्लेख अवश्य आया है। लेकिन यह काल्पनिक प्रतिमाएँ ध्यान तक ही कार्यकारी रहीं।

त्रिवण्डेल्पोला, मृडबद्री कलकत्ता बीकानेर आदि स्थानों में हीरा, पन्ना पुखराज, नीलम आदि की मूर्तियाँ मिलती हैं, स्फटिक मणि की मूर्तियाँ तो जैन श्रमण संस्कृति में बहुत संख्या में बनी हैं।^२

जब से जैन श्रमण संस्कृति के उद्भव का उल्लेख मिलता है तब से ही मूर्तिपूजा का उल्लेख मिलता है। मूर्तिपूजा जैन श्रमण संस्कृति का एक प्राण है। जैन श्रमण संस्कृति में मूर्ति पूजा एवं मूर्ति निर्माण का दो प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है प्रथम तो अकृत्रिम चैत्य (मूर्तियाँ) चैत्यालय (मंदिर या जिनालय) द्वितीय कृत्रिम

चैत्य एवं चैत्यालय (मानव निर्मित मूर्तियाँ एवं मंदिर) कृत्रिम चैत्य चैत्यालय के पूर्व से ही अकृत्रिम चैत्य चैत्यालय का उल्लेख दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति की श्रुत परम्परा में निर्बाध अद्यतन होता आ रहा है। अकृत्रिम चैत्य चैत्यालय प्रकृति प्रदत्त माने जाते हैं। स्वर्गों में देवों के विमानों में, उनके महलों में, पृथ्वी पर, पृथ्वी के नीचे के भाग में जम्बू, धातकी आदि द्वीपों पर, सुमेरु पर्वत के चारों ओर, नंदीश्वर द्वीप जैसे अनेक स्थानों पर अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों का वर्णन जैन श्रमण संस्कृति की श्रुत परम्परा में सहजता से प्राप्त होता है। चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर गौतम स्वामी द्वारा की गयी चैत्यभक्ति में अकृत्रिम चैत्यालयों का उल्लेख आता है। श्रुत परम्परा से प्राप्त अति प्राचीन यह भक्ति अपने स्वरूप में आज भी भक्तिभाव से पढ़ी जाती है।^३ लघु चैत्य भक्ति भवित्व में चैत्य-चैत्यालयों का उल्लेख इस प्रकार है –

वर्षेषु वर्षान्तर पर्वतेषु नन्दीश्वरे यानि च मन्दरेषु।
यावन्ति चैत्यायतनानि लोके, सर्वाणि वन्दे जिनपुंगनाम्।
अवनि तल गतानां दिव्य वैमानिकानाम्।
इह मनुज कृतानां देवराजार्चिनाम्।
जिनवर निलयानां भावतोऽहंस्मरामि ॥
जम्बूधातकि पुष्करार्ध बसुधा क्षेत्र त्रये ये भवांश ।
चन्द्राम्भोज शिखण्ड कण्ठ कनक प्रावृऽघनाभिजनाः ॥
सम्यग्जन चरित्र लक्षण धरा दग्धाष्ट कर्मेन्धनाः ।
भूतानागत-वर्तमान समये तेभ्यो जिनेभ्योनमः ॥
श्रीमम्भरौ कुलाद्वौ रजतगिरि वरे शाल्मलौ जम्बूवृक्षे ।
वक्षारे चैत्यवृक्षे रतिकर रूचके कुण्डले मानुषांके:
इष्वाकारेऽज्जनादौ दधिमुख शिखरे व्यन्तरे स्वर्गलोके
ज्योतिलोकेऽभिवन्दे भुवन महितले यानि चैत्यालयामि

उपर्युक्त चैत्यभक्ति में अकृत्रिम जिन बिम्बों की (प्रतिमाओं) वंदना की गयी है तथा अकृत्रिम चैत्यालय कहाँ-कहाँ है उनमें विराजित प्रतिमाएँ कौन-कौन से रंग की होती है इस भक्ति पाठ में उल्लेख किया गया है। तथा 24 तीर्थकर की प्रतिमाओं के रंगों का वर्णन करते हुए प्रथम तीर्थकर से ऋषभदेव से महावीर पर्यंत तक समस्त तीर्थकरों को नमन किया गया है।

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव आदिनाथ के पूर्व से ही श्रमण संस्कृति में जिन प्रतिमाओं की पूज्यता का उल्लेख मिलता है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण म उल्लेख किया है। ऋषभदेव के जीव के पूर्व भव एवं पिछले भवों से साथ रहने वाले

जीवों ने पूर्व भवों में अनेक अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन, वंदन, किए इसके बाद किसी एक दिन स्वयं बुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालय में विराजमान जिन प्रतिमाओं की भक्ति पूर्वक वंदना करने की इच्छा से सुमेरू पर्वत पर गया। वहाँ अनादि निधन हमेशा प्रकाशित रहने वाले और देवों से पूजित अकृतिम चैत्यालयों को पाकर वह स्वयंबुद्ध मंत्री परम आनन्द को प्राप्त हुआ। उसने पहले प्रदक्षिणा दी फिर भक्ति पूर्वक बार-बार नमस्कार किया और फिर पूजा की।¹⁰

इसी प्रकार पृथ्वी पर अतिश्रेष्ठ एवं विशेष सामर्थ्यवान मनुष्य जो कि चक्रवर्ती पद के धारी होते हैं वे अपनी दिव्यदृष्टि से समय विशेष पर जब सूर्य पृथ्वी पर भरत क्षेत्र के अधिक समीप होता है तो सूर्य विमान में विराजित जिन बिम्बों के दर्शन करता है उन्हें भक्ति पूर्वक अर्ध्य समर्पित करता है। चक्रवर्ती की इसी क्रिया का अनुकरण करने से भरत क्षेत्र में सभ्वतः सूर्य को अर्ध्य समर्पण करने की परम्परा का प्रचलन हुआ और कर्क संक्रान्ति पर्व प्रचलित हुआ।

इस प्रकार जैन श्रमण संस्कृति की श्रुत परम्परा एवं उसमें लिखे गए आगम ग्रंथों में जिन प्रतिमाओं की पूज्यता प्रकृति के साथ-साथ ही आदिकाल से चली आ रही है अर्थात् मूर्ति पूजा के काल को जैन श्रमण संस्कृति में मर्यादित किया जाना संभव नहीं है।

प्रथम तीर्थकर के काल से ही प्रतिमा का निर्माण

अकृत्रिम चैत्यालयों से प्रेरणा लेकर प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के काल से मानव निर्मित कृत्रिम मूर्तियों के निर्माण का काल प्रारंभ हुआ। ऋषभदेव ने न केवल प्रजा को घटकर्म का उपदेश दिया बल्कि उपदेश कार्यरूप में भी परिणत हो इसलिए उन्होंने अपने पुत्र एवं पुत्रियों को अनेक विधा एवं विधाओं में पारंगत करने का सफल कार्य भी किया। इन घटकर्मों में एक शिल्पकला से संबंधित कर्म था। इस शिल्पकला का इस युग प्रथम चक्रवर्ती भरत ने पूर्ण श्रद्धा सामर्थ्य से उपयोग किया तथा प्रजाजनों के लिए शिल्प कला एवं रोजगार का मार्ग प्रशस्त किया। बलभद्रजी लिखते हैं तब ऋषभदेव का काल आया। इसे नागरिक सभ्यता का काल कहा जा सकता है। इस काल में तीर्थकर ऋषभदेव ने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और मानव जीवन को असि, मसि, कृषि विद्या वाणिज्य शिल्प की शिक्षा दी। कथन आता है कि जब इन्द्र ने अयोध्या की रचना की, भवन निर्माण करने की विद्या बताई और भवनों का निर्माण होने लगा। इस काल में संघटित जीवन की परंपरा प्रारंभ हुई जिसने ग्रामों, पुरों, नगरों को जन्म दिया।¹¹

कर्म व्यवस्था प्रारंभ कर नये युग का आरंभ कर ऋषभदेव ने दिगंबर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर कठोर संयम, तप को अपनाया। विशेष तप के प्रभाव से जब

ऋषभदेव को केवल्य (सम्पूर्ण ज्ञान) प्रकट हुआ तब इन्द्र ने भगवान के लिए इस कर्मभूमि पर प्रथम बार समवशरण का निर्माण किया। समवशरण में अद्भुत जिन देशना मुखरित हुई जो संसार के अनेक जीवों के दुःख निवारणार्थ एवं शंका समाधान हेतु कार्यकारी रही। अनेक-अनेक जीवों के प्रश्नों के उत्तर मिलने पर उस काल का मानव श्रद्धा से नत था बलभद्र जी ने ऋषभदेव की जिन देशना (समवशरण की दिव्य देशना) को ‘अदृष्टपूर्ति’ एवं अश्रुत पूर्व कहा है।

ऋषभदेव के जन्म के पूर्व इन्द्र ने राजा नाभिराय के निवास स्थान अयोध्या को सुसज्जित करते हुए अयोध्या नगर के मध्य चारों दिशाओं में चार जिनालय तथा जिनालय एक नगर के मध्य में निर्मित किया था। इन्द्र द्वारा निर्मित जिनालयों से प्रेरणा लेकर भरत चक्रवर्ती ने प्रथम बार मानव निर्मित मूर्तियों एवं मंदिर का निर्माण करवाया। उस काल में यह कार्य जगत के लिए अद्भुत कार्य था। आचार्य जिनसेन उल्लेख करते हैं कि भरत ने प्रथम बार अयोध्या में तदाकार प्रतिमाएँ बनवाई और पूजन की। उन्होंने अनके जिन बिम्ब और जिन मंदिरों की रचना कराकर कल्पवृक्ष नाम का महापूजन किया।¹² संसार में पूज्य पुरुषों की पूजा करने से पूज्यपना स्वयं प्राप्त हो जाता है ऐसा विचार करते हुए महाराज भरत जिनेन्द्र देव में अपनी भक्ति बढ़ाते हुए उनकी पूजा करने में बहुत ही संतोष धारण करते थे।¹³

घण्टा:-आज विश्व में अनेक पवित्र स्थल मंदिर, चर्च, गुरुद्वारा आदि में लगने वाले घण्टों की आकृति एक समान हैं, आकार छोटा बड़ा हो सकता है लेकिन घण्टों की आकृति और प्रकृति एक जैसी है। प्रथम बार घण्टे के निर्माण की कथा भी संसार में होती है बलभद्र घटा निर्माण के बारे में लिखते हैं -

श्रमण संस्कृति में प्रचलित विशेष शिल्पाकार : जैन श्रमण संस्कृति में तदाकार प्रतिमाओं का प्रचलन तो प्रारम्भ हो गया था। अतदाकार प्रतीकों का प्रचलन भी महाराज भरत ने प्रारम्भ कर दिया एक बार जब सम्राट भरत कैलाश गिरि पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति से ओत प्रोत था। उन्होंने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पदों, (चौराहों पर) गोपुरों राजप्रासाद के द्वारों और ड्योडियों में लटक वाये। यह मानवकृत अतदाकार प्रतीक स्थापना थी।¹⁴

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में उल्लिखित किया है ‘तदनन्तर उन्होंने बहुमूल्य रत्नों से बने हुए और जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं से सजे हुए बहुत से घण्टे बनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौबीस घण्टे बाहर के दरवाजे, राजभवन के महाद्वार पर और गौपुर दरवाजों पर अनुक्रम से टंगवा दिए। जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजों से बाहर निकलते अथवा अंदर प्रवेश करते तब मुकुट के अग्रभाग पर लगे हुए घण्टानाद से

उन्हें चौबीस तीर्थकरों का स्मरण हो जाता था। तदनन्तर स्मरण कर उन अरिहन्त देव की प्रतिमाओं को वे नमस्कार करते थे। इस प्रकार पुण्य रूपी वृद्धि को धारण करने वाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरिहन्तदेव की पूजा करते थे।” तब से लेकर आज तक भगवान ऋषभदेव की निर्वाण भूमि कैलाश पर्वत का प्रतीक घण्टा बिना भेदभाव के प्रत्येक पवित्र स्थान के प्रवेश द्वार पर लगवाया जाता रहा है अथवा यह कहें कि अवसर्पिणी काल के प्रारंभ से लेकर अवसर्पिणी के अन्त तक घण्टा अपने मूलस्वरूप में विद्यमान था, है और रहेगा तथा अपने नाद से पुण्य भूमि कैलाश पर्वत तथा तीर्थकरों का स्मरण विश्व में कराता रहेगा।

वन्दनवारः- इसी प्रकार भरत जी ने दरवाजों पर वन्दनवार (वन्दन मालाएं) लगवाकर अरिहंत देवकी वन्दना करना भी प्रारंभ की, जिसे प्रजा ने सहज भाव से स्वीकार किया क्योंकि भरत जी उस काल में प्रजा के लिए सर्वमान्य थे। उन्हें ऋषभदेव के प्रतिनिधि के रूप में प्रजा ने उन्हें स्वीकार किया। और तबसे लेकर आज तक भारतीय संस्कृति में प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारंभ में दरवाजे पर वन्दनवार (वन्दनमाला) लगाने की परम्परा निर्बाध रूप से प्रचलित है। आचार्य जिनसेन ने अपनी लेखनी से लिखा “‘चूंकि भरतेष्वर ने वे मालाएं अरिहंत देव की वन्दना के लिए बनवायी थी इसलिए ही वे वंदनमाला नाम पाकर पृथ्वी पर प्रसिद्धि को प्राप्त हुई हैं’। उस समय प्रथम राजा भरत की बनवाई हुई इस शृष्टि को प्रजा के लोगों ने बहुत माना था यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घर पर वंदन मालाएं दिखायी देती हैं।

मानस्तम्भः- इसी प्रकार ऋषभदेव प्रथम आद्यतीर्थकर ऋषभदेव को केवल्य की प्राप्ति के साथ ही कुबेर ने तीर्थकर ऋषभदेव के लिए समवशरण की रचना की इस समवशरण में विराजमान तीर्थकर ऋषभदेव जीवन-पर्यन्त संसार के भव्य जीवों को दिव्य देशना प्रदान करते रहे। समवशरण की सभा के चारों दरवाजों पर चार मानस्तम्भ बनाकर उनमें चारों दिशाओं में अरिहंत भगवान की चार प्रतिमाएं विराजमान की गयी। चूंकि समवशरण के साथ मानस्तम्भ भी देवकृत थे इसलिए भगवान के स्थान परिवर्तन अथवा निर्वाण हो जाने पर यह समवशरण स्वतः ही विघटित हो जाता था। अतः समवशरण में स्थापित मानस्तम्भ शैली को चिर स्थायी बनाने के लिए जैन श्रमण संस्कृति में मानस्तम्भ शैली को प्रथम बार मानवकृत कर उसे चिर स्थायी रूप प्रदान किया गया।

मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूज्यता की अद्भुत एवं अभूतपूर्व शैली बने मान स्तम्भ के ऊपरिभाग, मध्यभाग में चारों दिशाओं में प्रतिमाओं को उकेरकर अथवा अलग से विराजमान किया जाता था, ऐसा ही वर्तमान में प्रचलित है। इन स्तंभों को ‘मान स्तम्भ’ कहा गया है। यह मानस्तम्भ जैन मंदिरों के बाहर बनाए जाते हैं। ‘मंदिरों के बाहर मानस्तम्भ बनाने की परम्परा जैनों में रही’।

सम्भवतः इन्हीं मानस्तम्भ शैली से प्रेरणा लेकर भारतीय संस्कृति में कीर्ति स्तंभ आदि के निर्माण का कार्य किया गया हो, जिसमें सारनाथ स्तम्भ, चित्तोड़ का कीर्ति स्तम्भ, तिरहुत का स्तम्भ, संकाश्य का स्तम्भ आदि हो सकते हैं।

स्तूपः महापुराण में जिनेन्द्र भगवान के समवशरण में मान स्तम्भ, चैत्यवृक्षादि के साथ-साथ स्तूप आदि का भी सद्ब्राव है। ‘सिद्धार्थ चैत्यवृक्षाष्व वन प्राकार वनवेदिका। स्तूपाः सातोरणा मानस्तम्भास्तम्भास्तकेतबः।’¹⁸ आगे यह भी उल्लेख किया गया है कि’ बड़े रास्ते के मध्य में नौ स्तूप थे जिन पर अरिहंत तथा सिद्ध भगवान की मूर्तियाँ विराजमान थीं।¹⁹

बौद्धिक पौराणिक एवं पुरातात्त्विक उल्लेख के आधार पर हम कह सकते हैं जैन श्रमण ‘संस्कृति से ही बौद्ध श्रमण संस्कृति ने स्तूपकला का विकास किया है पं. सुमेरचन्द जी का मानना है ‘यदि सूक्ष्म परीक्षण किया जाए तो जिन शोधकों ने ‘जैनियों में स्तूप नहीं होते’ इस भ्रमवश स्तूप मात्र देख उन्हें बौद्ध कह दिया है उन्हें महत्वपूर्ण संशोधन अनेक स्थलों के विषय में करना न्याय प्राप्त होगा’²⁰ मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त स्तूप इस बात के सकल प्रमाण हैं।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ व्ही स्मिथ का कथन है कि ‘कहीं-कहीं’ भूल से जैन स्मारक बौद्ध बता दिए गए हैं। डॉ. फ्लीट लिखते हैं समस्त स्तूप और पाषाण के कठघरे बौद्ध ही होंगे। इस पक्षपात ने जैन ढांचों को जैन माने जाने में बाधा उत्पन्न की और यही कारण है जैनों में स्तूपों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से विद्यमान रही। कि अब तक केवल दो ही जैन स्तूपों का उल्लेख किया गया²¹

स्वास्तिकः स्वास्तिक भारतीय जैन श्रमण संस्कृति की देन है स्वास्तिक अति प्राचीनकाल से ही शुभ चिह्न के रूप में प्रयुक्त होता रहा। डॉ. ज्योति प्रसाद जी लिखते हैं ‘स्वास्तिक एक विशिष्ट धार्मिक चिह्न के रूप में प्रयोग होता था, आगे लिखते हैं, ‘देव मूर्तियों का सर्वप्रथम उसी युग में निर्माण होना प्रारंभ हुआ पहले मूर्तियाँ पाषाण अथवा काष्ठ की होती थी’²² तात्पर्य यह है कि मूर्तिकला के प्रारंभ के साथ ही स्वास्तिक का मांगालिक रूप में बनाना प्रारंभ हो गया था। पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से लगभग 1500 ई.पूर्व विकसित सिंधु घाटी की सभ्यता से प्राप्त मोहरों में स्वास्तिक का चिह्न पाया जाता है। डॉ. भरत जैन लिखते हैं, ‘स्वास्तिक के चिह्न की बनावट ऐसी होती है कि वह दशों दिशाओं से सकारात्मक एनर्जी को अपनी ओर खींचता है’²³ देश में प्राप्त अति प्राचीन शिला लेखीय साक्ष्य ई.पू. दूसरी शताब्दी का सम्प्राट खारवेल द्वारा लिखित प्राप्त हुआ है जिस पर स्वास्तिक महामन्त्रणमोकार के लेखन के पूर्व अंकित किया गया था। ऐसे ही मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में स्थित तीर्थकर पाश्वनाथ की मूर्ति पर बने हुए सात फणों में से एक पर स्वास्तिक अंकित हैं।²⁴

चरणचिह्न : जैन श्रमण संस्कृति में तीर्थकर आदि पूज्य पुरुषों के चरण अंकित करने तथा उनके प्रति श्रद्धान एवं पूज्यता का भाव रखने की भी परम्परा से प्राचीन काल से चली आ रही है। लामचीदास जी ये अपने संस्मरण पत्र कैलाश यात्रा में कैलाश पर्वत पर चरणचिह्न के दर्शन करने का उल्लेख किया है बीस तीर्थकरों का निर्वाण भूमि सम्मेद शिखर पर नेमिनाथ की निर्वाण भूमि गिरनार पर तथा महावीर स्वामी की निर्वाण भूमि पावापुरी सहित श्रवणबेलगोल में आचार्य भद्र बाहु के चरणतीर्थकर सहित आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी के चिह्न बनाने की परम्परा जैन श्रमण संस्कृति में रही। श्रीलंका में भी अतिप्राचीन काल के चरणचिह्न प्राप्त हुये हैं।

मूर्ति निर्माण

मूर्ति पूजा का कोई प्रथम पुरोहा है तो वह हैं – प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती राजा एवं श्रेष्ठ श्रावक भरत। जिनके गुणगान से वेद, पुराण, शिलालेख, श्रुतपरम्परा, परिपूर्ण हैं। क्या श्रमण संस्कृति ? क्या वैदिक संस्कृति ? भरत क्षेत्र, में पुष्पित, पल्लवित सभी प्राचीन संस्कृतियाँ भरत जी का गुणगान करती हैं। ऐसा लगता है प्राचीन संस्कृतियाँ भरत जी के बिना पूर्ण ही नहीं होती, और हों भी क्यों ? वे भारतीय सभ्यता के प्रथम पुरोहा जो रहे।

भरत ने मूर्ति निर्माण कला का प्रारंभ कर दिगंबर जैन मूर्तियों की पूज्यता का महान कार्य प्रारंभ किया। बलभद्र भरत के बारे में लिखते हैं 'तब उन्होंने (भरत ने) इन्द्र द्वारा बनाए गये जिनायतनों से प्रेरणा प्राप्त करके कैलाश गिरि पर प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के निर्वाण पश्चात् 72 जिनालयों का निर्माण कराया और उनमें अनर्घ्य रत्नों की प्रतिमाएँ विराजमान कराई। मानव के इतिहास में तदाकार प्रतीक स्थापा और उसकी पूजा का प्रथम सफल उद्योग कहलाया अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असंगत न होगा कि नागरिक सभ्यता की उषा बेला में ही मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण प्रारंभ हो गया था' ²⁵ ऐसा ही उल्लेख आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में किया है 'चक्रवर्ती भरत ने कैलाश पर्वत पर दिव्य मंदिर बनवाकर सर्वरक्षय ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान कराई थी। वह सूर्य के समान देवीष्यमान थी पाँच सौ धनुष ऊँची थी, दिव्य थी उसकी पूजा गंधर्व, देव, किन्नर, अप्सरा, नाग तथा दैत्य आदि किया करते थे' ²⁶ कैलाश पर्वत पर भरत द्वारा निर्मित जिनालयों का उल्लेख तब से लेकर आज तक किया जाता है भरत के पश्चात् द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ के काल में उत्पन्न राजा सगर चक्रवर्ती ने इन विशिष्ट जिनालयों की सुरक्षा हेतु अपने पुत्रों से कैलाश पर्वत के चारों ओर एक विशिष्ट प्रकार से परिखा

(खाई) का निर्माण करवाया जिससे पर्वत अपने स्वरूप के साथ विद्यमान रह सके। इस प्रसंग में बलभद्र जी लिखते हैं, 'भगवान ऋषभदेव की स्मृति में भरत चक्रवर्ती ने 72 जिनालय बनवाये और उनमें रत्नों की प्रतिमाएँ विराजमान करायीं। ये प्रतिमाएँ सहस्रों वर्षों तक वहाँ विराजमान रहें। सगर चक्रवर्ती के आदेश से उनके साठ हजार पुत्रों ने उन मंदिरों की रक्षा के लिए पर्वत के चारों ओर परिखा खोद कर गंगा को बहाया।' लगभग ऐसा ही कथन 'शिवपुराण' में आया है,²⁷ पद्मपुराण आदि ग्रंथों में 'बीसवे तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथ के काल में उत्पन्न रावण के साथ भी कैलाश पर्वत के जिनालयों का उल्लेख मिलता है। उल्लेख आता है 'बाली मुनि यहाँ (कैलाश पर्वत पर) तपस्या कर रहे थे रावण उन्हें देखकर बहुत क्रोधित हुआ और जिस पर्वत पर खड़े थे तपस्या कर रहे थे उस पर्वत को ही उलट देना चाहा, तब बाली मुनि ने सोचा भरत चक्रवर्ती ने जो मंदिर बनवाएँ थे इस पर्वत के उलट देने से वे नष्ट हो जायेंगे, यह विचार कर उस पर्वत को उन्होंने पैर के अंगूठे से दबा दिया जिससे रावण उस पर्वत के नीचे दब कर रोने लगा।' इन घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि भरत द्वारा निर्मित ये मंदिर और मूर्तियाँ राम रावण के समय तक तो अवश्य ही थी²⁸

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के काल से लेकर बीसवे तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथ भगवान के काल तक में विशेष अन्तराल होने पर कैलाश के जिनालय सुरक्षित रहे तो बीसवे तीर्थकर के काल से 24 वे तीर्थकर महावीर के काल तक इन जिनालयों का सुरक्षित रहना आश्चर्य जनक घटना नहीं। तात्पर्य यह है कि कैलाश पर्वत पर निर्मित जिनालय आज भी अपने मूल स्वरूप में विद्यमान है। इन मंदिरों में काल का दुष्प्रभाव नहीं पड़ा। कारण कुछ भी हो सकता है इसके अनेक कारण हो सकते हैं – उनमें एक कारण प्रकृति से सुरक्षा प्रदान करना अर्थात् बर्फ से ढंके होना हो सकता है।

ललितपुर (उ.प्र.) से प्रकाशित एक संस्मरण पुस्तक 'कैलाश यात्रा' में ब्र. लामचीदास जी की कैलाश यात्रा का वर्णन है इस यात्रा वृतान्त में उन्होंने उल्लेख किया है – 'फाल्गुन सुदी 5 रविवार वि.सं. 1828 जैन बद्री नगर में 104 पृष्ठों में श्री कैलाश यात्रा नाम से लिखकर कौशल देश, कुरुजांगल देश जैसे बड़े देशों में भिजवाय दी'²⁹ इस यात्रा वृतान्त में उन्होंने जिस प्रकार कैलाश पर्वत पर निर्मित जिनालय और जिन प्रतिमाओं के दर्शन किए, उनके उस यात्रा वृतान्त का अंश उद्धृत करता हूँ –

'क्षत्री लामचीदास सूर्यवंशी गोलालारें जैनी वि.सं. 1806 (सन् 1749) हिन्दुस्तान की ईसान दिशा हिमालय पर्वत के समीप भूटान देश तामें गिरिमध्य नगर बासी सो ब्रह्मा(म्यामार) चीन की सैर के निर्मित अथवा दर्शन निर्मित यात्रा को चले सो कठिन व्रत धर के कैलाश के दर्शनों की अभिलाशा करी' ³⁰ आगे पृष्ठों पर वे लिखते हैं – सगर गंग नाले से 32 कोस उत्तर की ओर चल पाने पर ही कैलाश पर्वत

पहुँच सकते थे। विशाल सगर गंग आ जाने के कारण कैलाश पर्वत पहुँचना मुश्किल था। मन में कैलाश पर्वत के जिनालयों के दर्शन की उत्कट अभिलाशा थी”। अतः उस दुर्गम स्थान पर ही ऐसा कठिन नियम लिया जिसकी सामान्यजन कल्पना भी नहीं कर सकते। ब्र. लामचीदास जी के बारे में व्रत लिखते हैं, “‘वीतराग भाव से खड़े योग से (खड़े ही रहने का नियम) ध्यान कर यह आखड़ी ली (नियम लिया) जब तक कैलाश के दर्शन नहीं होंगे तब तक अन्न जल का त्याग करता हूँ और संन्यास मरण यही करूंगा। कदाचित दर्शन हों भी जाएँ तो 23 तीर्थकरों की निर्वाण भूमि दर्शन कर वस्त्र दूर करूंगा मुनिन्वत धरूंगा, परिषह सहूँगा’”³¹ कैलाश गिरि के जिनालयों के दर्शन से संतुष्ट वे लिखते हैं – पर्वत पर बहतर मंदिर हैं। जिसमें एक (आदिनाथ) मंदिर बहुत विशाल आदिनाथ भगवान का है, जिसमें आदिनाथ भगवान के चरण बने हुए हैं, शेष इकहत्तर मंदिर सुरक्षित और संरक्षित हैं बर्फ से ढंके हुए हैं”। भरत जब चक्रवर्ती हो गए तो उन्होंने पोदनपुर में अपने भ्राता बाहुबलि की तपस्यास्थली कुकुट गिरि पर उनकी स्मृति में बाहुबलि की देहाकार प्रतिमा का निर्माण करवाया मूर्ति के आस-पास के क्षेत्र पर कुकुट सर्पों ने अपना निवास बना लिया, जिसमें उस मूर्ति का नाम कुकुटेश्वर पड़ गया। पाणिनों ने भी अष्टाध्यायी में कुकुटगिरि का उल्लेख किया है।³² गंगनरेश के मंत्री चामुण्डाराय जब पोदनपुर की प्रतिमा के दर्शन में अशक्य हो गए तो श्रवणबेलोल में बाहुबलि की प्रतिमा का निर्माण करवाया थाढ़ इसका वर्णन थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ शिलालेख पर तथा भुजबल चरित, भुजबल शतक गोम्मटेश्वर चरित्र राजाबलि कथा, स्थलपुराण में भी पाया जाता है³³

संदर्भित यात्रा वृतान्त की एक प्रति बम्बई पुस्तकालय में सुरक्षित रखी है उपर्युक्त विभिन्न उद्घारणों से यह स्पष्ट होता है कि भरत जी ने घण्टा, वन्दनमाला, मूर्तियाँ, एवं मंदिर निर्माण के साथ, भगवान के चरण चिह्न बनवाएँ थे। मूर्ति पूजा एवं मूर्ति निर्माण कला के विधान का प्रारंभ ऋषभदेव के पुत्र भरत जी की ही देन है।³⁴

श्री राम के काल में जिन प्रतिमाएँ : – 20 वे तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथ के काल में श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, रावण, बालि, सुग्रीव, हनुमान आदि महापुरुषों का जन्म हुआ, जिनका पद्मपुराण, पउम चरित, रामायण आदि ग्रंथों में विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। डॉ. रमेशचन्द्र जी ने इस काल की मूर्तिकला पर प्रकाश डालते हुए उल्लेख किया है ‘पद्मचरित में हमें अनेक स्थलों पर विभिन्न मूर्तियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं इसमें सर्वाधिक उल्लेख तीर्थकर की मूर्ति के विषय में मिलते हैं यहाँ जिन प्रतिमा को चैत्य कहा है ये चैत्य कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार के थे। प्रतिमाएँ विशेषतया पंचवर्ण (काला, नीला, हरा, लाल, सफेद) की निर्मित थी।

रथनपुर के बन में निर्मित जैन मंदिर में राजा जनक ने जिस प्रतिमा के दर्शन किए थे वह प्रतिमा अग्नि की शिखा के समान गौर थी। वह पद्मासन से स्थित बहुत ऊँची थी, उसके सिर पर जटाएँ थी। साथ ही साथ वह आठ प्रतिहायों से युक्त थी।³⁵

डॉ. रमेशचन्द्र जी यह स्पष्ट करते हैं ‘प्रातिहायों से युक्त जिन प्रतिमाएँ बनाए जाने के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि उस समय यक्ष और देवों की मूर्तियाँ भी तीर्थकर मूर्ति के साथ बनाई जाती थी। यहाँ यह स्मरणीय है कि कुषाण काल की जिन प्रतिमाओं में प्रतीक संयोजना के अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणी अनुगामित्व प्राप्त नहीं होता। यह विशेषता गुप्तकाल से प्रारंभ होती है, जब से तीर्थकर की प्रतिमाओं में यक्ष यक्षिणियों आदि का साहचर्य बन गया। उल्लेख मिलता है कि बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथ के समय समस्त भरतक्षेत्र में यह पृथक्की अर्हन्त भगवान की प्रतिमाओं से अलंकृत थी। उन मंदिरों में स्वर्ण चांदी आदि की बनी प्रतिमाएँ थीं, विभीषण के भवन में पद्म प्रध जिनेन्द्र देव की पद्मरागमणि निर्मित अनुपम प्रतिमा विराजमान थीं जो अपनी प्रभा से मणिमय भूमि में कमल-समूह की शोभा प्रकट करती थी,³⁶ शत्रुघ्न ने सुन्दर अवयवों के धारक सप्त ऋषियों की प्रतिमायें विराजमान कराई थीं। ये सप्त ऋषि सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिश्चय, सर्वसुन्दर, जयवान, विनयलाल और जयमित नाम के सात निग्रन्थ मुनि थे जो बिहार करते हुए मथुरापुरी आए थे।³⁷ इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में सिद्धों अरिहन्तों के अतिरिक्त दिगम्बर मुनियों (निग्रथों) की प्रतिमायें बनाई जाती रहीं तथा वे प्रतिमाएँ जिनालयों में विराजमान भी करवाई जाती थी रामचन्द्र जी के काल में महलों में पर्वतों पर, गांवों में चौराहों पर पुर निवेश की बहुमुखी योजना में देवायतन विधान (जिनालयों का विधान) प्राचीनपुर निवेश का महत्वपूर्ण अंग थे।³⁸ ये मंदिर देश के अधिपति राजाओं तथा गांव का उपभोग करने वाले सेठों द्वारा बनाये जाते थे।³⁹ यह भी उल्लेख प्राप्त होता है रामचन्द्र जी ने वंशगिरि पर हजारों जिन चैत्य (जिन प्रतिमायें) बनवाए थे।⁴⁰

श्री कृष्ण, नेमिनाथ के काल में जिन प्रतिमाएँ : -आचार्य गुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण में श्रीकृष्ण एवं यादवों के लिए द्वारका के निर्माण का वर्णन करते उल्लेख किया है। सबसे पहले उसने मंगलों का मांगलिक स्थान और एक हजार शिखरों से सुशोभित देदीप्यमान एक विशाल जैन मंदिर बनाया फिर वप्र, कोट, परिखा, गोपुर, अद्वालिका आदि से सुशोभित पुण्यात्मा जीवों से युक्त मनोहर नगरी बनाई।⁴¹ वहीं कंस के राज्य मथुरा में भी जैन मंदिर का उल्लेख आता है मथुरा में जैन मंदिर के समीप पूर्व दिशा में दिक्षाल के मंदिर में ये तीनों शस्त्र रत्न उत्पन्न हुए थे। सिंह वाहिनी, नागशया, अग्निवंजय, पांचजन्य शंख, देवरक्षित असाधारण शस्त्र उत्पन्न हुए थे।⁴² पौराणिक आख्यान से लेकर ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत रत्नाकर के गर्भ में समाधिस्त द्वारका का वर्तमान काल में जो क्षेत्र आकार, वास्तु खोजकर्ताओं के माध्यम से प्रकट हुआ

वह अद्वृत अकल्पनीय है तथा पुराणग्रन्थों के कथानक को कपोल कल्पना मानने वाले व्यक्तियों को सत्यता के निकट ले जाता है। द्वारका में स्त्री, पुरुष, सिंह, अश्व आदि की मूर्तियों के साथ ही अत्यन्त शान्त, सौम्य, मुद्रा में रत्नाकर के गर्भ में तीर्थकर मूर्ति दृष्टव्य होती हैं।

इस प्रकार जिन प्रतिमाओं के ऐतिहासिक साक्ष्य 23 वे तीर्थकर पाश्वर्नाथ के पूर्व 22 वे तीर्थकर नेमिनाथ श्रीकृष्ण, बलभद्र तक पहुँचते हुए दिख रहे हैं। इसको विशेष रूप से जानने के लिए पौराणिक आख्यान, श्रुतपरम्परा, लोक में प्रचलित कथानकों के आधार पर ऐतिहासिक कड़ियों को भी जोड़ना अनिवार्य है।

23 वें तीर्थकर पाश्वर्नाथ के काल में जिन प्रतिमाएँ :- जैन श्रमण संस्कृति में प्रतिमा निर्माण का एक ओर अति प्राचीन साक्ष्य इतिहास में उल्लिखित है ‘साहित्य में इसा पूर्व 600 के पहले (महावीर स्वामी के पूर्व के) के जिनालयों के उल्लेख मिले हैं। भगवान पाश्वर्नाथ के काल में किसी कुबरा देवी ने एक मंदिर बनवाया था, जो बाद में देव निर्मित बौद्ध स्तूप कहा जाने लगा। कहाजाता है कि यह सातवें तीर्थकर सुपाश्वर नाथ के काल में सोने का बना था¹³ जब लोग इसका सोना निकालकर ले जाने लगे तब इसे प्रस्तर और ईंटों से ढंक दिया¹⁴ स्थापत्य की अनुपम कलाकृति का उल्लेख कंकाली टीला मथुरा से प्राप्त भगवान्मुनिसुव्रतनाथ की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण चोकी पर अंकित मिलता है।

मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा का इसी प्रकार भगवान पाश्वर्नाथ के काल का एक ओर साक्ष्य आज भी विद्यमान है ‘भगवान पाश्वर्नाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहा मंदिर (लयण) बनवाए और उनमें पाश्वर्नाथ तीर्थकर की प्राषाण की प्रतिमा विराजमान कराई ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान है¹⁵ लगभग ऐसा ही उल्लेख प्रमुख इतिहासज्ञ डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने भी लिखा- करकण्डु चरित के नायक कलिंग के शक्ति शाली नरेश करकण्डु भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, ये तीर्थकर पाश्वर के तीर्थ में उत्पन्न हुए थे और उन्होंके उपासक तथा उस युग के आदर्श नरेश थे। राजपाट त्याग कर जैन मुनि के रूप में इन्होंने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की बताई जाती है। तेरापुर आदि की गुफाओं में प्राप्त पुरातात्विक चिह्नों से संबंधित जैन अनुश्रुति प्रमाणित होती है¹⁶ डॉ. रामप्रसाद चन्दा भी कहते हैं कि आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि महावीर से पहले भी जैन साधु विद्यमान थे। उनके अपने चैत्य भी थे। डॉ. विमल लाहा भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं¹⁷ डॉ. विद्यालंकार का भी मानना है कि अथर्ववेद में जिन ब्रात्यों का उल्लेख है वे अर्हतों और चैत्यों के उपासक थे ये अर्हत और चैत्य बुद्ध के पहले के समय से विद्यमान थे। अभी तक आधुनिक पर्यालोंचकों ने केवल तीर्थकर पाश्व की ही ऐतिहासिकता स्वीकार की है।

महावीर स्वामी के काल में प्रतिमाएँ :-

पाश्वर्नाथ के पश्चात्वर्ती चौबीसवें तीर्थकर महावीर स्वामी के समय की मूर्ति निर्माण की विशेष घटनाएँ आवश्यक चूर्णि, निषीथ चूर्णि, वसुदेव द्विण्डी, त्रिषष्ठि श्लाकापुरुष चरित्र आदि ग्रंथों में लगभग एक ही तरह की घटना मिलती हैं - ‘सिन्धु सौवीर के राजा उद्दायन के पास जीवन्त स्वामी की चन्दन की प्रतिमा थी, यह प्रतिमा महावीर स्वामी के काल में ही बनी थीं इसलिए उसे जीवन्त स्वामी की मूर्ति कहते थे, उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपनी एक प्रेमिका दासी के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त कर ली और उसके स्थान पर तदनुरूप कष्ट मूर्ति स्थापित करा दी थी।¹⁸

दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति द्वारा मूर्ति निर्माण एवं मूर्ति पूजा के पक्ष में मथुरा के कंकाली टीले से अकाट्य साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। मथुरा में बहुत सारे टीले हैं इनमें कंकाली टीला सबसे बड़ा टीला है, इस टीले की खुदाई से जैन स्तूप, मूर्तियाँ, सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ, शिलालेख, आयागपट्ट (पूजन सामग्री रखने का स्थान) धर्म चक्र, तोरण स्तम्भ, वेदिकाएँ आदि जैनपुरातत्त्व सामग्री प्राप्त हुई हैं जो चौथी शताब्दी ई.पू. बारहवीं शताब्दी तक की मानी जाती है। जैन संस्कृति में धर्मचक्र का प्रचलन महात्मा बुद्ध से पूर्व बहुत प्राचीन काल से था।

यहाँ के शिलालेख अति प्राचीन हैं। स्मिथ ने इन शिलालेखों को पहली दूसरी शताब्दी का माना है¹⁹ पं. कैलाशचन्द्र जी इन शिलालेखों के बारे में लिखते हैं जैन धर्म के इतिहास पर इन शिलालेखों से स्पष्ट प्रभाव पड़ता है, इनसे पता चलता है कि जैन धर्म के सिद्धान्त और उसकी व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है²⁰ यहाँ के प्राचीनतम शिलालेख से भी यहाँ के स्तूप कई शताब्दियों पुराने हैं²¹ हजारों वर्ष प्राचीन काल का निर्धारण ई.पू. कई शताब्दियों तक जाता है। यहाँ पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खडगासन जैन प्रतिमा प्राप्त हुई है प्रतिमा पर अंकित है - यह अर (18 वें तीर्थकर अरहनाथ) तीर्थकर की प्रतिमा सं. 78 में देवों द्वारा निर्मापित इस जैन स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गयी²² इस जैन स्तूप के इतिहास ने जैन संस्कृति की अति प्राचीनता को प्रदर्शित कर दिया। मिस्टर फुहर इस स्तूप के विषय में लिखते हैं यह स्तूप अति प्राचीन है इस लेख की रचना का समय स्तूप आदि का वृतान्त विस्मृत हो गया होगा। लिपि की दृष्टि से यह लेख इण्डोसिथियन (राजाकनिष्ठ हुविष्क और वासुदेव का काल) शक संवत् अर्थात् सन् 150 ई.पू. का निश्चित होता है। इसलिए इसवी सन् से अनेक शताब्दी पूर्व यह स्तूप बनाया गया होगा²³ रिपोर्ट के पृष्ठ 39 पर इस्वी सन् 162 की जैन तीर्थकर वृषभनाथ की मूर्ति का उल्लेख है जो एक कुटुम्बनी ने विराजमान की थी तथा जिसने अपने पति अपने श्वसुर वा अपने गुरु का उल्लेख किया है²⁴

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार का मानना है कि 'कलिंग के समान मथुरा के प्रदेश में भी ईस्वी सन् के प्रारंभ से पूर्व ही जैन धर्म प्रारम्भ हो चुका था। इस क्षेत्र में एक पुराने जैन मंदिर के अवशेष विद्यमान हैं जिन्हें ईस्वी से पहले का माना जाता है। इसके समीप बहुत सी जैन मूर्तियाँ तथा आयाग पट्ट आदि भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर कतिपेय लेख भी उल्कीर्ण हैं। इसमें संदेह नहीं कि कम से कम 2000 वर्ष पूर्व मथुरा के प्रदेश में भी जैन धर्म का प्रचार हो गया था और जैन मुनि वहाँ से दक्षिण की ओर बढ़कर उज्जैन की ओर जाने लगे थे' ⁵⁵ सम्भवतः इस स्तूप को अतिप्राचीन होने के कारण देवनिर्मित माना है।

मुनि प्रमाण सागर का मत है 'मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त देव निर्मित स्तूप की सामग्री बहुत महत्वपूर्ण है यहाँ सैंकड़ों जैन मूर्तियाँ और शिल्पावशेषों के अतिरिक्त सौं से अधिक अभिलेख मिलते हैं। उनमें सबसे प्राचीन देव निर्मित स्तूप विशेष उल्लेखनीय है। ⁵⁶

पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार ई. 800 के आस-पास उसका (स्तूप का) पुनर्निर्माण हुआ था कुछ विद्वान उसे आज से 3000 वर्ष प्राचीन मानते हैं इसके साथ ही वहाँ से ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक की अनेक तीर्थकर प्रतिमाएँ भी मिली हैं।⁵⁷

मथुरा से प्राप्त लिखित सामग्री जैन परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बताती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारंभ में भी वह अपने स्वरूप में दृढ़ विश्वासी था। एक स्तूप के चित्र में मुनि नग्न, पिच्छी, कमण्डलु लिए दिखाये गए हैं,⁵⁸ दिग्म्बर मूर्ति पर संस्कृत भाषा में एक लेख 'अग्रांकित है - सिद्ध संवत् 15 ग्रीष्म के तीसरे महीने के पहले दिन को भगवत की एक चतुर्मुखी प्रतिमा कुमरमिता के दान स्वरूप जोत की पुत्री की बहु श्रेष्ठि वेणि की पत्नी भट्टिसेन की माता थी मोहिक कुल के आर्य जयभूति की शिष्या आर्य संगनिका की प्रति शिष्या वसुला की इच्छानुसार अर्पित हुयी थी,⁵⁹ इसमें दिग्म्बर जैन मंदिर जयभूति का उल्लेख आदि विशेषण से हुआ है। ऐसे ही अन्य-अन्य उल्लेखों से वहाँ का पुरातत्व कालीन दिग्म्बर मुनियों के सम्मानीय व्यक्तित्व का परिचायक है। कैलाशचंद जी मथुरा के पुरातत्व शिलालेखों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि मथुरा का पुरातत्व ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी तक का है वहाँ की प्रायः सब ही प्राचीन मूर्तियाँ नग्न दिग्म्बर हैं। एक स्तूप के चित्र में जैन मुनि नग्न, पिच्छी का.....⁶⁰

मौयर्युग के अंत के काल में मथुरा के राजा पूर्तिमूख थे, उनकी दो रानियों का उल्लेख प्राप्त होता है एक रानी बौद्ध धर्मावलंबी थीं, दूसरी जैन धर्मावलंबी थीं, राजा

पूर्तिमूख की बौद्ध रानी के प्रभाव के कारण मथुरा के देव निर्मित जैन स्तूपों पर बौद्धों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। जिससे पटरानी उर्विला को असहनीय पीड़ा हुई। रानी उर्विला ने देश के अनेक जैन विद्वानों को बुलवाया जिन्होंने राजा पूर्ति के समक्ष बौद्धों से शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ में झूंठ का ढांचा ढह गया और सत्य की विजय हुई। यह सिद्ध हो गया कि मथुरा में देव निर्मित स्तूप दिग्म्बर जैन संस्कृति की ही धरोहर है तथा राजा पूर्तिमूख की उपस्थिति में मथुरा के देव निर्मित स्तूपों पर जैनों का आधिपत्य हो गया। इससे जैन धर्मावलंबी रानी बहुत प्रसन्न हुई, बड़े समारोह के साथ नगर में जिनेन्द्र का रथ निकलवाया तभी इस रानी ने अन्य, जल ग्रहण किया।⁶¹

अयोध्या में 400 ई.पू. की दिग्म्बर जैन मूर्ति:

सर्वमान्य तथ्य यह है कि 'अयोध्या' देश की धरोहर है यह ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण स्थल है यहाँ 'श्रमणसंस्कृति के 20 वे तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथ के काल में श्रीराम के पूर्वज एवं वंशज निवास करते थे। वैदिक संस्कृति के अनुसार यह काल त्रेता युग अन्त का काल था। अयोध्या की भूमि पर श्रमण संस्कृति के प्रथम तीर्थकर ऋष्यभद्रेव को आदि लेकर बीस तीर्थकरों ने जन्म लिया। 1976-77 में वरिष्ठ इतिहासकार प्रो. बी.बी. लाल के नेतृत्व में हनुमान गढ़ी के आस-पास की गयी खुदाई में कायोत्सर्ग-मुद्रा में जैन केवली प्रतिमा प्राप्त हुई है। अति प्राचीन जैन प्रतिमा का उत्खनन में प्राप्त होना तथा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा प्रकाशित करना अयोध्या में प्राचीन समय से जैन धर्म के प्रचलन एवं जैन मंदिर के स्थित होने के प्रमाणिक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग नई दिल्ली की उत्खनन शाखा द्वारा विश्व जैन संगठन को सूचना के अधिकार के अंतर्गत अयोध्या में हनुमान गढ़ी के परिच्य में खुले क्षेत्र में खुदाई के दौरान प्राप्त ईसा पूर्व 400 वर्ष की टेराकोटा (लाल, भूरे रंग की पक्की मिट्टी) से निर्मित प्राचीन जैन केवली प्रतिमा से संबंधित पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध कराई गयी।

फैजाबाद जिला गजेटिया के पृष्ठ क्रमांक 31 पर प्रकाशित जानकारी के अनुसार 400 वर्ष ईसा पूर्व कौशल मगध व अयोध्या को नन्दराजाओं ने अपने अधिकार में लिया था, जिसे ई.पूर्व. 375 में जैन राजा मौर्य ने अपने अधिकार में लिया तो सम्भवतः उपरोक्त प्रतिमा नए जैन मंदिर में स्थापित की गयी या किसी प्राचीन मंदिर में यह खोज का विषय है। सम्भवतः अयोध्या में महावीर भगवान के समय में भी जैन मंदिर स्थित हो क्योंकि इतिहास कारों ने अयोध्या में खुदाई से प्राप्त पुरातत्व सामग्री को ईसा पूर्व 700 वर्ष प्राचीन माना है।⁶²

सम्राट सम्प्रति के काल में मूर्ति कला:

सम्प्रति अपने पूर्वजों चन्द्रगुप्त मौर्य, विन्दुसार, अशोक के समान ही प्रतापी धर्म निष्ठ जैन श्रमण संस्कृति का संवाहक, संरक्षक एवं प्रचारक सम्राट माना जाता है। सम्प्रति ने अपने काल में अनेक जैन चैत्य, चैत्यालयों, जैन मठों एवं जैन मंदिरों सहित प्राचीन की धरोहर को भी संरक्षित करवाया। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार सम्प्रति जैन धर्म का प्रबल समर्थक था उसने बहुत से जैन मंदिरों का निर्माण कराया था।¹⁶³ कल्पसूत्र की सुबोधिनी टीका में उल्लेख आया है कि सम्प्रति ने सबा करोड़ जिनालय बनवाये थे। डॉ. सत्यकेतु के अनुसार इस कथन में अतिश्योक्ति अवश्य है। पर इसमें संदेह नहीं कि सम्प्रति ने बहुत से प्राचीन जैन मंदिरों का निर्माण करवाया था। राजस्थान और सौराष्ट्र के बहुत से प्राचीन जैन मंदिरों के विषय में यह किवदंती प्रचलित है कि उन्हें सम्प्रति ने ही बनवाया था।¹⁶⁴ परिशिष्ट पर्व से भी उपर्युक्त कथनों की पुष्टि होती है उल्लेख आया है सम्प्रति ने त्रिखण्ड भरत क्षेत्र (भारत वर्ष) को जिनायतनों से मंडित कर दिया था।¹⁶⁵

खारबेल के काल में प्रतिमाएँ

दिग्म्बर जैन श्रमण संस्कृति के पक्ष में विश्व के सामने एक और अकाट्य साक्ष्य भारत के दक्षिण पूर्व में स्थित उड़ीसा प्रान्त की प्रसिद्ध उदयगिरि, खण्डगिरि की गुफाओं से प्राप्त शिलालेख एवं अनेकानेक दिग्म्बर जैन प्रतिमाओं के साथ उपलब्ध हैं। इस शिलालेखीय साक्ष्य के आधार पर हमारे संविधान निर्माताओं ने हमारे इस देश का नाम 'भारत वर्ष' स्वीकार किया। यह शिलालेख खारवेल द्वारा ई.पू. 193 में अंकित करवाया गया जैन धर्म में प्रचलित महामंत्र णमोकार मूर्तिपूजा एवं आर्हतभक्ति जिन आगम मुनि मुद्रा तथा मुनियों के विशाल सम्मेलन को दर्शाता है। शिलालेख के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मूर्ति निर्माण कला एवं मूर्ति पूजा अति प्राचीन काल से श्रमण संस्कृति की अनमोल धरोहर है। इस काल के वैभव से संसार के पुरातत्ववेत्ता एवं इतिहासकार बहुत प्रभावित हैं।

चेदिराजवंश के वंशज महामेध वाहन वंश के तृतीय एवं महान सम्राट खारवेल द्वारा लिखित शिलालेख के काल का निरूपण करते हुए मनमोहन गंगोपध्याय ने बंगला भाषा में हाथी गुफा के शिलालेख का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने महावीर स्वामी के निर्वाण के 477 पश्चात् का लेख निरूपित किया है।¹⁶⁶

उदयगिरी की हाथी गुफा के इस शिलालेख के आधार पर डॉ. राजाराम ने खारवेल का जीवन परिचय प्रस्तुत किया है - हमारे शासन का आठवाँ वर्ष विषम परिस्थिति उत्पन्न करने वाला वर्ष था कलिंग के अतीत कालीन इतिहास का आलोड़न करने से मुझे पता चला कि 300 वर्ष पहले मगध ने कलिंग पर भीषण आक्रमण किया था। इससे कलिंग की जान-माल को बहुत नुकसान हुआ था। सबसे

अधिक दुःखकर बात यह रही कि दुष्ट राजा हमारे देश की राष्ट्रीय मूर्ति (आदिनाथ भगवान की प्रतिमा) बल्कि कहिये कि कलिंग के प्राण स्वरूपी जो कलिंग जिन के नाम से प्रसिद्ध थी, जो समस्त राज्य की अन्तरात्मा मानी जाती थी। वह दुष्टराजा नंद राज्यकी अन्तरात्मा का अपहरण करके ले गया था। उस गौरव चिह्न के चले जाने के बाद कलिंग जनता वर्षों तक भूखी प्यासी तडपती रही। उसे वापिस लाने के कितने ही प्रयत्न किए किन्तु उनमें सफलता नहीं मिली। मैंने जब यह घटना सुनी तो उसने मुझे बेहाल बना दिया। मैंने प्रतिज्ञा की कि जब तक कलिंग जिन को मगध से वापिस नहीं लोटा लेता तब तक मैं चैन से नहीं बैठूंगा, सुखासन पर नहीं सोऊंगा, पकवान का सेवन नहीं करूंगा मनोरंजनोंत्सव में भाग नहीं लूंगा। इस बीच मैंने अपनी रणनीति तैयार की। हमारी सेना जब मगध पर आक्रमण के लिए तीव्रगति से बढ़ रही थी तभी गुप्तचरों ने मुझे सूचना दी कि यवनराजा (युनानी राजा) दिमित मगध पर आक्रमण के लिए पूरी तैयारी के साथ बड़ा चला आ रहा है। वह मथुरा से कूचकर अयोध्या तक आ चुका है अब शीघ्र ही मगध पहुंचने बाला है। गुप्तचर द्वारा यह संदेश पाकर मेरा राष्ट्र प्रेम जाग उठा। सर्वप्रथम मैं विदेशी आक्रान्ता को सीमा पार खदेड़ा बाद में अपने घरेलू शत्रु से निपटूंगा यह संकल्प कर मैंने अपनी सेना अयोध्या की ओर मोड़ दी। मुझे यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ यवनराज मेरा नाम सुनते ही मेरा बल वीर्य एवं पराक्रम की जानकारी प्राप्त करके मुझसे बिना लड़े ही सीमा पार भाग गया। (यह एक जैन सम्राट का राष्ट्र प्रेम था कि शत्रु के शत्रु से भी मित्रता नहीं की ओर उसे देश का शत्रु मानकर देश से खदेड़ दिया) अब मगध नरेश से युद्ध करने की वारी थी हमारी सेना अत्यन्त कुशल थी ही उसने शीघ्र ही प्रयाण किया और गौरथगिरि (राजगृही के परिष्वम में) के सुदृढ़ दुर्ग को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। भय और आतंक के कारण जो जनता मगध से पलायन कर रही थी उसे आश्वस्त कर पुनः अपने-अपने आवासों में लौटा दिया। चारों ओर से सुरक्षित मगध पर अपनी शानदार विजय से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और मुझे अरिहन्त देव का बार-बार स्मरण आने लगा। यह विजय वस्तुतः मेरी नहीं, हमारी सेना की नहीं, बल्कि संपूर्ण कलिंग देश की थी मैंने उसी समय कलिंगवासियों को आमंत्रित कर उनके मध्य खण्डगिरि पर कल्पद्रुम पूजा विधान का वृहद आयोजन किया। इन प्रसंगों में एक नई बात आप लोगों को बताते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि हमारा परम्परागत धर्म जैन धर्म रहा है और हमारी कुल परम्परा विशेष रूप से उन प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की परम उपासक रही है जिनका प्रतीक चिह्न वृषभ है। हमें यह बहुत ही आश्चर्य जनक लगा कि 300 वर्षों तक के अन्तराल में भी यह जिन मूर्ति अभी तक हमारे शत्रु राजा के यहाँ अखंडित रूप से कैसे रही। मगध राजा भी प्रारंभ से ही जैन धर्मोनुयायी रहा वह भी कलिंगजिन की मूर्ति का आराधक रहा है और

300 वर्षों पूर्व कलिंग जिन के अपहृत हो जाने पर सारा कलिंग जिस प्रकार शोकाकुल रहा था, आज कलिंग जिन के वापिस हो जाने पर मगधवासियों की भी वही मनः स्थिति बनी रहेगी। इसमें सदेह नहीं कि मगध हमारे जीवन की श्रेष्ठतम विजय थी क्योंकि उसमें हमने अपने कलिंगजिन को प्राप्त कर लिया था”⁶⁷ इस कलिंग जिन की मूर्ति का काल निर्धारण का अनुमान लगाते हुए बेरिस्टर चम्पतराय जी लिखते हैं यह मूर्ति बहुत कर के महावीर के पूर्व की होगी और पाश्वनाथ से पूर्ववर्ती भी सम्भवनीय है”⁶⁸

अपने शिलालेख में खारवेल ने लिखा कि मुझे जिनेन्द्रवाणी के सिद्धांतों को सुनने की इच्छा हुई जिसके लिए भगवान महावीर के विजयचक्र आने (समवशरण आने) के स्थल का चयन किया गया। उस स्थान का देवों द्वारा कुमारी पर्वत नाम करण किया गया था। इस कुमारी पर्वत पर आश्रय स्थल एवं कलिंग जिनके लिए अर्हत प्रसाद का निर्माण महारानी सिन्धुला देवी की देख-रेख में सम्पन्न हुआ जिस पर लगभग एक करोड़ पाँच लाख मुद्राएँ व्यय हुई।

सम्राट खारवेल द्वारा कलिंगजिन के लिए कुमारी पर्वत पर बनाये गये बनाये गये अर्हत प्रसाद में विराजमान किया तथा यहाँ पर उन्होंने स्वयं एवं रानी ने पर्वत पर कई जिन मंदिर, जिन मूर्तियाँ गुफा और स्तम्भों का निर्माण करवाया। सम्राट खारवेल जिस कलिंग जिन प्रतिमा को मगध से लाये थे। ‘सम्राट खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत प्रसाद बनवाकर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक अभिलेख की सूचना को प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्यकाल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी जिसे कलिंगजिन कहा जाता था। कलिंगजिन नाम से ही प्रकट होता है कि सम्पूर्ण कलिंगवासी इस मूर्ति को अपना आराध्य देवता मानते थे’⁶⁹ लगभग तीन शताब्दियों तक कलिंगवासी इस अपमान को नहीं भूले और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिकार कलिंग सम्राट खारवेल ने किया। वह मगध को विजय करके अपने साथ अपने उस राष्ट्र देवता की मूर्ति को वापिस ले गया, किन्तु यह कितने आशर्च्य की बात है कि अब तक एक भी पुरातत्ववेत्ता और इतिहासकार ने इस ऐतिहासिक मूर्ति के संबंध में कोई खोज नहीं की। ऐसी ऐतिहासिक मूर्ति कुमारी पर्वत से कब किस काल में किसने स्थानांतरित कर दी। यह मूर्ति उपलब्ध हो जाए तो लोहानीपुर की मूर्ति का प्राचीनतम मानने वाले पुरातत्वेताओं के मत को न केवल असत्य स्वीकार करना पड़ेगा वरन् मूर्ति निर्माण का इतिहास एक दो शताब्दी और प्राचीन मानना होगा।⁷⁰

कुमारी पर्वत के बारे में उल्लेख आता है कि स्वयं उन्होंने एवं उनकी रानी ने इस पर्वत पर कई जिन मंदिर जिन मूर्तियाँ गुफा और स्तम्भ बनवाए कई धार्मिकोत्सव किए थे। यहाँ की सब मूर्तियाँ दिगम्बर हैं, स्वयं सम्राट ने इस पर्वत पर

रहकर धार्मिक नियमों का पालन किया था।⁷¹

सम्राट खारवेल द्वारा हाथी गुफा पर लिखित शिलालेख ने जैन मूर्ति निर्माण कला एवं मूर्ति पूजा को (ऐतिहासिक पुरातात्त्विक के साक्ष्य ने) 23 वें तीर्थंकर पाश्वनाथ के काल के पूर्व तक पहुँचा दिया है। इसको हम इस प्रकार जानें - सम्राट खारवेल का काल लगभग 193 ई.पू. से 300 वर्ष पूर्व कलिंग से ले गये प्रतिमा मगध सम्राट के ले जाने के काल से लगभग 300 वर्ष तक वह कलिंग में पूज्यता को प्राप्त रही होगी। कलिंग जिनके नाम से प्रसिद्ध हो सकी होगी इस प्रकार कलिंग जिन की प्रतिमा का निर्माण 300 + 300 + 193 = 793 ई. पू. पहुँच सकता है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में जिन प्रतिमाएँ:

आई.आई. टी.“खड़गपुर और भारतीय पुरातत्वविभाग सर्वेक्षण” के वैज्ञानिकों ने सिन्धु सभ्यता को लेकर नये तथ्य सामने रखे हैं, जिनसे पता चलता है कि यह सभ्यता 5500 नहीं बल्कि 8000 वर्ष पुरानी है, शोधकर्ताओं ने हड्ड्या सभ्यता के 1000 साल पहले की सभ्यता के प्रमाण खोज लिए हैं। यह रिसर्च मैगजीन नेचर में प्रकाशित हुई है, वैज्ञानिकों ने 3000 वर्ष पूर्व इस सभ्यता के लुप्त होने के कारणों का भी पता लगाया है। मौसम में हुए बदलाव के चलते ये सभ्यता नष्ट हुई थी। I.I.T. खड़गपुर के जियोलॉजी एवं जियोफिजिक्स डिपार्टमेंट के हेड अनिंद्यसरकार ने कहा कि हमने इस सभ्यता की प्राचीनतम पटरी को खोज निकाला है।⁷²

19 वीं 20 वीं शताब्दी में प्राचीन भारत के पश्चिमी क्षेत्र (आज का पाकिस्तान) से प्राप्त पुरा सम्पदा के वैभव पर दृष्टिपात करने पर विश्व के विद्वानों ने, इतिहासकारों, पुरातत्वविदों ने पाया कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व के मानवों का रहन-सहन का स्तर उनकी जीवन शैली सी नहीं थी जैसी की पश्चिम के कुछ लोग कल्पना कर सिद्धान्त जैसा प्रतिपादित कर रहे हैं ये बल्कि उनकी जीवन शैली कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में आज के मानवों से भी अच्छी थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त पुरा सम्पदा और प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वर्णित मानव के पुरा वैभव में विशेष तालमेल दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन ग्रंथों में जो महलों, मर्दिरों एवं मूर्तियों का वर्णन पूर्वाचार्यों ने किया है वह कोरी कल्पना अथवा भावों का अतिरेक नहीं था बल्कि वह सत्य के अधिक निकट का वर्णन है जो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ज्ञान (श्रुत परम्परा) से प्राप्त किया था जिसे पश्चात् वर्ती आचार्यों ने अथवा लेखकों ने लिपि बद्ध किया है।⁷³

चूंकि यहाँ पर प्रतिपाद्य विषय सिन्धु घाटी की सभ्यता नहीं बल्कि भारतीय इतिहास में ‘श्रमण संस्कृति का योगदान’ के परिपेक्ष्य में मूर्ति निर्माण एवं

मूर्ति पूजा श्रमण संस्कृति की देन' विषय का प्रतिपादन करना है। विषय के परिपेक्ष्य में सिन्धु घाटी से प्राप्त पुरावैभव मोहन जोदड़ों हडप्पा सभ्यता से का ज्ञान प्राप्त करना है पुरावैभव मोहन जोदड़ों हडप्पा सभ्यता (संस्कृति) का आकलन लोगों ने अलग-अलग तरीके से किया। जो लेकिन कुछ लोग, किसी धर्म, सम्प्रदाय, संस्कृति में रुचि न रखते हुए सत्य को सत्य लिखने का साहस करते रहे। इनमें अनेक भारतीय विद्वान भी शामिल थे। उन्होंने अपने मत को तथ्यात्मक तरीके से प्रस्तुत कर किया। हम सिन्धु घाटी की सभ्यता के ऐसे ही अनेक तथ्य परक उल्लेखों का आलम्बन लेकर अपना कथन प्रस्तुत करते हैं।

जान मार्शल सिन्धु घाटी की सभ्यता के बारे में उल्लेख करते हैं, 'सिन्धु संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि इन दोनों संस्कृतियों में परस्पर कोई संबंध या सम्पर्क नहीं था वैदिक धर्म सामान्य तथा अमूर्ति पूजक है जबकि मोहन जोदड़ो एवं हडप्पा में मूर्ति पूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहन जोदड़ो के मकानों में हवनकुण्डों का सर्वथा अभाव है' ⁷³ इन अवशेषों में नग्न पुरुषों की आकृतियाँ, मुद्राएँ बहुसंख्या में मिलती हैं, जॉन मार्शल के अनुसार 'वे प्राचीन योगियों की मूर्तियाँ हैं' एक अन्य विद्वान के अनुसार ये मूर्तियाँ स्पष्टतया सूचित करती हैं कि धातु पाषाणकाल में सिन्धु घाटी निवासी केवल योगाभ्यास ही करते थे बल्कि योगियों की पूजा भी करते थे' ⁷⁴

डॉ. राधामुकुन्द मुखर्जी सभ्यता में लिखते हैं 'फलक 12 एवं 118 आकृति (मार्शलकृत मोहन जोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्चया में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा के संग्रहालय में स्थापित तीर्थकर ऋषभदेव की मूर्ति में। वृषभ का अर्थबैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या FGH फलक पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है कि यह ऋषभ का ही पूर्व रूप है' ⁷⁵ विश्वभार सहाय अपनी पुस्तक 'हिमालय में भारतीय संस्कृति' में लिखते हैं 'शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें तो भी यह मानना पड़ता है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनियों का हाथ था। मोहन जोदड़ों की मुद्राओं में जैनत्व बोधक चिह्नों का मिलना तथा वहाँ की योग मुद्रा ठीक जिन मूर्तियों के सदृश होना इस बात का प्रमाण है कि तब ज्ञान और ललितकला में जैनी किसी से पीछे नहीं थे' ⁷⁶ प्रसिद्ध विद्वान श्री वाचस्पति गैरोला इस पुरासम्पदा पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक भारतीय दर्शन में लिखते हैं 'श्रमण संस्कृति' का प्रवर्तक जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है मोहन जोदड़ो से उपलब्ध ध्यानस्थत योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में ब्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया है। धर्म, दर्शन संस्कृति और कला



सिन्धुघाटी की सकृमता के अन्त में भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा।

P-305 - ①



318 :: भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान

की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनियों का विशेष योग है।⁷⁷

प्रो. बैकुण्ठ शास्त्री का कहना है कि 'अपने दिग्म्बर धर्म योग मार्ग वृषभ आदि विभिन्न लोंछों की पूजा आदि धर्म के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है, अतः वह मूलतः अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही'।⁷⁸

डॉ. ज्योतिप्रसाद के अनुसार 'सिन्धु घाटी की मोहन जोदड़ो (मुर्दों का टीला) नाम से विख्यात उक्त सभ्यता (सिन्धुघाटी की सभ्यता) सभ्यमानव की अधुनाज्ञात प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती हैं।⁷⁹ वे आगे लिखते हैं जिस काल में मध्य प्रदेश में उपर्युक्त श्रमण सभ्यता धीरे-धीरे विकसित हो रही थी प्राय. उसी काल में उक्त ऋषभधर्म एवं श्रमण संस्कृति से कर्थंचित प्रभावित विद्याधरों की लौकिकता एवं भौतिकता प्रधान उत्कृष्ट नागरिक सभ्यता का प्रारंभ एक ओर हो रहा था, वे न केवल योगाभ्यास ही करते थे बल्कि योगियों की मूर्तियों की पूजा भी करते थे।⁸⁰

प्रसिद्ध विद्वान रामप्रसाद चन्दा का कथन है कि 'सिन्धु घाटी की प्रसिद्धमुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देव मूर्तियाँ योग मुद्रा में हैं और सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं, बल्कि खड़गासन देव मूर्तियाँ योग की कार्योत्सर्ग मुद्रा में हैं और यह कार्योत्सर्ग (खड़गासन) ध्यान मुद्रा विशिष्टतया जैन हैं। आदिपुराण आदि में इस कार्योत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभया वृषभ के तपश्चरण के संबंध में बहुधा हुआ है। जैन ऋषभ की इस कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़गासन प्राचीन मूर्तियाँ ईसवी सन् के प्रारंभकाल की मिलती हैं।'⁸¹

भारतीय इतिहास में डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, मिश्र की बेबलीलोन सभ्यता और सिन्धुघाटी की सभ्यता से प्राप्त मूर्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते हैं 'प्राचीन मिश्र में प्रारंभिक राजवंशों के समय की दोनों हाथ लटकाए खड़ी मूर्तियाँ मिलती हैं किन्तु इन प्राचीन मूर्तियों में उस देहोत्सर्ग निसंग भाव का अभाव है जो सिन्धुघाटी की मुद्रा में अंकित मूर्तियों में तथा कोयोत्सर्ग मुद्रा से युक्त जिन मूर्तियों में पाया जाता है। ऋषभ शब्द का अर्थ वृषभ है और वृषभ जैन ऋषभदेव का लांछन है।⁸²

प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार न केवल सिन्धु घाटी के धर्म को जैन धर्म से संबंधित मानते हैं वरन् वहाँ से प्राप्त एक मुद्रा (449 क्र.) पर तो उन्होंने 'जिनेश्वर' (जिनेश्वर) शब्द भी अंकित रहा पढ़ा है और जैन आम्नाय की हीं। श्री. कली आदि देवियों की मान्यता भी वहाँ रही बतायी है। वहाँ पर नागफण के छत्र से युक्त योगी योगी की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जो सातवें तीर्थंकर सुपाश्वर की हो सकती हैं इनका लांछन स्वास्तिक हैं और तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वास्तिक एक अत्यंत लोकप्रिय चिह्न दृष्टिगोचर होता है। सड़कें और गलियाँ स्वास्तिक के आकार में मिलती हैं।⁸³

स्वास्तिक जैन धर्म का प्रतीक चिह्न माना जाता है जिसका उल्लेख उड़ीसा की हाथी गुफा के शिलालेख पर हुआ है¹⁴

यह सभ्यता अवैदिक एवं अनार्य ही नहीं वरन् प्रागवैदिक थी तथा इसके पुरस्कर्ता ऋषभ प्रणीत योगधर्म के अनुयायी और श्रमण संस्कृति के उपासक प्राचीन विद्याधर अर्थात् भारतीय द्रविण जाति के पूर्वज थे, ऐसा प्रतीत होता है¹⁵ वहीं पर हमारे देश के कुछ विद्वान् इस सभ्यता के पूर्व विद्वानों के कथन से सहमत नहीं होते। उनका मानना है कि मोहन जोदड़ो सभ्यता के प्राग् आर्य कालीन होने में संदेह करते हैं इनके अनुसार आर्यों का मूल निवास भारत वर्ष में नर्वदा नदी के काठे में और दूसरी सिन्धु नदी की घाटी में हो रहा था¹⁶ लेकिन वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में भारतीय पुरातत्व विभाग की ओर से सिन्धु प्रान्त के लरकाना जिले में तथा पश्चिमी पंजाब के मान्तु गुमरी जिले में जो महत्वपूर्ण खुदाई एवं खोज शोध हुई है, उससे भारत में एक अत्यंत प्राचीन एवं उत्कृष्ट नागरिक सभ्यता के अस्तित्व पर आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ा है। इस सभ्यता के साक्ष्य आग्रहकारी विद्वानों के आग्रह को मटियामेट कर रहे थे। यह साक्ष्य बार-बार द्रविण संस्कृति की अति प्राचीनता की ओर संकेत कर रहे थे जो कि विद्वानों के अनुसार श्रमण संस्कृति को ही शाखा (सहकारी) संस्कृति मानी जाती है।

‘हडपा खण्ड जैनिज्म शोधग्रन्थ में लिखा है कि हडपा की कार्योत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण मूर्ति पूर्ण रूप से जैन मूर्ति हैं उनके मुख पर जैन धर्म का साम्यभाव दूर से झलकता है’। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इसे तीर्थकर ऋषभ की मूर्ति माना है उनके अनुसार पट्टना के पास लोहानीपुर से प्राप्त तीर्थकर महावीर की मूर्ति भारत की सबसे प्राचीन मूर्ति है। हडपा की नग्न मूर्ति और इस जैनमूर्ति में समानता है इसकी विशेषता है योग मुद्रा¹⁷

इसी प्रसंग में बलभद्र जी का मत है कि ‘यदि हडपा काल की सिर विहीन ध्यानमग्न मूर्ति को निर्विवाद रूप से तीर्थकर प्रतिमा होने की स्वीकृति हो जाती है, तो तदाकार प्रतीक का काल इसा पूर्व तीन शताब्दी से कई सहस्राब्दी (300 ईसा पूर्व) पीछे तक जा सकता है’¹⁸

पी.आर. देशमुख सिन्धु घाटी की सभ्यता का मूल स्रोत श्रमण संस्कृति मानते हुए लिखते हैं ‘जैनों के पहले तीर्थकर सिन्धु सभ्यता से ही थे सिन्धु जनों के देव नग्न होते थे जैन लोगों ने उस सभ्यता और संस्कृति को बनाए रखा और नग्न तीर्थकरों की पूजा की’¹⁹

एक अन्य विद्वान् का कथन है कि ये मूर्तियाँ स्पष्टतया सूचित करती हैं कि धातु पाणिकाल में सिन्धु घाटी निवासी ही हैं और सिन्धु सभ्यता आर्य सभ्यता की ही एक प्राथमिक अवस्था है किन्तु मत बाहुल्य इसी पक्ष में है कि सिन्धु सभ्यता

अनार्य ही नहीं थी वरन् वह निश्चयतः द्रविण थी उसकी भाषा धर्म संस्कृति इत्यादि सब द्रविणी थे²⁰

सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्तपुरा सामग्री का कुछ विद्वान् अपने ढंग से आकलन कर प्रस्तुतीकरण करते हैं। राखलदास बनर्जी के अनुसार सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग द्रविण सभ्यता के निर्माता थे²¹ व्हीलर ने भी ऋग्वेद में वर्णित दस्यु अथवा दास को सिन्धु सभ्यता का निर्माता माना है, उनका मानना है कि आर्यों ने इन्हीं दस्युओं से युद्ध किया और उन्हें पराजित कर वे आगे बढ़े और बस गए। वेदों में भी आर्यों और असुरों का वर्णन है, इससे स्पष्ट होता है कि असुर अर्थात् द्रविण ही सिन्धु सभ्यता के निर्माता थे²²

सिन्धु घाटी सभ्यता में ऋषभदेव:

सर जॉन मार्शल का मत है कि 500 वर्ष ईसा पूर्व पंजाब एवं सिन्धु (सिन्धु घाटी की सभ्यता) में आर्यों से पूर्व ऐसे लोग रहते थे। जिनकी संस्कृति उच्च कोटि की थी। मोहन जोदड़ों में 2000-3000 ई. पूर्व की प्राप्त एक मानव मूर्ति अंतिम कुलकर नाभिराय द्वारा ऋषभदेव के राज्याभिषेक की प्रतीत होती है यह राजवंश का प्रतिनिधि चित्र है। प्रस्तुत चित्र वस्त्र एवं केश विन्यास का प्रतिनिधि चित्र है तथा प्रस्तुत वस्त्र एवं केशविन्यास तत्कालीन राज्य परिच्छेद का मानक प्रस्तुत करते हैं²³

डॉ. प्रेम सागर जैन ने अनेक प्रमाणों का उल्लेख करते हुए अपने लेख ‘सिन्धु घाटी में ऋषभयुग’ में लिखा है कि ‘समूची सिन्धु घाटी चाहे मोहन जोदड़ों हो या हडपा ऋषभ देव की थी, उनकी ही पूजा अर्चना होती थी।

इसी प्रकार सिन्धु घाटी सभ्यता से प्राप्त अन्य प्रतिमाओं के बारे में भी विद्वान् जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का ही आधार लेते हैं, एक विद्वान् चित्रों के आधार पर व्याख्या करते हुए ‘मोहनजोदड़ों में उपलब्ध एक ध्यानस्थ मूर्ति ऋषभदेव की मानी गयी है। इस मुद्रा के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि आदि ऋषभनाथ दिग्म्बर एवं ध्यानमुद्रा में योग मग्न हैं सिर पर त्रिशूल सम्पर्दर्शन सम्यक ज्ञान एवं चारित्र रूपी रत्नत्रय का प्रतीक है। मृदु बाणी देशना का प्रतीक लता का एक पत्र मुख के पास निर्मित है, फलित कल्पवृक्ष से परिवेष्टित तीर्थकर ऋषभदेव के भक्तों को फल प्रदान करने का प्रतीक है’²⁴

डॉ. विशुद्धानंद पाठक एवं डॉ. जयशंकर प्रसाद जी सिन्धुघाटी सभ्यता में ऋषभदेव के साथ 22 वे तीर्थकर नेमिनाथ की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनका मत है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता में प्राप्त योगमूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मंत्र ऋषभदेव और अरिष्टनेमि जैसे तीर्थकरों के नाम उस विचार के मुख्य आधार हैं²⁵

पद्मश्री से सम्मानित रामधारी सिंह दिनकर ऋषभदेव को योग के साथ

शिव को जोड़ते हुए सिन्धुघाटी की सभ्यता से प्राप्त प्रतिमाओं के बारे में लिखते हैं। मोहनजोदड़ों की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन धर्म के आदितीर्थकर ऋषभदेव थे, इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अनुपयुक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखत होने पर भी वेद पूर्व हैं⁹⁶

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ऋषभदेव जैनों श्रमण संस्कृति के आदिम तीर्थकर हैं। सर्वप्रथम योग के दर्शन ऋषभदेव के ही साथ होते हैं अर्थात् ऋषभदेव ने योग का आलम्बन लेकर तीर्थकर पद प्राप्त किया, यहीं जैन परम्परा भी है। इस प्रकार कहा जा सकता है सिन्धुघाटी की सभ्यता में योग का ऐतिहासिक स्वरूप निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है, यह योग ऋषभदेव से प्रारंभ होता है,

महावीर के पश्चात् भी यह योग जैन धर्म में समाहित तथा होता है। ऋषभदेव वैदिक संस्कृति से बहुत दूर श्रमण संस्कृति के पुरोहा होने पर भी वैदिक संस्कृति में मान्य एवं पूज्यता को प्राप्त है, हठयोग प्रदीपिका में तो ऋषभदेव से मंगलाचरण आरंभ होता है।

डॉ. जयदेव विद्यालंकार अपनी पुस्तक वैदिक संस्कृति में वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति की तुलना करते हुए लिखते हैं, इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मोहन जोदड़ों की खुदाई में योग के प्रमाण मिलते हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थकर श्री ऋषभदेव थे जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयी⁹⁷

प्रो. रामप्रसादचन्दा ने शिव प्रतिमा का आधारभूत आलम्बन त्रिशूल को जैन श्रमण संस्कृति से जोड़कर एक ऐतिहासिक नवीन सत्य को उद्घाटित किया उनका मानना है कि 'ऋषभ जिनकी मूर्तियों पर मुकुट में त्रिशूल चिह्न बनने की प्रथा रही है खण्डगिरि की जैन गुफाओं में एवं मथुरा के कुषाण कालीन जैन प्रतीकों पर आदि में त्रिशूल चिह्न मिलता है, जो मोहन जोदड़ों के सिन्धुघाटी सभ्यता के चित्र के अनुकूल ही है। जैन प्रतीकों में त्रिशूल की विशेषता यह है कि वह रत्नात्रय, सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यक चारित्र का द्योतक है, उसके द्वारा अपने कर्मों को छेदा जाता है। अतएव अनेक विद्वानों द्वारा त्रिशूल युक्त मोहनजोदड़ों की मुद्राओं को जैन धर्म के चिह्न मानना वास्तविक प्रमाणों पर आधारित है'⁹⁸

विद्वानों को यह स्वीकार करने में किंचित् भी संकोच नहीं है कि सिन्धुघाटी सभ्यता का संबंध जैन संस्कृति से है कुछ विद्वान तो सिन्धुघाटी की सभ्यता का सम्बन्ध जैन संस्कृति से है, कुछ विद्वान तो सिन्धुघाटी की सभ्यता स्वीकार करते हैं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त कायोत्सर्ग नग्न मुद्रा का चिह्न और बैल का चिह्न दोनों ही महायोगी ऋषभनाथ की प्रतिमा को जैन सिद्ध कर रहे हैं, जैनों के प्रथम तीर्थकर

ऋषभनाथ आत्मविद्या के आदि प्रवर्तक रहे⁹⁹

डॉ. राधामुकुन्द मुखर्जी का मानना है, सिन्धुघाटी सभ्यता से प्राप्त प्रतिमा में फलक 12 और 118 आकृति 7 कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े देवताओं को सूचित करती है, यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है जैसे - मथुरा संग्रहालय में स्थापित ऋषभदेव की मूर्ति में¹⁰⁰ यद्यपि जैन संस्कृति के ग्रंथ एवं मान्यताएँ प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव को सिन्धु सभ्यता से लाखों वर्ष पूर्व का स्वीकार करती है।

डॉ. रामप्रसाद चन्दा का मानना हैं कि सिन्धुघाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देव मूर्तियाँ योग मुद्रा में हैं और उस सुदूर अतीत में सिंधुघाटी में योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती है बल्कि खड्गासन मूर्तियाँ भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं यह कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा विशिष्टतया जैन है। आदि पुराण आदि में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या वृषभदेव के तपश्चरण के संबंध में बहुधा हुआ है। ऋषभ देव की इस कायोत्सर्ग मुद्रा में (खड्गासन मुद्रा) में प्राचीन मूर्तियाँ ईसवी सन् के प्रारंभ काल की मिलती हैं।¹⁰¹

प्रो. एस. श्रीकंठ शास्त्री बतलाते हैं कि अपने दिग्म्बर धर्म योगमार्ग वृषभ आदि की पूजा आदि के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अन्तर्भूत सादृश्य रखती है, अतः यह अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।¹⁰²

डॉ. रमेशचंद्र जैन द्वारा हड्पा से प्राप्त मोहरों पर अपने शोध 'सञ्जेक्ट मेटर ऑन दि हड्पन इंस्क्रिप्शन्स' में लिखा कि 'सील क्रमांक 2410, 100401, में व्रात्य धर्म स्वसंग जो व्रात्य या धर्म पुरुष अकेला है जिसने सब बंधनों को त्याग दिया है, अकेला है, यह विशेषण प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव सहित अन्य तीर्थकरों पर अक्षरशः लागू होते हैं।' छोटे सींग वाले सांड का चित्र (सील) पर ऋषभदेव के प्रतीक के रूप में अंकन किया गया है। सील क्रमांक 4303, 216001 सत/सुतज (द्व) व्रत यह ऋषभ पुत्र जड़ भरत चित्रित है। सील क्रमांक 4318, 210001 प य भर (ण) पर उकेरा गया चित्र सौम्य भाव लिए नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है। चित्र का सम्पूर्ण वातावरण जैनों के समान श्रमणिक प्रतीत होता है। सील क्रमांक 2222, 1004701 य शासन कृत। सींग धारण किये हुए एक व्यक्ति तख्त जैसे आसन पर विराजमान है चित्र योग साधन में रत एक व्यक्ति का है। सील क्रमांक 4307, 210001 य रह गण्ड ग्रन्थि चित्र में जैनों के समान श्रमणिक परम्परा के एक मुनि की चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होती है।¹⁰³

वास्तव में हमें सिन्धुघाटी सभ्यता से जो पुरा सामग्री प्राप्त हुई है, वह समस्त सामग्री यह प्रदर्शित नहीं करती कि सिन्धुघाटी की सभ्यता के लोगों के धार्मिक आस्था की ही सामग्री थी और वे उसकी वैसी ही पूजा करते थे जैसे कि

आज हम लोग पूजा करते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्राप्त पुरासामग्री उनकी संस्कृति का अंग अवश्य थी और उसका वे उसी प्रकार उपयोग करते थे जैसी उस समय की सांस्कृतिक सामाजिक व्यवस्था थी सभ्यता: हमारी काल्पनिक आस्था से परे। हम आग्रह से मुक्त होकर उस काल की सभ्यता का आकलन तथ्यों के आधार पर करें प्रमाणन के आधार पर करें तो उस सभ्यता के साथ न्याय कर सकेंगे देश के इतिहास के साथ भी न्याय कर सकेंगे।

दुर्भाग्यपूर्ण है कि कुछ लोग देश की सांस्कृतिक विरासत के साथ युद्ध कर रहे हैं, देश की सांस्कृतिक विरासत को बचाने के लिए, संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के लिए सत्य को पहचानना, सत्य को सत्य स्वीकार करना उसको अन्तस में उतारना और सत्य के अनुरूप ही कार्य करना तथा कथन करना उसके मंतव्य को प्रकट करना आवश्यक है।

देश विदेश के अनेक आग्रह रहित विद्वानों के मंतव्यों के आधार पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता की संस्कृति वैदिक संस्कृति से पूर्णतया भिन्न थी। यह संस्कृति शाकाहारी अहिंसक और मूर्तिपूजा की प्रेषक संस्कृति रही, कुछ विद्वानों का मानना है कि यह द्रविण संस्कृति से मिलती, जुलती संस्कृति थी एवं द्रविण संस्कृति को श्रमण संस्कृति की ही एक शाखा माना जाता है।

मिश्र सभ्यता में दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति का प्रभाव :

सिन्धु घाटी की सभ्यता के साथ ही मिश्र देश में भी अति प्राचीन सभ्यता की खोज की गयी। यह सभ्यता मिश्र की महान नदी नील नदी के किनारे-किनारे विकसित हुयी थी। इतिहासकार पुरातत्वविदों एवं वैज्ञानिकों का मानना है कि इस सभ्यता का काल लगभग 3400 ई.पू. का रहा होगा। यह अतिविकसित सभ्यता मानी जाती है। तथा कुछ विद्वान इसका काल 3400 ई. पू. से 1447 ई. पू. तक मानते हैं।

इस सभ्यता में रोजीटा के शिलालेख, विशालकाल पिरामिड, भव्य अबूसिम्बल एवं लक्ष्मर के मंदिर, स्फिंक्स की मूर्ति (मनुष्य का मुख एवं शेर का शरीर), ममी (अति सुरक्षित मृत देह के बॉक्स) कर्नाक के भव्य मंदिर, लियो पोलिस में 'रे' देवता के मंदिर भी विश्व विख्यात हैं।¹⁰⁴ विद्वानों के मतानुसार (मिश्र में) जो 'रो' 'रे' 'होरस' नाम से जो देवता जाने जाते हैं, वह जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के ही अपरनाम हैं। मिश्र की प्राचीन मान्यता में दिगम्बरत्व को विशेष आदर मिलता दृष्टव्य होता है। प्राचीन काल में मिश्र में नग्न मूर्तियाँ भी बनाने के उल्लेख प्राप्त हुए हैं¹⁰⁵।

ऋषभदेव को ऐश्वर्या के अलग-अलग क्षेत्रों, अलग-अलग नामों से

प्रतिस्थापित किया गया था, मध्य ऐश्वर्या वाडगल, जापान में 'रोकसेव', साईप्रस से प्राप्त 12 वीं सदी की 'अपोलो' की (सूर्य की) मूर्ति पर प्रो. हर्षे ने 'रोषेक' शब्द पढ़ा है। उनके अनुसार यह 'रोशेक' ऋषभदेव का ही नाम है। महामानव ऋषभदेव वर्षा के देवता, सूर्य के देवता, कृषि के देवता के रूप में विश्व प्रसिद्ध रहे। अतः मिश्र की प्राचीन सभ्यता में ऋषभदेव का प्रभाव निश्चित रूप से रहा।¹⁰⁶

प्राचीन काल से ही भारत के अच्छे व्यापारिक संबंध थे इस कारण दोनों देशों के बीच लोगों का आवागमन सहज रूप से होता रहता था। भारत की पूजा पद्धति एवं मूर्ति निर्माण कला से मिश्र के लोग अवश्य प्रभावित रहे होंगे। इस प्रकार तथ्यों के आधार पर यह संकेत तो अवश्य ही मिले हैं कि मिश्र सभ्यता की वास्तुकला पर दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति का प्रभाव रहा है। मिश्र में भारतीय शैली की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। मिश्र सभ्यता के निवासी जैन धर्म के समान ही ईश्वर ही ईश्वर को जगत का कर्ता नहीं मानते थे, वे पूर्णतः शाकाहारी रहे।¹⁰⁷

जिस काल में भारत में पत्थर, लकड़ी, हाथी दांत, सोना, तांबा, कांसा की मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, उसी काल में मिश्र में पत्थर, लकड़ी, हाथी दांत, सोना, तांबा, कांसा की मूर्तियाँ बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁰⁸

प्राचीन काल में मिश्र के राजा सूर्यवंशी कहलाते थे, सूर्यवंशी प्राचीन भारतीय कुलों में प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल सूर्यवंशी भी माना जाता है, इस वंश के अनेक राजाओं ने जैनधर्म का अवलम्बन लेकर अपना मोक्ष पथ भी प्राप्त किया।

मेसोपोटामिया सभ्यता में श्रमण संस्कृति का प्रभाव :

सिन्धु घाटी की सभ्यता और मिश्र की सभ्यता की ही तरह विश्व में मेसोपोटामिया सभ्यता भी अति प्राचीन सभ्यता प्राप्त हुई है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में दजला फरात नदियों के मध्य सर लियोनार्ड वूलो ने इराक के प्राचीन नगर 'उर' में उत्खनन कराया। इस खनन में मिट्टी की तरिख्याँ भवन मंदिर एवं कलात्मक वस्तुएँ अनेक आकारों में प्राप्त हुई हैं। 1901 में फारसी तथा बेबीलोनियन भाषा में काले पाषाण पर अंकित शिलालेख प्राप्त हुआ था जिस पर बेबीलोनियन की प्राचीन कानून संहिता अंकित है। अतः शिलालेख, भवन, मंदिर एवं प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन से उस काल की संस्कृति के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है।

प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस सभ्यता के विकास के सुमेरिया, बेबीलोनिया, असीरिया और कालिड्यन चार केन्द्र रहे। पुरासम्पदा के आधार पर इन चार केन्द्रों के अध्ययन के आधार पर इस सभ्यता को 'मेसोपोटामिया' की सभ्यता नाम दिया गया। 'मेसोपोटामिया' को युनानी भाषा में 'जल के मध्य का क्षेत्र' कहा जाता है। चूंकि यह सभ्यता इराक देश के दजला फरात नदियों के मध्य में विकसित हुई थी

इसलिए इस सभ्यता का ‘मेसोपोटामिया’ नाम पड़ गया।¹⁰⁹

‘मेसोपोटामिया’ के मंदिर की संरचना एवं मंदिर का नाम स्पष्ट संकेत देता है कि इस सभ्यता का धार्मिक वातावरण अति प्राचीन काल से ही जैन श्रमण संस्कृति से प्रभावित रहा। कालान्तर में इस सभ्यता में बलिप्रथा जैसी विकृति उत्पन्न हो गयी।

‘मेसोपोटामिया’ सभ्यता में देवालय का निर्माण कृत्रिम पहाड़ी बनाकर उस पर ईंटों से मंदिर का निर्माण किया जाता था, यह मंदिर कम से कम 20 मीटर ऊंचा बनाया जाता था। इसमें तीन मंजिले होती थीं यह क्षेत्र पूर्णतः पवित्र क्षेत्र कहलाता था तथा इसे स्वर्ग की पहाड़ी कहा जाता था। ऊंचाई के कारण यह कई मील दूर से दिखायी देता था। मंदिर के चारों ओर लोग निवास करते थे, इस मंदिर को जिगुरात का मंदिर या जिगुराती का मंदिर कहा जाता था। बेबीलोन ने जिगुरात का मंदिर 660 फुट ऊंचा है। प्रत्येक नगर में इस प्रकार के जिगुरात मंदिर बनाए जाते थे।¹¹⁰ जिगुरात शब्द का क्षेत्रान्तर एवं कालान्तर के कारण संभवतः ‘न’ शब्द लोप हो गया है, यदि इसमें ‘न’ को मिला दे तो ‘जिनगुरात’ या ‘जिनगुराती’ शब्द बन जाता है, जो कि स्पष्टतः जैन धर्म की शब्दावली ‘जिन’ में शामिल हो जाता है। ‘गुरात’ शब्द उस काल की प्रचलित भाषा में सुमेरियन अथवा ऐसे ही किसी क्षेत्र विशेष का सूचक रहा होगा। जैसे हमारे देश में ‘कलिंग जिन’ शब्द प्रचलित रहा।

प्राचीनकाल में ‘मेसोपोटामिया’ शब्द का या सुमेरियन सभ्यता का सिन्धु घाटी की सभ्यता के व्यक्तियों का आपस में आवागमन एवं व्यापार सिद्ध हो चुका है बहुत संभव है उनके बीच में पारिवारिक रिश्तेदारियाँ एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी होता रहा हो। उसी के प्रभाव से वहाँ जिगुराती मंदिर का निर्माण किया गया होगा। जिगुराती मंदिर की निर्माणकला दिगम्बर जैन संस्कृति में वर्णित भगवान के समवशरण जैसी ही है। समवशरण में तीन कटनी (Stap) के ऊपर तीर्थंकर विराजमान होने का उल्लेख प्राप्त होता है। पूर्वकाल में श्रमण संस्कृति के जिन मंदिर के निर्माण का उल्लेख करते हुए बलभद्र लिखते हैं ‘प्रारंभ में प्रकृत भूमि से कुछ ऊंचे स्थान पर देवमूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारों ओर वेदिका का निर्माण होता था। ‘तथा’ प्रारंभ में देवायतन सीधे-साथे रूप में बनाए जाते थे।¹¹¹ प्राचीन जिन मंदिरों के बारे में बलभद्र के इस कथन तथा मेसोपोटामिया सभ्यता के जिगुराती मंदिर में सादृश्यता एवं समानता झलकती है तथा ‘जिगुरात’ देवालय में तीन मंजिल या तीन स्टेप की सादृश्यता जिनेन्द्र भगवान के समवशरण जैसी है। समवशरण की भूमियों की तरह ‘जिगुराती’ की पहाड़ी भूमि भी पवित्र मानी जाती है। इस पहाड़ी को ‘स्वर्ग पहाड़ी’ नाम दिया गया। इस पवित्र क्षेत्र में ‘सूर्यदेवता’ के नाम से मूर्ति स्थापित की जाती थी पश्चातोत्तर में वर्षा के देवता, कृषि के देवता आदि नामों से भी अनेक देवताओं के देवालय बनाये जाने लगे। इन सब देवताओं के नाम से मूर्ति एक ही महापुरुष की रही होगी। प्रसिद्ध

पादरी रेवरे एण्ड जे.बी. डुबोई के अनुसार ‘कृषि के देवता के रूप में वर्षा के देवता के रूप में सूर्य देवता के रूप में ऋषभ देव प्रसिद्ध रहे’। प्रो. आर. जी हर्षे तो अपना अनुभव और आगे तक बांटते हैं। ‘सांईप्रेस से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की मूर्ति पर ‘रेषेक’ शब्द अंकित है, यह रेषेक ऋषभ का ही नाम है।¹¹²

‘मेसोपोटामिया’ सभ्यता के काल की दृष्टि से विभाजन किए जा सकते हैं, प्रथम बेबीलोनिया सभ्यता जिसके आधार पर मेसोपोटामिया अथवा सुमेरियन सभ्यता का वर्णन किया गया है। द्वितीय बेबीलोनिया की पश्चात् वर्ती अस्सीरिया की सभ्यता इस सभ्यता के लोगों के देवता असुर, मार्दुक, ईश्वर आदि नाम के देवताओं की पूजा करने लगे थे। ‘असुर’ आदि शब्दों का उल्लेख वैदिक संस्कृति के वेदों में आर्यों के शत्रु के रूप में किया जाता था एवं असुर शब्द का उल्लेख सिन्धु घाटी की सभ्यता के परिपेक्ष्य में लिया जाता है। डॉ. पंकज शर्मा ने इस प्रसंग में राखलदास बनर्जी एवं व्हीलर जैसे विद्वानों को उद्धरित किया है।¹¹³ वेदों में आर्यों और असुरों के युद्धों का वर्णन है, इससे स्पष्ट होता है कि असुर अर्थात् द्रविड़ ही सिन्धु सभ्यता के निर्माता थे।¹¹⁴ मेसोपोटामिया सभ्यता का ही एक भाग रही अस्सीरिया सभ्यता में असुर शब्द देवता के रूप में श्रेष्ठता एवं पूज्यता को प्राप्त हुआ है जो स्पष्ट संकेत देता है कि श्रमण संस्कृति के पोषक को, वैदिक संस्कृति में असुर शब्द से अपना विरोधी स्वीकार किया गया वही इस सभ्यता में देवता के रूप में पूज्य माना गया है।

उपर्युक्त उद्धरण को असीरियन सभ्यता, सिन्धुघाटी सभ्यता एवं श्रमण संस्कृति के तालमेल के संदर्भ में देखा जाना आवश्यक है। इराक की मेसोपोटामिया या सुमेरियन सभ्यता की बेबीलोनिया एवं अस्सीरिया सभ्यता सिन्धु घाटी की संस्कृति से अत्यन्त प्रभावित थी तथा सिन्धुघाटी की सभ्यता श्रमण संस्कृति के अति प्रभाव वाली संस्कृति थी और लगभग वैसी ही संस्कृति मेसोपोटामिया सभ्यता की रही।

ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक तथा पौराणिक उल्लेखों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की मान, प्रतिष्ठा सम्पूर्ण एशिया में थी। इस प्रकार विद्वानों के अभिमत के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं। संपूर्ण एशिया दक्षिण अफ्रीका का उत्तरी भाग मिश्र आदि देशों में ऋषभदेव की ही मूर्ति बनाकर उनके अनेक नाम प्रतिष्ठापित किए गए। लेकिन इस विषय पर ओर अधिक शोध की आवश्यकता है।

यूनान में जैन धर्म का प्रभाव एवं दिगम्बर प्रतिमाएँ:

भारतीय संतों का प्रभाव उन सभी देशों में पहुँचा जिन देशों के नागरिकों का आवागमन भारत में हुआ अथवा भारतीय संतों ने जिन-जिन देशों में बिहार किया। प्राचीन समय से भारत और युनान के बीच में मनुष्यों का आवागमन होता रहा। इतिहास स्वीकार करता है, कि 375 ईसा पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन के

प्रारंभिक वर्षों में ही युनान का शासक सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के इच्छा से आया उसने भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर आक्रमण कर दिया। तथा विजय प्राप्त करता हुआ वह 'तक्षशिला' तक आ पहुँचा तो 'वहाँ उसने दिगम्बर मुनियों की बहुत प्रशंसा सुनी तो सिकन्दर ने अपने दूत, अन्स्कृतस को मुनियों के पास भेजा उसने देखा कि तक्षशिला के उद्यान में बहुत से नंगे मुनि तपस्या कर रहे हैं, उनमें से एक मुनि कल्याण ने अन्स्कृतस से कहा था कि यदि तुम हमारे तप का रहस्य जानना चाहते हो तो हमारी तरह दिगम्बर हो जाओ।¹¹⁵ 'सिकन्दर दिगम्बर मुनियों से बहुत प्रभावित हुआ। उसने चाहा कि इनका ज्ञान ध्यान और तपोव्रत का प्रकाश मेरे देश में भी पहुँचे, उसकी इस शुभकामना को कल्याण मुनि ने पूरा किया। जब सिकन्दर संसैन्य युनान को लोटा तो कल्याण मुनि उसके साथ जाने को तैयार हो गये। 'यूनान को जाते हुए मार्ग में बाबिलन स्थान पर जून 323 ईसा पूर्व, दिन के तीसरे पहर 32 वर्ष 8 मास की आयु में महान् विजेता सिकन्दर मृत्यु की गोद में सो गया। उसकी इस मृत्यु की भविष्यवाणी पहले ही कल्याण मुनि ने की थी। अंतिम समय सिकन्दर ने कल्याण मुनि के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की और कल्याण मुनि ने उसे दर्शन दिये और धर्म उपदेश दिया। अपना अन्त समय जानकर उन्होंने (कल्याण मुनि) सल्लेखना व्रत का पालन किया था।¹¹⁶ कल्याण मुनि ने आयु के अन्त में शान्तिमयी समाधि के साथ प्राण-त्याग किया। उनका शव बड़े सम्मान के साथ चिता पर रखकर जलाया गया। एथेन्स नगर में कल्याण मुनि के चरण चिह्न प्रसिद्ध स्थान पर अभी भी अंकित हैं।

कल्याण मुनि ने सिकन्दर को मृत्यु की भविष्यवाणी पूर्व में ही कर दी थी। अतः इसकी घटनाओं से भारतीय सन्तों, दिगम्बर मुनियों की शिक्षा का प्रभाव युनानियों पर विशेष पड़ा था। यहाँ तक कि तत्कालीन डायजिनेश नामक युनानी तत्ववेत्ता ने नग्न वेश धारण किया और युनानियों ने नग्न मूर्तियाँ भी बनवाई थीं। 'युनानी लेखकों के कथन से बैकिट्रया, इथ्यूपिया नामक देशों में दिगम्बर जैन श्रमणों के बिहार का पता चलता है। ये श्रमण दिगम्बर जैन ही थे क्योंकि बौद्ध श्रमण तो अशोक के उपरान्त ही विदेशों में पहुँचे थे'।¹¹⁷

दैनिक भास्कर 12 जनवरी 2017 में एक विशेष फोटोग्राफ सहित समाचार पत्र प्रकाशित हुआ था 'इजिप्ट के भूमध्यसागर में समुद्र के अन्दर प्राकृतिक आपदा के कारण हजारों साल पहले जिस शहर (हेराल्लियन) का नामों निशान मिट गया था 1200 साल बाद उस शहर के इन अवशेषों को बाहर निकाला जा सका। समुद्र के अंदर से जो फोटो प्रकाशित हुआ है उन फोटो में जैन प्रतिमाओं की झलक स्पष्टतः दिखाई देती है।'

ग्रीक भाषा में मेगस्थनीज के द्वारा प्रयुक्त शब्द, 'जिम्नोसोफिस्ट' का अर्थ

जैन दिगम्बर मुनियों से है जो कि दिगम्बर जैनियों के (निगण्ठ) निर्गन्धों के लिए लागू हैं। इसामसीह से सौ वर्ष पूर्व काल के एक कलेण्डर के टुकड़े मिलेट में पाये गये। उससे भारतवासी कालानस जैन मुनि द्वारा मौसमों के बारे में की गयी भविष्यवाणियों का पता चलता है।'

मंगोलिया में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ :

मंगोलिया के भूगर्भ से अनेक जैन स्मारक तथा कई खण्डित जैन प्रतिमाएँ और जैन तोरण मिले हैं, जिनका पुरातात्त्विक विवरण 'बम्बई समाचार में प्रकाशित हुआ था'।¹¹⁸

श्रीलंका में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

श्रीलंका में दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत श्रीलंका से सम्बन्धित कथाएँ प्राचीनकाल से चली आ रही हैं, बीसवें तीर्थकर मुनिसुब्रतनाथ के काल में श्रीलंका में श्रीराम के समय में रावण विभीषण आदि भी जैन धर्मावलंबी विद्याधर थे। वे जिनेन्द्र देव की भक्ति पूजा करते थे तथा अनेक विद्याओं के स्वामी थे। ऐसे कथन पद्मपुराण सहित अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं, पूर्व में भी उल्लेखित किया गया है विभीषण के महल में दिगम्बर प्रतिमाएँ थीं।

'ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होता है कि 'ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में सिंहल नरेश पाण्डुकाभव ने वहाँ के राजनगर अनुरुद्ध में एक जैन मंदिर और जैनमठ बनवाया था।'¹¹⁹ निग्रन्ध साधु वहाँ पर निर्वाध विहार करते थे। इक्कीस राजाओं के राज्य तक वह जैन मन्दिर, विहार और मठ वहाँ मौजूद रहे थे। किन्तु ईसा पूर्व 38 में राजा वट्टगमिनी ने उनको नष्ट कराकर उनके स्थान पर बौद्ध विहार बनवा दिया था।¹²⁰ बौद्धग्रंथ 'महावंश' से ज्ञात होता है कि वर्तमान सीलोन (सिंहल) की प्राचीन राजधानी अनुराधपुर (अनुरुद्धपुर) में जैन मंदिर था। श्रीलंका के उत्तर में जैन धर्म के प्रमाण मिलते हैं ईसवी सन् के प्रारंभिक काल में केरल में जैन संस्कृति का स्वर्ण युग माना जाता है, यहाँ जैन मुनियों की तपस्थली के रूप में अनेक गुफाएँ आज भी पाई जाती हैं।'

श्रीलंका में एक पर्वत का नाम अट्टि पब्त (पर्वत) है, एक समय केरल श्रीलंका से (थल मार्ग से जुड़ा हुआ था) 'अरिष्टेमि और जैनमुनि इसी रास्ते से श्रीलंका आते-जाते रहे होंगे। केरल का एक संपूर्ण गांव ही यादववंशी है और जैन धर्मावलंबी रहा है।'¹²¹

महावंश के अनुसार महात्मा बुद्ध श्रीलंका में भ्रमण के लिए इसलिए निकले थे कि वहाँ के 'यक्ष' निवासियों को बाहर निकालकर बुद्ध धर्म की स्थापना

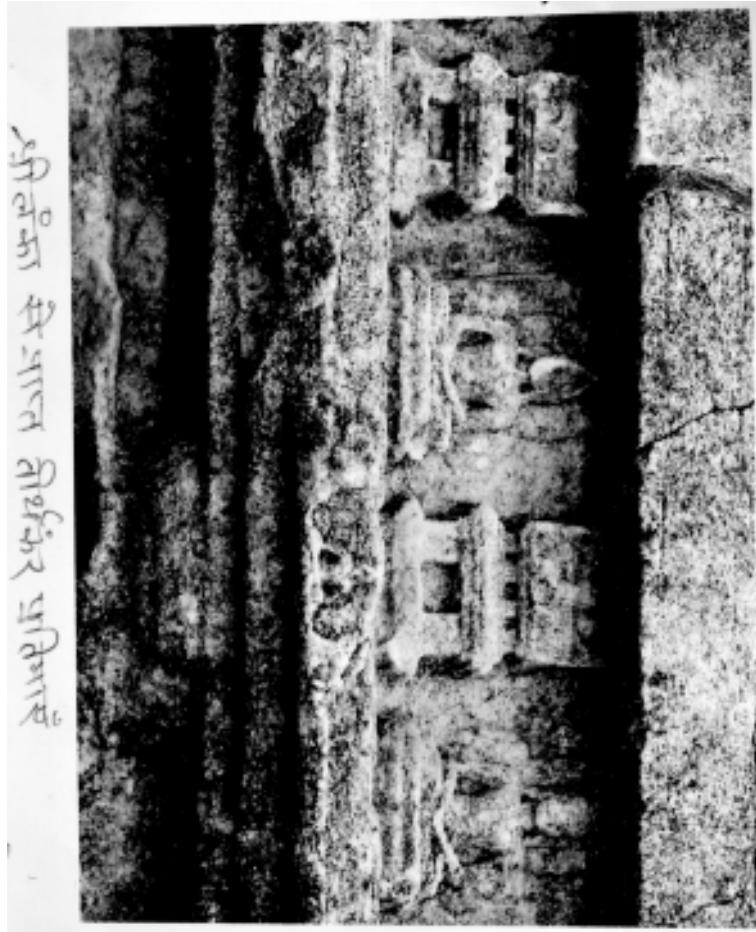
करें। वहाँ के यक्षों के रीति रिवाज जैन धार्मिक परंपराओं के अनुसार थे। ये यक्ष विद्याधर और निग्रन्थ कहलाते थे। इन यक्षों का नागवंशियों से संबंध था जो जैन धर्मानुयायी थे। महावंश के प्रथम अध्याय में यक्ष और नागवंशी को जैन धर्म का अनुयायी कहा है। नागवंशी पाश्वनाथ के कुल के माने जाते हैं। महावंश में वृषभ, भद्रशाल जैसे नामों से जैन संस्कृति का ही बोद्ध होता है। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि किंकिधा नगर के पास रावण द्वारा निर्मित एक जैन मंदिर था जिसे रावण ने मन्दोदरी की इच्छा पूर्ति के लिए बनवाया था।¹²² ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि भगवान पाश्वनाथकी प्रतिमा जो वर्तमान में सिंधुपुर (वसीम) में है, माली-सुमाली के द्वारा श्रीलंका से लाई गयी थी।¹²³ 'तिरुअनन्तपरमपुरम स्थित गुफा के शिलालेख से भी स्पष्ट होता है कि इसा पूर्व पहली दूसरी शताब्दी तक जैन धर्मावलम्बी रहते थे जिनका अस्तित्व तीसरी शताब्दी तक रहा था'।¹²⁴ इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीलंका में बौद्ध धर्म की स्थापना के पूर्व जैन धर्म बहुप्रचलित धर्म था।

अफगानिस्तान में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

अफगानिस्तान 3ंग्रेजी शासन के पूर्व मध्यकाल में कपिसा के नाम से जाना जाता था, यह कपिसा भारत का ही एक अंग था तथा गान्धार कन्दहार एवं ईरान का पूर्वी भाग भारत के ही अंग थे। गान्धार का पौराणिक उल्लेख रामायण एवं महाभारतकाल आदि ग्रंथों में में भी बहुत बार हुआ है, अफगानिस्तान को गान्धार, कम्भोज, वाल्हाक, कपिसा, उरसि नाम प्राप्त होते हैं। वह देश सिन्धु नदी व कश्मीर के पश्चिम स्थित है इसकी प्राचीन राजधानी पुष्ट रवर्त और पुरुष पुर पेशावर थी।¹²⁵ उपर्युक्त नामों से अफगानिस्तान की प्राचीनकाल में पहचान थी। उपर्युक्त प्राचीन नाम दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति का धरोहर क्षेत्र रहे, जहाँ पर यह संस्कृत खूब फली-फूली, पश्चात्वर्ती काल में यवनों के आक्रमण से भूमि आक्रान्त हो गयी और संस्कृति की अवनति होना प्रारंभ हो गयी साम्प्रदायिक कट्टरता तथा कालातंर में देखरेख के अभाव में इस क्षेत्र की मूल संस्कृति विलुप्त एवं विकृत होती गयी आज भी अफगानिस्तान में जैन प्रतिमाएँ अस्त-व्यस्त अवस्था में दृष्टव्य हो जाती है। तक्षशिला अफगानिस्तान में मानी जाती है, सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् लगभग 194 ई.पू. में शकों ने पुनः उत्तर पश्चिम भारत पर कब्जा कर लिया और उन्होंने अपना क्षत्रप प्रांतीय शासक नियुक्त करके शासन किया था। इनमें राजा अजेश के समय में तक्षशिला में जैन धर्म उन्नति पर था, उस समय के बने हुए जैन स्मारक स्तूप आज भी तक्षशिला में भग्नावेश हैं।¹²⁶

पाकिस्तान में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

स्वतंत्रता के पूर्व पाकिस्तान भारत का ही एक अंग था देश के पश्चिमोत्तर भाग होने के कारण यहाँ पर यवनों के आक्रमण से यह क्षेत्र आक्रांत होता रहा और





332 :: भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान

मूल भारतीय संस्कृति नष्ट होती गयी, तो भी इस क्षेत्र के विशेष स्थानों की प्रसिद्धि को इतिहास को उदघासित करता आ रही है।

तक्षशिला के आस-पास जो कि श्रमण संस्कृति की प्राचीन उन्नति का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान के क्षेत्र में ही आता है। मोहन जोदड़ो की खुदाई में श्रमण संस्कृति के अनेक ऐतिहासिक पुरातात्त्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं, सर जॉन मॉर्शल ने 1912-22 के मध्य में भोर का टीला नामक स्थान का उत्खनन कराया जिससे उस स्थान पर प्राचीन नगर के ध्वंशावशेष प्राप्त हुए विद्वानों ने इसी स्थान को 'तक्षशिला' माना है यही स्थान तक्षशिला के नाम से प्रसिद्ध रहा। रामस बार्हस्पत्य ने अर्थास्त्र की भूमिका में उल्लेख किया है कि तक्षशिला प्राचीन काल में जैनों की तीर्थस्थली रही। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रंथ में उल्लेख है तक्षशिला के अंतर्गत 105 जैन तीर्थ बनाये गये थे क्षेत्र में अनेक जैन मंदिर होने के कारण इसे 'तीर्थमाला धर्मचक्र' भी कहा गया है।¹²⁷

यद्यपि तक्षशिला संसार में बौद्ध संस्कृति के धर्मकेन्द्र के नाम से विख्यात है लेकिन विद्वानों का मत है कि तक्षशिला पूर्व बौद्धकालीन नगर था जो महात्माबुद्ध के पहले से ही जैन संस्कृति का केन्द्र था। पाकिस्तान में आज भी अनेक जैन मंदिर विद्यमान हैं जो कि देखरेख के अभाव में जीर्णशीर्ण अवस्था में विद्यमान हैं।

नेपाल में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

गत कुछ शताब्दियों से ही यह क्षेत्र 'नेपाल देश' संज्ञा को प्राप्त हुआ है। प्राचीन काल से यह भारत का ही अंग रहा है। यह क्षेत्र लिछ्वी क्षत्रियों का ही राज्य रहा जो कि 7 वीं शताब्दी के मध्य तक चलता रहा। महात्मा बुद्ध का जन्म लुम्बिनी में हुआ था जो भारत वर्ष का ही अंग था। विद्वानों के अनुसार लुम्बिनी नेपाल में रहा है। समुद्र गुप्त के शिलालेख में नेपाल राज्य का उल्लेख पाया गया है। गत कुछ दशक पूर्व नेपाल में जैन प्रतिमाएँ एवं शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिस पर सम्बत 498 अंकित है। बागमती के किनारे पाटन के शंखमूल स्थान से चन्द्रप्रभ भगवान की लगभग 1400 वर्ष प्राचीन प्रतिमा प्राप्त हुई है। 'पशुपतिनाथ के क्षेत्र में भी अनेक जैन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

तिब्बत में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

श्रमण संस्कृति के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का मोक्ष कैलाश पर्वत से हुआ था यह कैलाश पर्वत तिब्बत में ही विद्यमान है। संवत् 1806 में लामचीदास जी ने अपने संस्मरण में कैलाश पर्वत की यात्रा का वर्णन किया है, जिसका उल्लेख इन्होंने इस प्रकार है, 'संवत् 1806 में कठिन व्रत धर के कैलाश के दर्शन की अभिलाषा करी पक्षी अपने पंखों से केवल निरंजनपुरी को देखना चाहे सो कहा देखिये' आखिर

अपनी यथाशक्ति से ऊँचा उड़ेगा तो मरण ही होगा। सो मैं तुच्छ बुद्धि धर्म योग शुद्ध मानकर अपने गृह का मोह छोड़ अपने राजा बलवीर्य सिंह बौद्धमती सूर्यवंशी को छोड़ अपने भूटान देश गिरिमध्य नगर महासकल कुटुम्ब धर्म समीपी मित्रों को छोड़ प्रथमं चल।’ इस प्रकार संवत् 1806 में (सन् 1769) ब्रह्मचारी लामचीदास जी ने 2564 कोस की यात्रा करके लगभग 18 वर्ष पश्चात् अपने ग्रह नगर गिरिमध्य नगर (भूटान) पहुँचे पश्चात् वहाँ से चौबीस निर्वाण भूमियों के दर्शन कर सिद्ध क्षेत्रों की, अतिशय क्षेत्रों की वंदना कर कुल 9894 कोस की यात्रा करके संवत् 1828 में श्रवण बेलगोल में ‘कैलाश यात्रा’ पत्र लिखकर 16 राजाओं को भिजवाकर मूडबद्री में तिषण मुनिराज से दीक्षा लेकर दण्डकवन में तपस्यारत हुए।

ब्रह्मचारी लामचीदास जी तिब्बत का वर्णन करते हुए लिखते हैं उस समय तिब्बत दो भागों में बटा था तिब्बत और छोटी तिब्बत। वहाँ पर अनेक छोटे-छोटे देश बने हुए थे वे लिखते हैं ‘छोटी तिब्बत में मुंगार देश में वरजंगम नगर में जैनियों के 8000 घर हैं, 2000 मंदिर बहुत सुंदर बने हैं, रत्न वर्षा, सोलह स्वप्न, छतों पर, दीवालों पर चित्रित हैं, ऋषभदेव की माँ मरुदेवी की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। भगवान के गर्भ कल्याणक व जन्म कल्याणक पूजें हैं।’ एक-एक मंदिर पर 100-100 एवं 200 कलश हैं। इसी प्रकार ‘ऐरूल शहर में जैनी राजा राज्य करे हैं, ज्येष्ठ वदी चौदस को शान्तिनाथ भगवान के जन्म तप मोक्ष के दिन जन्मोत्सव मेरु पर्वत पर 1008 कलशों से पूरे देश के लोग अभिषेक करें।’ आगे वे अपने यात्रा वृतान्त में अन्य नगरों का वर्णन करते हुए लिखते हैं, मानसरोवर से 60 कोस पर ‘धर्माञ्चन नगर’ (हनुवर नगर) स्वर्ग के समान अद्वृत नगर का कोट 24 कोट का पाषाण का बना हुआ है। इस नगर के उत्तर दिशा में एक दीर्घ वन है, उस वन में अनेक पर्थियों के मंदिर हैं, इस नगर में राजा प्रजा सभी जैन धर्मावलम्बी हैं। वे सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी क्षत्रिय हैं। यहाँ मंदिर पर सोने का, रत्नों का, मणियों का काम है। इस नगर में घर 1500 के लगभग है। सभी घर 2 गज से 3 गज ऊँचे हैं, कम ऊँचाई के मकान हैं।¹²⁸ तिब्बत में प्रथम तीर्थकर आदिनाथ भगवान की मोक्ष कल्याणक भूमि कैलाश पर्वत है जो विश्व के अधिकतम धर्मावलंबियों की आस्था का केन्द्र है। यद्यपि विभिन्न धर्मावलम्बी अपनी-अपनी आस्था कैलाश पर्वत के प्रति विभिन्न प्रकार से प्रकट करते हैं। सम्भवतः ब्रह्मचारी लामचीदास आज के युग में अकेले ऐसे जात व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत द्वारा बनावाये गये 72 जिनालयों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ऐसा उनके संस्मरण लेख से प्रगट होता है।

चीन में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

लामचीदास के यात्रा वृतान्त में पिछले कुछ शतक पूर्व के चीन और आज के

समय में चीन में सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, स्तर पर आमूलचूल परिवर्तन नजर आते हैं, ब्रह्मचारी लामचीदास जी के समय (सन् 1775 के लगभग) का चीन, आज का चीन नहीं रहा, चीन में प्राचीन काल की जैन प्रतिमाओं का स्पष्टतः उल्लेख ब्रह्मचारी लामचीदास जी ने किया। वे लिखते हैं चीन की सीमा पारकर व्हावल पहाड़ ताके घाटे (उतारकर) बाहुबलि भगवान की प्रतिमा खड़े योग में कार्तिक वदी को बहुत बड़ा मेला लगे और लोग उन्हें पूजें। ‘होवोनगर को चीन मुल्क बांदस देश के नगर में अमेढ़ना जैनी देश में कहीं-कहीं रहते हैं जो सिद्ध भगवान के आकार की मूर्ति पूजा करें।’ आगे वे चीन के प्राचीन प्रसिद्ध नगर ढाकुल नगर का वर्णन करते हुए लिखते हैं ‘चीन में गिरिजंगमदेश नगर का कोट 18 कोस का है, राजा प्रजा सभी जांगड़ा जैनी हैं कुछ बौद्धमती भी हैं। वे लिखते हैं, ‘चीन में 300 जैन मंदिर शिखरवंद हैं, जड़ाऊ हैं, प्रतिमाएँ पद्मासन, खड़गासन दोनों प्रकार की हैं। छत्र हरे पन्ना मोतियों के डिब्बेदार (चोकोर) आकार के हैं। स्वर्ण व चांदी के कल्पवृक्ष बने हैं, आगम चीनी भाषा में हैं।’¹²⁹ वे कन्फ्यूसियस का भी उल्लेख करते हैं – ‘चीन के लोगों में कन्फ्यूसियस नामा गौतम अवतार 100 वर्ष पिछाड़ी हुआ है सौ खास चीन के लोग उसी के मत पर चले हैं, हम वहाँ संवत् 1823 में गए थे।’¹³⁰

प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड भी कहते हैं कि ‘चीनियों के प्रथम देवता नेमिनाथ थे, नेमिनाथ ओडिन व चीनियों के प्रथम ‘फो’ नामक देवता थे, वे अपनी पुस्तक राजस्थान में लिखते हैं मुझे लगता है प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं इनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे दूसरे नेमिनाथ थे ये नेमिनाथ ही स्कैंडिनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम ‘फो’ नामक देवता थे।

दक्षिण अफ्रीका में जैन धर्म :

दक्षिण अफ्रीका के फ्री स्टेट प्रान्त में स्थित क्लोकोनन शहर निवासी श्यस मुलेर को उनके बगीचे से प्राचीन शिलापट्ट प्राप्त हुआ है, इस शिलापट्ट में पीछी व कमंडलु के साथ जैन संत और शिलापट्ट के नीचे दार्यों ओर भगवान ऋषभदेव के प्रतीक चिह्न वृषभ व कंकाली टीला व अन्य विभिन्न स्थलों से प्राप्त भगवान ऋषभदेव की प्राचीन प्रतिमाओं में लांछन में चक्र के अंकन के समान इस शिलापट्ट में भी चक्र और शिला पट्ट के बायीं ओर ही जैन तीर्थकर भगवान शीतलनाथ के प्रतीक रूप में कल्पवृक्ष के चिह्न अंकित होना इसे प्राचीन शिलापट्ट होना सिद्ध करता है। प्राचीनकाल में जैन तीर्थकरों व संतों द्वारा क्षेत्रों में विहार किया गया है सम्भवतः तत्कालीन समय में शिला पट्ट स्थापित किया गया हो।¹³¹

अमेरिका में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

जवाहिरलाल जैन ने ‘भारतीय श्रमण संस्कृति’ में उद्धरित किया है कि ‘मुनि

क्रान्तिसागर को डॉकरन ने बताया था कि अमेरिका में भी कुछ काष्ठोल्कीर्ण जिन मूर्तियाँ मिली हैं जिनका समय आज से 1500 वर्ष पूर्व का है।¹³² अमेरिका महाद्वीप में उत्तरी अमेरिका का विकास ही लगभग 300 वर्ष पूर्व हुआ है। अतः इन काष्ठ जिन प्रतिमाओं के मिलने से अमेरिका में भी श्रमण संस्कृति के प्रचलन का बोध होता है। यद्यपि इन काष्ठ प्रतिमाओं की प्राप्ति के कारण कुछ भी हो सकते हैं, जैसे कि सन् 800 ई. तक ग्वाटेमाला मेसिस्को में विकसित पल्लवित बहुत समय तक मानी जाने वाली ‘माया सभ्यता’ में इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया जाता रहा हो, अथवा प्राचीनकाल में जैन व्यापारी अपने साथ मूर्तियाँ ले गए हों अथवा यह मूर्तियाँ वहीं विराजमान कर दी हों, अथवा अमेरिका में बसने वाले व्यक्तियों में से किसी परिवार द्वारा यह मूर्तियाँ पूज्यता अथवा विरासत की दृष्टि से ले जाई गयी हों।

वियतनाम में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:

वियतनाम में दिगम्बर जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वियतनाम के संग्रहालय में लगभग 1500 वर्ष प्राचीन प्रतिमाएँ विराजमान की गयी हैं।

ब्रिटेन में दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ:-

ब्रिटेन एवं भारत का वर्षों तक बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा, इस काल में भारतीय संस्कृति एवं ब्रिटेन, यूनान, यूरोप आदि की संस्कृति का आदान-प्रदान हुआ। ब्रिटेन के अनेक विद्वानों ने भारतीय संस्कृति में रुचि दिखलाई तथा प्राचीन संस्कृति की खोज में महत्वपूर्ण प्रयत्न किये। इंग्लैण्ड के संग्रहालय में आज भी अनेकों जैन प्रतिमाएँ सर्वांग रूप से विद्यमान हैं। उस संग्रहालय में विश्व की इकलौती प्रतिमा है जो एक ही पत्थर पर प्रथम तीर्थकर आदिनाथ एवं अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी की प्रतिमा एक साथ कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है।¹³³

ऐतिहासिक प्रतिमाएँ:

लोहानीपुर- ज्ञात इतिहास में इतिहासकारों द्वारा दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति की विश्व में सबसे प्राचीन ऐतिहासिक मूर्ति विहार प्रान्त के लोहानीपुर से प्राप्त तीर्थकर प्रतिमा को माना जाता है, यद्यपि यह प्रतिमा खण्डित है, तो भी इतिहास के लिए अति महत्वपूर्ण है। यह प्रतिमा ई.पू. कई शताब्दी प्राचीन स्वीकार की गयी है। पुरातत्व विद काशीप्रसाद जायसवाल, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल आदि विद्वानों ने प्रतिमा को बौद्ध धर्म व ब्राह्मण धर्म को मूर्तियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना है।

बासोकुण्ड- (वैशाली) विहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में कतिपय

पुराविदों के अनुसर 599 ई.पू. वैशाली के कुण्डग्राम (बासोकुण्ड) में 24 वे तीर्थकर महावीर स्वामी का जन्म हुआ। यहाँ के वामन पोखर तालाब से महावीर स्वामी की प्राचीन प्रतिमा प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा को लगभग ईसा पूर्व 200 वर्ष पुराना माना जाता है यदि यह सही है तो श्रमण संस्कृति में पूज्य प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमा मानी जानी चाहिए। स्थानीय लोग महावीर स्वामी के जन्म के प्रति अति श्रद्धा भाव रखते हैं। एक पवित्र क्षेत्र दो बीघे में ग्रामवासियों द्वारा कभी हल नहीं चलाया गया।

राजग्रही- नालन्द जिले के विहार प्रान्त में स्थित राजग्रही पंचपहाड़ी के नाम से विख्यात महावीर स्वामी के समवशरण स्थल विपुलाचल पर्वत के नाम से विख्यात है। पर्वत पर उत्खनन होने पर अत्यंत प्राचीन जिन पतिमाओं सहित जिनालय प्राप्त हुआ है। प्रतिमाओं को उस समय लाल मंदिर में विराजमान कर दिया गया। पाँचवे पहाड़ के रास्ते में सोन भण्डार गुफा की दीवालों पर प्राचीन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। वैभागिरि पर्वत पर एक विशाल जिन मंदिर निकला जिसमें 24 कमरे हैं, मंदिर में कई मूर्तियाँ विराजमान हैं।

संदर्भ सूची-

- 01.शिवलाल हायर सेकेण्ड्री इतिहास पृ. 59
02. नवबोध हायर सेकेण्ड्री इतिहास पृ. 31
03. नवबोध हायर सेकेण्ड्री इतिहास पृ. 30
04. वैदिक संस्कृति
- 05.शिवलाल हायर सेकेण्ड्री इतिहास पृ. 87
- 06.प्राचीन तीर्थ जीणोद्धार अप्रैल 2019
07. भारतीय मूर्तिकला पृ. 15-16
08. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 101-102
- 09.जैन साहित्य (ज्ञान विज्ञान कोश) -डॉ. राजाराम जैन
- 10.आदि पुराण 5.161
- 11.जैन धर्म का प्राचीन इतिहास –बलभद्र जैन पृ. 18
12. आदि पुराण 41.108
- 13.आदि पुराण 41.107
- 14.जैन धर्म का प्राचीन इतिहास 18.19
15. आदि पुराण 41.87-90
16. आदि पुराण 41.95-96
17. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 97
- 18.महापुराण 22.214
- 19.महापुराण 22.262
20. जैन शासन- डॉ. सुमेरचंद जैन पृ. 217
21. जैन शासन- डॉ. सुमेरचंद जैन पृ. 217

22. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 217
23. जैनत्व की गौरव गाथा भाग 2.3
24. जैनत्व की गौरव गाथा भाग 2.3
25. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 69
26. पद्म पुराण 40.27
27. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 69
28. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 69
29. कैलाश यात्रा संस्मरण- लामचीदास पृ. 32
30. कैलाश यात्रा संस्मरण- लामचीदास पृ. 21
31. कैलाश यात्रा संस्मरण- लामचीदास पृ. 39
32. इतिहास से झाँकता पोदनपुर (इसी पुस्तक के अध्याय इतिहास से झाँकता पोदनपुर)
33. शिलालेख क्र 235 (श्रवणबेलगोला का शिलालेख क्र 235)
34. श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य तीर्थ
35. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति पृ. 159
36. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति पृ. 159
37. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति पृ. 159
38. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति पृ. 159
39. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति पृ. 159
40. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति पृ. 159
41. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 292
42. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 274
43. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 19
44. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 18
45. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 19
46. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 46
47. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 46
48. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 19
49. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 19
50. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 214
51. जैन शासन पृ. 214
52. जैन शासन पृ. 215
53. जैन शासन पृ. 216
54. जैन शासन पृ. 216
55. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पृ. 101
56. जैन धर्म और दर्शन मुनि प्रमाण सागर
57. मथुरा के जैन साक्ष्य डॉ. रमेशचन्द्र शर्मा
58. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 126
59. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 59
60. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 126
61. प्रसिद्ध जैन पुरुष एवं महिलाएँ पृ. 59
62. प्राचीन जैन तीर्थ जीर्णोद्धार 10 अक्टूबर, 2019 पृ. 13
63. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पृ. 107
64. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पृ. 107
65. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पृ. 107
66. जैन साहित्य- डॉ. राजाराम जैन पृ. 114
67. जैन साहित्य- डॉ. राजाराम जैन पृ. 151
68. जैन शासन- डॉ. सुमेरचंद जैन पृ. 218
69. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 20
70. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01
71. जैन तीर्थ दर्शन पृ. 73-74
72. हरिभूमि दैनिक (समाचार पत्र) भोपाल 30 मई, 2016
73. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 31-35
74. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 31-35
75. हिन्दु सभ्यता पृ. 39
76. हिमालय में भारतीय संस्कृति पृ. 47
77. भारतीय दर्शन - वाचस्पति गैरोला पृ. 47
78. भारतीय दर्शन - वाचस्पति गैरोला पृ. 93
79. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 35
80. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 35
81. भारत के जैन तीर्थ दर्शन प्राक्कथन पृ. 7
82. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 35
83. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 35
84. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ.
85. दि इण्डसबेली सिविलाइजेशन एण्ड ऋषभदेव व्ही. जी. नैयर पृ. 1
86. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 32
87. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 33
88. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ. 10
89. दि इण्डसबेली सिविलाइजेशन एण्ड ऋषभदेव व्ही. जी. नैयर पृ. 1
90. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 33
91. शिवलाल हायर सेकेण्ड्री इतिहास पृ. 37
92. शिवलाल हायर सेकेण्ड्री इतिहास पृ. 37
93. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 31

94. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 32
95. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 32
96. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 32
97. वैदिक संस्कृति -डॉ. जयदेव विद्यालंकार पृ. 228
98. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 33
99. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 35-36
100. हिन्दु सभ्यता (हिन्दी संस्करण) पृ. 232
101. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 37
102. भाव विज्ञान सितम्बर 2018 पृ. 37
103. भाव विज्ञान सित. 2018 पृ. 39 तथा अर्हतवचन (अक्टू-दिस. 2000)पृ.9-16
104. शिवलाल हायर सेकेण्डरी इतिहास पृ. 18
105. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 46
106. दैनिक भास्कर 09 अप्रैल, 97 तथा भगवान ऋषभजैन: एक सर्वमान्य व्यक्तित्व निर्मल जैन तथा नवभारत 9 मई, 97 में संस्कृति के प्रणेता: ऋषभ देव निर्मल जैन
107. महावीर जयन्ती स्मारिका 1974 पृ. 2.23 तथा माडर्न रिव्यू मार्च 1948 पृ.229
108. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 146
109. शिवलाल हायर सेकेण्डरी इतिहास पृ. 24
110. शिवलाल हायर सेकेण्डरी इतिहास पृ. 37
111. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 01 पृ.
112. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 22
113. शिवलाल हायर सेकेण्डरी इतिहास पृ. 37
114. शिवलाल हायर सेकेण्डरी इतिहास पृ. 37
115. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 74
116. वीर, वर्ष 7 पृ. 126
117. वीर, वर्ष 7 पृ. 126
118. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 74-75
119. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. 173
120. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 147
121. प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार मार्च 2006 पृ. 25
122. प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार मार्च 2006 पृ. 25
123. विविध तीर्थ कल्प पृ. 96
124. इलाकुटुमिबकुम (तमिलनाडू में जैन शिलालेख मद्रास 1987) पृ. 196
125. आदिपुराण प्रस्तावना पृ. 50
126. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 78
127. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि तथा एसेन्ट जैन हिक्स पृ. 55
128. कैलास यात्रा लामचीदास द्वारा लिखित
129. कैलास यात्रा संस्मरण पत्र

मापन

भारतीय संस्कृति में दो समान विचार धाराएँ विद्युत प्रवाह की तरह हजारों वर्षों से प्रचलित हैं, एकतो अतिप्राचीन मूल भारतीय संस्कृति श्रमण संस्कृति, द्वितीय वैदिक परम्परा, जो परिवर्तित होते-होते हिन्दू संस्कृति के नये कलेवर में दृष्टव्य है कि परम्पराओं में काल मापन की अपना-अपना एक आधार है। सिन्धु घाटी सभ्यता में भी काल गणना के लिए मापन किया जाता था।¹

कालमापन:- श्रमण संस्कृति में काल मापन का अपना एक तरीका है, जो भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल को समाविष्टकर काल का विभाजन दो भागों में करता है। जिसको एक कल्पकाल कहते हैं।

अवसर्पिणी काल:

जिस काल में बल, आयु व उत्सेध की क्रमशः कमी होती जाती है अवसर्पिणी काल माना जाता है, यह काल 10 कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है², इसके छः भेद माने जाते हैं:³

1. सुषमा - सुषमाकाल
2. सुषमाकाल
3. सुषमा- दुषमाकाल
4. सुषमा - दुषमाकाल
5. दुषमा-सुषमाकाल
6. दुखमाकाल ।

सुषमा- सुषमाकाल: इसका काल प्रमाण 4 कोड़ा-कोड़ी सागर भूमि रज, धूम, अग्नि-हिम से रहित कण्टक, अभ्रशिला (बर्फ) आदि एवं बिच्छु आदि की भी उपसर्ग से रहित होती है। निन्दित द्रव्यों से रहित दिव्य बालु तन और मन को सुख देती है। कोमलघास एवं फलों से लदे वृक्ष, रक्तों से युक्त पृथक्षी सुन्दर नदियों से हित होती इस काल में मानव लावण्य से परिपूर्ण, मन्द कषायी सुख सागर सरल स्वभावी में मग्न, परिवार से रहित युगल (न-नारी की जोड़ी) होते हैं, उनका अकाल मरण नहीं होता। सिंह, व्याघ्र, नाथ, हाथी मगर, शूकर, सारंग, रीछ, कोयल, तोता, कबूतर, हंस, क्रोंच, काक, आदि नियंण होते हैं, मनुष्य और त्रिर्यज्ज्व सभी शाकाहारी हुआ करते हैं।

सुषमाकाल: जिस काल का प्रमाण तीन कोड़ा-कोड़ी प्रमाण है, उत्सेध, बल आदिहीन होने लगते हैं, लेकिन उत्तम भोग भूमि की तरह मनुष्य पशु आदि सुख प्राप्त करते रहते हैं।

सुषमा दुःखमाकाल: सुषमाकाल के पश्चात् काल में परिवर्तन होते-

होते मनुष्य एवं पशुओं के उत्सेध बल, आदि की हीनता वृद्धि होने लगती है, इस काल का दो कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होता है। एक करोड़ का एक करोड़ से गुणा करने पर एक कोड़ा-कोड़ी होता है।

दुषमा सुषमाकाल: प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव (आदिनाथ) के निर्वाण के पश्चात् तीन वर्ष साढ़े आठ माह निकलने पर चतुर्थकाल दुषमा सुषमाकाल प्रारंभ हुआ, इस काल में 63 श्लाकापुरुष और कामदेव उत्पन्न होते हैं, व्यालीस हजार कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर इस काल का प्रमाण हैं।

दुखमा काल: अंतिम एवं चौबीसवे तीर्थकर महावीर स्वामी के निर्वाण के तीन वर्ष आठ माह एक पक्ष (साढ़े आठ माह) पश्चात् दुखमा काल का आरंभ होता है, इसमें मनुष्य की आयु अधिकतम 120 वर्ष होती है, शरीर की ऊँचाई औसत सात हाथ होती है। इस समय दुखमाकाल चल रहा है। इस काल का प्रमाण 2100 वर्ष है, महावीर स्वामी के निर्वाण के तीन वर्ष आठ माह जोड़ देने पर इस काल का प्रारंभ हुआ अर्थात् 523 ई.पू. में यह काल प्रारंभ हुआ था 20477 ई. सन् तक यह दुषमा काल चलता रहेगा।

दुखमा-दुखमा काल: अति दुखमाकाल 20477 ई. सन् से प्रारंभ होकर 21000 वर्ष आगे तक जाएगा अर्थात् 41477 ई. सन् तक दुषमा दुषमा काल रहेगा। इस काल में मनुष्य की ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ की होगी, उत्कृष्ट आयु 20 वर्ष की होगी तथा वह मूल, फल, मत्स्यादि का भोजन करेगा। सभी मनुष्य नंगे एवं बिना घरों के घुमककड़ होंगे, इस काल में साधु, मुनि नहीं हो पाते, धर्म का पूर्ण रूप से ह्वास हो जाता है।

उत्सर्पिणीकाल:

उत्सर्पिणीकाल अवसर्पिणी की काल संबंधी विशेषताओं को ही आगे बढ़ाता है, अवसर्पिणीकाल के छठवे काल के आधार पर उत्सर्पिणीकाल का प्रारंभ होता है, अर्थात् उत्सर्पिणीकाल का प्रथम काल दुखमा-दुखमा से प्रारंभ होता है।⁴

दुखमा-दुखमा काल: अवसर्पिणी काल के छठवे काल दुखमा-दुखमा काल की लगभग सभी विशेषताएँ जो हीन रूप में थी उत्सर्पिणी काल के दुखमा-दुखमा काल के प्रारंभिक स्तर में पाई जाती है, इसमें मनुष्य की ऊँचाई एक हाथ प्रमाण होती है, जिसमें धीरे-धीरे वृद्धि होती जाती है, इसके साथ ही तेजलाल, बुद्धि आदि सब में काल स्वभाव से उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यह काल पूर्ववत् 21000 वर्ष पर्यन्त होता है।

दुखमाकाल: यह काल भी 2100 वर्ष पर्यन्त चलता है, 20,000 वर्ष तक मनुष्य पशुओं का आहार पूर्वकाल की तरह होता है, अन्त के 1000 वर्ष 14 कुलकरों

की उत्पत्ति होती है, जो मनुष्यों को उपदेश देकर उनका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

दुखमा सुषमा काल: इस काल में मनुष्य के देह की ऊँचाई सात हाथ प्रमाण तक होने लगती है तथा उसमें मर्यादा, लज्जा, विनय सन्तुष्ट के गुण होने लगते हैं। इस काल में 24 तीर्थकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलदेव, उत्पन्न होते हैं, इस काल में मनुष्यों की ऊँचाई 525 धनुष तक हो सकती हैं।

सुषमा दुखमा काल: इस काल की घटनाएँ दुखमा सुषमा काल जैसी होती हैं।

सुषमा काल: चतुर्थकाल की अपेक्षा इस काल में मनुष्य के उत्सेध, बल, आयु में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, इस काल का प्रमाण तीन कोड़ा-कोड़ी प्रमाण है।

सुषमा सुषमा काल: काल स्वभाव अनुसार मनुष्य एवं पशुओं में बल, आयु आदि बढ़ती जाती है, इस सागर का प्रमाण 4 कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है।

हुण्डावसर्पिणी काल: असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी निकल जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है, इस हुण्डावसर्पिणी की विशेषताएँ नवीन-नवीन होती हैं।

काल का प्रमाणः

श्रमण संस्कृति में काल की सबसे छोटी इकाई को समय कहते हैं, संसार के सभी मनुष्य जैन धर्म के काल सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, काल की परिवर्तनशीलता के मूल में उसकी सबसे छोटी इकाई 'समय' जो उसकी विशेषता थी, रूढ़, होकर संज्ञा में परिवर्तन हो गयी।

समयः दो परमाणुओं क्षेत्र का सबसे छोटा भाग में से मंदगमन रूप परिणत होकर जितने काल में एक परमाणु दूसरे परमाणु का उल्लंघन करे उतने काल को समय कहते हैं।

आँवलीः असंख्यात समय की एक आँवली

एक अच्छवास, (स्वासोच्छवास) (निःश्वास) (प्राण) = असंख्यात आँवली।

1 उच्छवास- निरोगी पुरुष के बारे नाड़ी के चलने के काल को

उच्छवास कहते हैं।

1 विश्वास - असंख्यात आवली प्रमाण

1 स्तोक - 7 अच्छवास (प्राण)

1 लव - 7 स्त्रोक

1 घड़ी - 38 1/2 लव (इसे नाड़ी भी कहते हैं)

1 मुहूर्त - 2 घड़ी का एक मुहूर्त (लगभग 48 मिनट) (77 लव

की 1 मुहूर्ती)

1 अर्न्तमुहूर्त	-	मुहूर्त से 1 समय कम तथा आँवली से एक समय अधिक
1 प्रहर	-	3 मुहूर्त
1 दिन रात	-	30 मुहूर्त (8 प्रहर)
1 पक्ष	-	15 दिन रात
1 मास	-	2 पक्ष
1 ऋतु	-	2 मास (मासका अपभ्रंश माह बन गया)
1 अयन	-	3 ऋतु (अर्द्ध वर्ष अथवा 6 माह)
1 वर्ष	-	2 अपन (12 माह, 360 दिन)
1 पर्वांग	-	84 लाख वर्ष
1 पूर्व	-	84 लाख पर्वांग
1 नयुतांग	-	84 लाख पूर्व
1 नयुत	-	84 लाख नयुतांग
1 कुमुदांग	-	84 लाख नयुत
1 कुमुद	-	84 लाख कुमुदांग
1 पभांग	-	कुमुद
1 पद्म	-	पभांग
1 नलिनांग	-	पद्म
1 नलिन	-	84 लाख नलिनांग
1 कमलांग	-	84 लाख नलिन
1 कमल	-	84 लाख कमलांग
1 त्रुटियांग	-	84 लाख कमल
1 तुट्य	-	84 लाख त्रुटियांग
1 अट्यांग	-	84 लाख त्रुटि
1 अट्ट	-	84 लाख अट्यांग
1 अममांग	-	84 लाख अट्ट
1-हू हूअब	-	84 लाख अममांग

पल्य एवं सागर का मापः

काल की संख्या का माप समाप्त होने के पश्चात् पल्य, उद्धारपल्य एवं अद्वापल्य का माप प्रारंभ होता है।

पल्य (व्यवहार पल्य) : 2000 कोस लम्बे 2000 कोस चौड़े और इतने ही गहरे गड्ढे में सद्याजात भेड़ें (भेड़ के बच्चे) के बालों के अति छोटे-छोटे भागकर

के उस गड्ढे को बालों से भर दिया जाय तथा 100-100 वर्ष पश्चात् एक-एक बाल को निकाला जाये तो जितने काल में वह गड्ढा खाली हो उस काल को अथवा उतने समय (काल) को एक व्यवहार पल्य अथवा पल्य कहते हैं।

पल्य में असंख्यात का गुणा करने पर

पल्य \times असंख्यात (संख्या) = उद्धार पल्य

उद्धार पल्य \times असंख्यात = अद्धापल्य

अद्धा पल्य \times 10 कोड़ा कोड़ी = 1 सागर

(1 करोड़ \times 1 करोड़) = 1 कोड़ा कोड़ी (संख्या)

पल्य और सागर का काल स्वर्ग के देव एवं नारकी जीवों की आयु के निर्धारण में प्रयुक्त किये जाते हैं।

जैसे: नव ग्रेवेयक के देवों में प्रथम ग्रेवेयक स्वर्ग के देव की आयु 23 सागर द्वितीय स्वर्ग के देव की आयु 24 सागर नव अनुदिश स्वर्गों के देवों की आयु 32 सागर सर्वार्थसिद्ध के देवों की आयु 33 सागर नीचे के प्रथम स्वर्ग के सौर्धम और ऐश्वर्ण स्वर्ग के देवों की आयु प्रमाण एक पल्य है। ऐसे ही प्रथम नरक के जीव की आयु एक सागर, द्वितीय नरक में तीन सागर आदि का प्रमाण-

क्षेत्र का प्रमाण:

पुदगल परमाणु, अणु का वह छोटे से छोटे भाग जिसका कोई अन्य भाग न हो सके ऐसे परमाणु को पुदगल परमाणु कहा गया है, ऐसे पुदगल परमाणु का आकाश द्रव्य में Space (क्षेत्र) होता है उसे प्रदेश कहते हैं।

1 प्रदेश	-	1 एक परमाणु द्वारा अवरूद्ध किया गया क्षेत्र या स्थान अथवा आकाश द्रव्य का क्षेत्र।
1 उत्संज्ञा	-	(अनन्तानन्त परमाणु संघात परिमित क्षेत्र) (अवसन्न)
1 संज्ञा(सन्नासन)	-	8 उत्संगा
1 त्रुट रेणु	-	8 संज्ञा
1 त्रस रेणु	-	8 त्रुटरेणु
1 रथ रेणु	-	8 त्रसरेणु
उत्तम भोग भूमि के जन के केशाग्र - 8 त्रसरेणु ^१		
लिक्षा	-	8 कर्मभूमिज नर के केशाग्र को ही ^२
1 जूँ	-	8 लिक्षा
1 यवमध्य	-	8 युका
1 उत्सेधांगुल	-	8 यवमध्य
1 प्रमाणांगुल	-	500 युत्सेधांगुल
1 आत्मांगुल	-	अपने-अपने समय के मनुष्य के अबुल

1 पाद	-	6 अबुल
1 वितस्ति	-	2 पाद
1 हस्त	-	2 वितरित
1 किष्कु	-	2 हस्त (हाथ) कोहनी से मध्यमा अबुली के तक (धनुष) दण्ड-
1 कोश(गत्यूत)-	-	2 किष्कु
1 योजन	-	2 हजार धनुष (दो मील का 1 कोस 1 मील 1.65 (कि.मी.)
1 राजू ^३	-	4 कोस
1 जगत् श्रेणी-	-	असंख्यात \times असंख्यात योजन
प्रतरलोक	-	7 राजू
दर्शनलोक	-	(7 राजू)2 = 49 राजू
		(7 राजू)3 = 343 राजू ^४

भारतीय संस्कृति में कालगणना:

भारतीय संस्कृति में ही नहीं बल्कि विश्व में सामाजिक पटल पर काल गणना का अनूठा एवं महत्वपूर्ण योगदान है, कालगणना के योगदान से ही इतिहास में स्थायित्व आता है तथा काल गणना से भूतकाल ही नहीं बल्कि वर्तमान काल तथा भविष्यकाल में स्थायित्व दिखाई देता है, कभी-कभी काल गणना काल्पनिक भी की जाती है, जिससे काल की भावी संरचना अनुमानित की जाती है। सामान्यता काल गणना वस्तुओं अथवा व्यक्तियों की अर्वाचीनता अथवा प्राचीनता की पहचान में सहायक है।

काल गणना के प्रचलन में अनेक स्थानीय एवं व्यक्तिगत आधार भी होते हैं, जिनका अपना महत्व है, जो व्यक्ति, वस्तु या घटना को हमारे सामने दृष्टव्य कराते हैं।

संसार में लगभग 50 से अधिक कालगणना के स्रोत दृष्टव्य होते हैं, अकेले भारत देश में 20 से ज्यादा तो घटना से जुड़े हैं या व्यक्ति अथवा वस्तु अथवा घटना पर आधारित हैं। आज संपूर्ण विश्व में लगभग सभी देशों ने एक ही प्रकार वातावरण बनाने की सार्थक पहल की है, यद्यपि विश्व के अनेक देशों के एक से अधिक कालगणना के अपने स्तर विद्यमान हैं।

भारतीय संस्कृति में कालगणना के जो सन् संवत् प्रचलित हैं उनमें कुछ अनुमानित हैं, कुछ वास्तविक धरातल पर प्रारंभ हुये हैं, सप्तर्षि संवत् भारत में प्रचलित यह संवत् काल्पनिक अथवा अनुमानित है, इसका संबंध सात तारों की काल्पनिक गति के आधार पर है, इसका ज्योतिष एवं काल विभाजन में उपयोग

किया जाता है, इसे कच्चा संवत् अथवा पहाड़ी संवत् के नाम से भी जाना जाता है।
बौद्ध संवत्:

गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म के अनुयायी महात्मा गौतम बुद्ध की जन्म जयंती शुक्लन पूर्णिमा को मनाते हैं, चूंकि यह विधि भारत में प्रचलित विधि है, अन्य देशों में चैत्रादि मासों का प्रचलन नहीं है, इसलिए इस विधि में जहाँ बौद्ध धर्म प्रचलित है अलग-अलग देशों में महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म अलग-अलग विधियों में मनाया जाता है। 17 अप्रैल को थाईलैण्ड, ब्रह्मा, श्रीलंका तथा कम्बोडिया आदि देशों में 7 अप्रैल एवं 21 मई को भी गौतम बुद्ध की जन्म जयंती मनाई जाती है, इस कारण बौद्ध संवत् की प्रमाणिकता सिद्ध नहीं हो पा रही है।

वीर निर्वाण संवत्:

अति प्राचीनकाल से जैन धर्मावलंबियों के मध्यकाल गणना का एक ही तरह का निर्माण संवत् प्रचलित है।

महावीर स्वामी के निर्वाण पश्चात् 162 वर्ष तक महावीर स्वामी की शिक्षाओं को उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान को जसका तस व्यक्तियों के लिए प्रस्तुत किया। सर्वप्राचीन उल्लेखित तिथि का शिलालेख भी अजमेर के पास बड़ली नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है, जिसमें बाह्मीलिपि में वीर संवत् 84 अंकित हैं। इससे स्पष्ट है कि महावीर स्वामी के निर्वाण पश्चात् ही निर्वाण संवत् गणना की परम्परा प्रारंभ हो गयी थी। विश्व में प्रचलित कालगणना का प्रमाणित आधारभूत ऐतिहासिक साक्ष्य इसके पूर्व का ज्ञात इतिहास में उपलब्ध नहीं हो सका। इस शिलालेख के बारे में डॉ. राजबलि लिखते हैं ‘अशोक के पूर्व के शिलालेखों में तिथि अंकित करने की परम्परा थी’, बढ़ी का शिलालेख एक अपवाद है। यह संवत् विक्रम संवत् से 470 वर्ष तथा शक संवत् से 605 वर्ष पूर्व प्रचलित रहा।

बौद्ध निर्वाण संवत्:

बौद्ध संवत् की तरह बौद्ध निर्वाण संवत् का प्रारंभ भी एक निश्चित तिथि में नहीं मिलता इसलिए यह संवत् नाम से तो ऐतिहासिक है, लेकिन इसके प्रचलन की आधारभूत तिथि स्पष्ट नहीं हो सकी कारण महात्मा बुद्ध एवं परिनिर्वाण पश्चात् उनकी शिष्य परम्परा भारत भूमि पर नहीं चल सकी। फलतः अलग-अलग विद्वान गौतम बुद्ध के काल को परिनिर्वाण अलग-अलग वर्षों में स्वीकार करते हैं। सामान्यतया कहीं पर 487 ई.पू., तो कहीं पर 544 ई.पू. माना जाता है, कहीं पर यह 388 ई.पू. स्वीकार किया गया है।

मौर्य संवत्:

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने महामंत्री एवं नीति निर्देशक चाणक्य के सहयोग

से नंदवंश अंतिम नंदराजा को पराजित कर 321 ई.पू. में मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। इस कारण इसी वर्ष से भारत में एक और ऐतिहासिक आधारभूत कालगणना का संवत् प्रारंभ हुआ। इस संवत् की काल गणना चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण काल से प्रारंभ होती है, इसका प्रचलन मौर्य साम्राज्य के पश्चात् भी लंबे समय तक रहा। इस संवत् का उल्लेख कलिंगाधिपति राजा खारबेल ने उड़ीसा की उदयगिरी खण्डगिरि नामक पहाड़ी की हाथी गुफा के शिलालेख में मौर्य संवत् 165 को अंकित करते हुए भारत शब्द का भी उल्लेख किया है। यह संवत् भारत भूमि पर प्रचलित वह संवत् था जिससे लम्बे समय तक काल गणना की जाती रही।

पूर्वशक संवत्:

शकों ने जब विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल पर विजय प्राप्त कर मालवा के उज्जैन में अपना शासन स्थापित किया तब शकों ने इस विजय को चिर स्मरणीय बनाने के लिए ईसा पूर्व 61 से कालगणना हेतु नवीन संवत् किया जिसे कालान्तर में पूर्वशक संवत् के नाम से जाना जाने लगा। यह संवत् भी वीर निर्वाण संवत् की तरह कार्तिक माह से प्रारंभ हुआ था। संभवतया पुराने संवत् (वीर निर्वाण सम्बत) में ही नई काल गणना शुरू कर दी गयी थी।

विक्रम संवत्:

गर्दभिल्ल के सुयोग्य पुत्र विक्रमादित्य को अपने घर में विदेशियों का राज्य करना अच्छा नहीं लग रहा था अतः उसने कालक एवं मालवा की प्रजा को साथ लेकर ईसा पूर्व 57 में उज्जयिनी से बाहर खदेड़ दिया। मालवा में इस विजय को विक्रमादित्य के नेतृत्व में विजयोत्सव के रूप में मनाया तथा इस विजयोत्सव को चिर स्थायी करने के लिए एक सम्बत का प्रारंभ किया कृत संवत् के नाम से जाना जो मालवागण गया। मालववंश कीर्ति अथवा मालवा संवत् के नाम से ई.पू. 57 में प्रचलित किया गया। प्रचलित प्राचीनकाल से चली आ रही काल गणना का संवत् (वीर निर्वाण संवत्) की भाँति कार्तिकादि से ही थी। जो कृत संवत् भी कहलाया तथा कालान्तर में 78 ईसवी में (लगभग 135 वर्ष पश्चात्) शक शालिवाहन संवत् के अनुकरण पर उसे चैत्रादि से प्रचलित कर दिया शनै-शनै वह विक्रमाद्य काल विक्रमनृपकाल, अथवा विक्रम संवत् भी कहलाने लगा।

यही नहीं मालवागण ने अपनी उक्त विजय के उपलक्ष्य में सिक्के भी ढलवाए उन सिक्कों पर मालवानां जयः और मालवागणस्य जयः शब्द अंकित किए। ‘इस विजय उपलक्ष्य में प्रचलित कालगणना का संवत् (विक्रम संवत् के नाम से) अनेक नामों को प्राप्त करता हुआ न केवल विक्रम संवत् के नाम से रूढ़ हो गया बल्कि इसके प्रारंभिक माह कार्तिक की अपेक्षा चैत्र मास में भी परिवर्तन किया गया

तथा इस संवत् को हिन्दू संस्कृति का प्राचीन संवत् मानकर अनेक कथानकों एवं मान्यताओं से भारत और नेपाल में विक्रम संवत् अधिक लोकप्रिय हुआ। विक्रम संवत् में दिन, सप्ताह और मास की गणना सूर्य व चन्द्रमा की गति पर निश्चित की गयी है। यह संवत् प्राचीन संवत् वीर निर्वाण संवत् के 570 वर्ष पश्चात् प्रचलन में आया तथा हिन्दू संस्कृति में यह उत्सव के रूप में शामिल हो गया, गुजरात और राजस्थान में यह संवत् आषाढ़ माह से प्रारंभ माना जाता है।

सेल्यूकश संवत्:

सिकन्दर की विजय के पश्चात् सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् सिकंदर के विजित क्षेत्रों को उसके प्रधानों ने विभाजित कर उस पर शासन प्रारंभ किया। सिकंदर का प्रधान सेनापति से ल्युकश ने बटवारे में एशिया का साम्राज्य प्राप्त किया जिसमें भारत का पूर्वोत्तर भाग शामिल था। सेल्यूकश ने साम्राज्य प्राप्त कर 312 ई.पू. में कालगणना हेतु नवीन संवत् का प्रारंभ किया। ब्राह्मी लिपि की एक शाखा खरोष्ठी लिपि में प्राप्त कुछ शिलालेखीय लेखों में सेल्यूकश संवत् के संदर्भ दृष्ट्य होते हैं।

शक संवत्:

चीन के यु ची जाति के पश्चिमी चीन में गौबी प्रदेश के एक कबीले के लोग जिन्हें लगभग 165 ई.पू. हिंग-न (हूण) कबीले के लोगों ने आक्रमण कर पश्चिमी चीन को छोड़ने पर मजबूर कर दिया तो यह आक्रामक जाति के लोग वैकिट्या आदि पर (कब्जा कर भारत के पश्चिमी उत्तर) भागों को विजित करते हुए मालवा तक घुस आए तथा उज्जैन पर विजय प्राप्त कर वहाँ पर वस गये लेकिन गर्दभिल्ल के बीर एवं सुयोग्य पुत्र विक्रमादिव्य ने उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया। लेकिन पश्चात् शकों में कनिष्ठ ने भारत में अपना राज्य सिंहासन मजबूत किया तथा उन्होंने भारत के पंजाब काश्मीर और मध्यप्रदेश में तथा मथुरा से आगे पूर्व में सत्तास्थापित की, कनिष्ठ का राज्यारोहण संयोग से 78 ई. में हुआ। उसी वर्ष से उसने अपने राज्यकाल की गणना प्रारंभ की, अतएव कालान्तर में सम्राट् कनिष्ठ को ही माना जाने लगा। कनिष्ठ धर्मनिरपेक्ष सम्राट् हुआ। मथुरा से प्राप्त अनेक जैन शिलालेखों में सम्राट् कनिष्ठ का नाम अंकित पाया जाता है। थॉमस आदि विद्वानों का मत है कि कम से कम उसका अपने राज्यकाल के पूर्व भाग में जैन धर्म की ओर उसका विशेष झुकाव रहा प्रतीत होता है।¹⁰

जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर स्वामी के 605 वर्ष पश्चात् शक वंश के संस्थापक शक-नरेन्द्र द्वारा शक संवत् का प्रवर्तक किया गया है। शक संवत् को राष्ट्रीय शाके के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रारंभ चैत्र मास से होता है।

ईसवी सन् का प्रारंभ:

350 :: भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति का योगदान

जूलियन और ग्रगोरियन कैलेण्डर में ईसवी ईसा मसीह के जन्म के बाद वर्षों को दर्शाता है और ईसा पूर्व उनके जन्म से पूर्व के वर्षों को दर्शाता है, ईसा के जन्म के पूर्व के जन्म के बाद।

ईसा मसीह का जन्म 25 दिसम्बर 6 ईसा पूर्व (संभावित) को इजराईल के बेथलहोम स्थान में मरियम मेरी की कोख से हुआ था, इनके पिता का नाम जोसेफ (युसुफ) था इनको जीसस क्राईस्ट नाम से भी जाना जाता है।

सामान्यतया यह मान्यता है कि ईसवी सन् ईसामसीह के जन्म से गिना जाता है परंतु कृतिपय विद्वान इसमें 4 वर्ष की भूल मानते हैं, जूलियन और ग्रगोरियन कैलेण्डर में ईसवी ईसा मसीह के जन्म के बाद के वर्षों को दर्शाता और ईसा पूर्व ईसामसीह के जन्म के बाद के काल को दर्शाता है।

ईसवी जनकी गणना में एक महत्वपूर्ण प्रसंग है जिसमें ध्यान देने से 365 दिन होते हैं, सामान्य वर्ष 365 दिन के एवं लीप ईयर में 366 दिन होते हैं, सन् 1582 में पोप ग्रेगरी ने ईसवी सन में दो सुधार किये।

शताब्दियों के दिनों की व्यवस्था कि जिसमें 400 का अंक विशेष रूप से विभाजित हो जावे, वहीं अधिवर्ष या लीप वर्ष है, अन्य वर्ष सामान्य वर्ष हैं। इस नियम की अपेक्षा से ईसवी सन् के आरंभ 1582 तक 10 दिन बढ़ाए गए।

4 अक्टूबर 1582 तक की घटनाओं को प्राचीन पद्धति से व्यक्त किया जाता है, उसके पश्चात् की घटनाओं को नवीन पद्धति से व्यक्त किया जाता है।

कल्चुरी संवत्:

यह संवत् कल्चुरी राजा ईसवी सन में 249 जोड़ने पर ईसवी सन् प्रारंभ होता है, यह संवत् स्थानीय स्तर पर गुजरात, म.प्र. और कांकण में समय निर्धारण का कार्य करता था इस संवत् को चेदिसंवत् या त्रैकूटक संवत् भी कहते हैं।

गुप्त संवत्:

उत्तर भारत में काल गणना का यह एक प्रसिद्ध, मान्य संवत् माना जाता है, ईसवी सन् के 320 वर्ष पश्चात् इसका प्रारंभ माना जाता है, गुप्त वंश को प्रथम पुरुष राजा श्री गुप्ता था जिसने नागव व कारकों द्वारा मगध से शक शासन का उच्छेद कर दिये जाने के समय नालंदा से 40 योजना पूर्व की ओर अपना एक छोटा सा राज्य स्थापित कर लिया था। इनके उत्तराधिकारी घटोत्कचगुप्त थे, जिन्होंने ‘महाराज’ की उपाधि धारण की। घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रतावी वीर, कलाप्रिय, राज्य हितेषी, धर्मसहिष्णु शासक हुआ जिसने ‘महाराजाधिराज’ की उपाधि धारण की। चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने लगभग सन् 315 ई. से 318 ई. तक राज्य किया और सन् 319-20 में सम्भवतया उसने पाटलिपुत्र में अपना राज्याभिषेक करके स्वयं को सम्राट् घोषित किया

था। इसी घटना के परिपेक्ष्य में कालगणना हेतु गुप्तसंवत् प्रारंभ किया। डॉ. ज्योतिप्रसाद का मानना है कि 'ऐतिहासिक गुप्त वंश का यही प्रथम सम्भ्रान्त था और सन् 319-20 ई. में इसके राज्याभिषेक से ही गुप्त संवत् की प्रवृत्ति हुई, मानी जाती है,'¹¹ गुप्त संवत् के प्रारंभ से लगभग 8 वर्ष पश्चात् समुद्र गुप्त ने राज्य की बागडोर संभाली तथा लगभग 50 वर्ष तक (सन् 328 से 378 तक) शासन किया पश्चात् चन्द्रगुहा द्वितीय विक्रमादित्य 379 से 414 ई. तक राज्य किया। स्वर्ण युग कहा जाता है, इनकी सभा में कालिदास जैसे विद्वानों का बहुत सम्मान था इनकी सभा नौ रक्तों से सुषेधित थी। यह सर्वधर्म सहिष्णु, उदार, दानशील, नीति निषुण, न्याय परायण और पराक्रमी राजा थे। चीनी यात्री फाह्यान ने (399-414) इनके कार्यकाल में ही भारत की यात्रा की थी।

हिजरी संवत्:

यह इस्लामी पंचमंग या कैलण्डर है, विश्व इस्लाम धर्म के अनुयायी इसी के अनुसार अपने धार्मिक पर्वों को मनाते हैं, पैगम्बर हजरत मोहम्मद को मक्का के पुरोहितों एवं सत्ताधारी वर्ग के दबाव के कारण 16 जुलाई, 622 को मक्का छोड़कर मदीना की ओर जाना पड़ा। इस घटना की याद में खली का उमर को आज्ञा से दिनांक 16/07/622 से हिजरी संवत् काल गणना प्रारंभ की गयी जिसमें 29 दिन और 30 दिन के मास एक-दूसरे के बाद पड़ते हैं, इस काल गणना में वर्ष में 354 दिन होते हैं, इस कारण यह सौर वर्ष संवत् के वर्ष से 11 दिन छोटा होता है, इस अन्तर को पूरा करने के लिए 30 वर्ष बाद जिला हिजा महीने में कुछ दिन जोड़ दिये जाते हैं, हिजरी संवत् के महीनों के नाम इस प्रकार हैं, मोहर्रम, उलहराम, सफर, रबी उल अब्बल, उबी उलसानी, जमादी-उल-अब्बल, जमादी-उस-सानी, रजब, शाबान, रमजान-उल-मुबारिक, शवाल, जीकादा, जिज हीजा।

इस संवत् में भारतीय संवत् के अनुसार चन्द्रमा की घटती-बढ़ती चाल का संयोजन नहीं किया गया।

हिन्दुकाल सारणी:

वैदिक संस्कृति के अनुसार तीन युगों का वर्णन किया जाता है, कर्म के आधार पर युगों का विभजान किया गया है, जिस युग में कर्म की जैसी प्रधानता होगी वैसा उसका नामकरण किया गया था।

सतयुगः सतयुग की कालावधि 17 लाख 28 हजार वर्ष मानी जाती है, इसमें ब्राह्मणत्व चरम पर रहा यह ऋषि मुनियों का समय माना जाता है। उस समय लोग पूजा, पाठ आदि किया करते थे, जातिगत धर्मभेद नहीं माना गया। लोग 100 प्रतिष्ठत धार्मिक होते थे। मनुष्य की आयु एक लाख वर्ष तथा ऊँचाई 21 हाथ/32

श्रमण संस्कृति में पर्व

विश्व में विद्यमान लगभग संस्कृतियाँ अपने अपने आदर्श पुरुषों के द्वारा बताए आदर्शों को उनके प्रतिकृति प्रकट करने हेतु उन महापुरुषों के स्मरण स्वरूप विशेष तिथियों को उत्साह पूर्वक अपनी अपनी परम्परानुसार उत्सव के रूप में मनाते हैं। 'पर्व' शब्द एक विशेष तिथि की ओर संकेत करता है तथा 'उत्सव' या 'ल्पोहार' उत्साह पूर्वक किये गए कार्यक्रम की ओर संकेत करता है।

चूंकि आज का भारत विश्व की अनेक संस्कृतियों का संगम केन्द्र है इसलिये यहाँ वर्ष के प्रत्येक सप्ताह में एक से अधिक पर्व आ जाते हैं। पुराण काल एवं भारतीय इतिहास में संस्कृतियों के उद्द्रव काल से संकलित पर्व भारतीय जन मानस में रच पच गये हैं।

श्रमण संस्कृति में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के जन्म जयन्ती उनके प्रथम आहार दिवस 'अक्षयतृतीया' से लेकर चौबीसवें तीर्थकर महावीर स्वामी के निर्वाण महोत्सव दीपावली पर्व के पश्चात भी वर्तमान काल के अनेक पर्व संलग्न होते रहे हैं। इस संस्कृति में अष्टानिका पर्व को आदि लेकर पूर्व से लगभग 111 पर्व प्रचलित हैं, यदि इन पर्वों में 24 तीर्थकरों के पाँचों कल्याणक 120 पर्व जोड़ दे तो जैन संस्कृति में पूर्व से प्रचलित पर्वों की संख्या 231 हो जाती है। इस प्रकार एक वर्ष में लगभग 231 दिन पर्वोत्सव के रूप में आते हैं, एक दिन में दो पर्व आने पर्व इनके दिनों की संख्या कम हो सकती है। श्रमण संस्कृति में पर्वोत्सव पर होने वाली क्रियायें आत्मबोध, आत्म नियंत्रण, आत्मसिद्धि हेतु भेद-विज्ञान सहित विशुद्ध आचरण एवं संसार के सभी जीव सुखी स्वस्थ और प्रसन्न हों मेरा मोक्षमार्ग प्रशस्त हो, जैसी भावना में ओत प्रोत होती है।

श्रमण संस्कृति के उपर्युक्त पर्वों में से अक्षय तृतीया, रक्षाबंधन, दीपावली भारतीय संस्कृति के जन-मानस में न केवल रच-पच गयें हैं बल्कि बहुत लम्बे समय से प्रचलित इन पर्व की तिथियों में होने वाले घटनाक्रम के कथानक भी

जुड़ते गये तथा वे कथानक जन-मानस में ख्याति प्राप्त करते गये, परिणाम यह हुआ कि जन सामान्य मूल कथानकों को विस्मृत करते गये। और नवीन कथानक (मान्यताएँ) मुख्य होते गए।

इन 231 पर्वों में से यहाँ मात्र उपर्युक्त तीन त्योहारों का ही उल्लेख करना चाहूगा, जो कि भारत में बहुत ख्याति प्राप्त त्योहार हैं। तथा देश के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में यह त्योहार मनाये जाते हैं, अनेक स्थानों पर इनके नाम और पर्व के कारणों में भिन्नता भी दिखाई देती है।

अक्षय तृतीया पर्व-

श्रमण संस्कृति में प्रथम तीर्थकार से लेकर चौबीसों तीर्थकरों के पाँचों कल्याणक मनाने की परम्परा है इस कारण ऋषभदेव से लेकर 24 वे तीर्थकर महावीर स्वामी के कल्याण को मनाने की परम्परा के साथ ही ऋषभदेव एक मात्र तीर्थकर हैं जिनके जीवन से सम्बन्धित छह पर्व मनाने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही हैं, पाँचों कल्याणक एवं आहार दिवस आश्र्य जनक पहलू यह है कि इनके जीवन से संबंधित छठवाँ पर्व जिसे ‘अक्षय तृतीया’ के नाम से स्वीकार किया गया है मूल श्रमण संस्कृति के अतिरिक्त हिन्दु संस्कृति में भी हर्ष उल्लास के साथ मनाया जाता हैं यह पर्व भारत भूमि का सर्वमान्य सर्व प्राचीन पर्व है। पौराणिक प्रसंग के आधार पर क्षय रहित होने से इस पर्व का नाम अक्षय तृतीया प्रचलित हो गया।

कर्म भूमि के प्रारम्भिक काल में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव हुयें संस्कृति के आदि काल में उत्पन्न होने के कारण इन्हें आदिनाथ के नाम से भी स्वीकार किया गया है तथा इनका ‘वृषभ’ लांक्षन होने से इन्हें वृषभनाथ के नाम से भी जाना जाता हैं। ऋषभदेव न इस भारत भूमि पर सुख पूर्वक बहुत लम्बे समय तक राज्य करते हुए प्रजा के संकट का हरण करते हुए उन्होंने उसे असि, मसि, कृषि विद्या, वाणिज्य, शिल्प का उपदेश दिया।

विद्या, वाणिज्य, शिल्प षट्कर्मों का उपदेश दिया, जिस से व्यक्ति अपना अपने परिवर्त समाज का भरण पोषण तथा संरक्षण प्रदान करता हुआ आत्मनिर्भर बन सका। ऋषभदेव ने षट्कर्मों का न केवल उपदेश दिया बल्कि अपने पुत्र पुत्रियों को स्वयं शिक्षा प्रदान की अपनी पुत्री ब्राह्मी को लेखन विद्या तथा

सुन्दरी को अंक विद्या का ज्ञान प्रदान किया। ब्राह्मी के लिये सिखाई गई लेखन विद्या लिपि, जगत में आज भी ब्राह्मी लिपि से विख्यात है। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत सहित बाहुबलि आदि एक सौ पुत्रों को नीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, नृत्यशास्त्र, गायन-वादन, चित्रकला, भवननिर्माण, नर नारी के लक्षण की परीक्षा, अश्व हस्ति आदि पशु परीक्षण विद्या, रत्न परीक्षा, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि का ज्ञान प्रदान किया।

ऋषभदेव ने मानव जीवन के सम्पूर्ण सुखों को वैभव पूर्वक भोगते हुये अपने जीवन का एक लम्बा काल भोगों में व्यतीत किया तथा अंत में मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये मानव जीवन के सम्पूर्ण भोगों को तिरस्कार पूर्वक तिलांजलि देते हुए ऋषभदेव ने अस्त्र, वस्त्र, वैभव भोगदि साम्राजी त्याग कर अंतरंग एवं बाह्य परिग्रह का त्याग कर निग्रन्थ दिगम्बरी मुनि मुद्रा धारण कर छह मास का उपवास ग्रहण कर तपस्या में रत होकर आत्मतत्त्व की प्राप्त करने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ हेतु प्रतिमा योग धारण किया।

ऋषभ देव ने जिस स्थान पर तपस्या की थी कालान्तर में उस स्थान का नाम प्रजाग (प्रयाग) रूढ़ हो गया प्रकष्टो वा कृतसत्यागः प्रयागस्तेन कीतिः। छह माह निराहार रहकर एक ही स्थान तपस्यारत रहते हुये भी न तो उनका शरीर कृश हुआ और न ही उनके तेज में ही अन्तर आया। छह माह के पश्चात् जब अचिन्त्यमहिमावन्त मुनिराज ऋषभदेव को आहार का विकल्प आया तो उन्होंने प्रतिमा योग त्याग कर बन से नगर की ओर आहार हेतु चान्द्री चर्या करते हुए चन्द्रमा के प्रकाश की तरह सबको लाभ देते हुये। अनेक नगरों, ग्रामों में बिहार करते-करते 7 माह 9 दिन के पश्चात् निराहार अवस्था में वे एक दिन हस्तिनापुर नगर पहुंचे। उस समय हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ और उनके लघुभ्राता, श्रेयांशुकुमार थे। उल्लेख आता है जिस दिन ऋषभदेव हस्तिनापुर पहुंचे उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर में राजा सोमप्रभ के भाई श्रेयांशु को आठ शुभ स्वप्न आए। हरिवंश पुराण के अनुसार राजा सोमप्रभ और उनके भ्राता श्रेयांशु दोनों ने आठ स्वप्न देखे।

वैशाख शुक्ल तृतीय के दिन को जिस समय राजा सोमप्रभ के दरबार में स्वप्नों पर चर्चा हो रही थी उसी समय ऋषभदेव मुनिमहाराज ने हस्तिनापुर में

प्रवेश किया। ऋषभदेव मुनि के हस्तिनापुर में प्रवेश करते ही कुछ लोग भक्ति वश, कुछ लोग उत्सुकतावश दर्शन करने हेतु एकत्रित हो गये। जनता के भीड़ के कारण राजमार्ग और राजमहल तक भर गये किन्तु भगवान ऋषभदेव मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ का विचार करते हुए चार हाथ भूमि को देखते हुए गृहस्थों के घरों में प्रवेश करते हुए राजभवन पहुंचे तो सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयांश को राजभवन में भगवान ऋषभदेव के आने की सूचना दी। समाचार सुनते ही दोनों भाई अंतःपुर की रानियों, मन्त्रियों और राजपुरुषों के साथ आंगन में आये। उन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान को नमस्कार किया।

वृषभदेव की दिग्घ्वार मुद्रा को देखते ही राजकुमार श्रेयांश को अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया कि उन्होंने पूर्व जन्म में श्रीमती और वज्रजंघ की पर्याय में चारण ऋषिद्वारी दो मुनियों को आहार दिया था। इस स्मरण के आधार पर दाता के सात गुणों श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अक्षोभ, क्षमा और त्याग युक्त होकर नवधा भक्ति पूर्वक पड़गाहन, मनशुद्धि वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहारशुद्धि, उच्चासन, पाद प्रक्षालन, नमस्कार पूजन दान के सर्वशेष पात्र प्रथम तीर्थकर मुनिवर ऋषभदेव को अपने स्थान पर खड़े देख मुनि ऋषभदेव से इक्षुरस से भरे कलश हाथ में लेकर कहा, कि हे प्रभो! यह इक्षुरस सोलह उद्धम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दस एषणा दोष तथा धूम, अंगार, प्रमाण और संयोजना तथा चार दाता सम्बन्धी दोषों से रहित एवं प्रासुक है - हे स्वामी इसे ग्रहण कीजिए।

तब मुनि ऋषभदेव दोनों पगों को सीधा कर हाथों की अंजुली बनाकर खड़े हो गए तथा चारित्र की शुद्धि के लिए एक माह नौ दिन पश्चात् राजकुमार श्रेयांश के हाथों से बैसाख शुक्ल तृतीया के दिन आहार ग्रहण किया। मुनिर ऋषभदेव द्वारा राजकुमार श्रेयांश के हाथों आहार ग्रहण करते ही पञ्चाश्र्य प्राप्त हुए जिसमें रत्नवृष्टि दुन्दुभि बजना शीतल एवं सुर्गंधित मन्द-मन्द पवन का चलना, अहो दानम् (धन्यदाता धन्यपत्र) का स्वर गुंजायमान होना शामिल है।

जिस दिन प्रथम तीर्थकर श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव के प्रथम आहार हुए उस दिन हस्तिनापुर में राजा सोमप्रभ राजकुमार श्रेयांश के रसोईघर में भोजन अक्षीण हो गया, इसीलिए आज के दिन को 'अक्षय' शब्द से

सम्बोधित कर बैसाख शुक्ल तृतीया को अक्षय तृतीया नाम से पुकारा जाने लगा। इस दिन को अक्षय तृतीया कहने का एक और कारण बना राजकुमार श्रेयांश ने मुनि को आहार देकर पञ्चाश्र्य प्राप्त कर अक्षय पुण्य की प्राप्ति को जो कि उनको मोक्ष प्राप्त करने में सहायी कारण बना। अक्षय तृतीया के दिन ऋषभदेव द्वारा इक्षुरस का आहार ग्रहण करने से कुछ लोग इसे 'इक्षु तृतीया' भी कहने लगे।

भारत भर में आज भी उत्तर से दक्षिण तथा पश्चिम से पूर्व तक अक्षय तृतीया पर्व को लोग अपनी-अपनी मान्यतानुसार मानते हैं।

आज के दिन का विशेष महत्व इसीलिये है कि आज की शुभ बेला में ऋषभदेव ने 404 दिन पश्चात आहार ग्रहण किया था इसीलिये इसे शुभदिन, शुभ मुहूर्त शुभ तिथि मानने की मान्यता रुढ़ हो गयी। श्रमण संस्कृति की श्वेताम्बर जैन परम्परा में ऋषभदेव की पारणा को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए वर्षी तप प्रचलित है जो लगभग 410 दिन चलता है।

प्राचीन काल से यह शुभदिन स्वीकार किया गया है। ऋषभदेव की प्रथम पारणा (आहार) के शुभ मुहूर्त अक्षय तृतीया के दिन 'लोक विजय यन्त्र' जैसे प्राचीन ग्रन्थ में अक्षय तृतीया को आदि दिवस के रूप में स्वीकार किया गया है इसीलिए इसी दिन से इस ग्रन्थ में गणित प्रारम्भ होता है-

सिरि रिसहेसर सामिय पाराणयारब्ध गणिय धुब्बंकं ।

दिस इयरेहिं ठविय जंतं देवाण सारमिण ॥

यह लक्ष्यमाण यन्त्र जो कि श्री ऋषभदेव स्वामी के पारणा समयसे (अक्षय तृतीया के दिन) गणित करके दिशाओं विदिशाओं में स्थापित किए हुए ध्रवांकों को लिए हुए हैं, यह देवों का सार है (देवाधीन घटनाओं का सूचक है)। भविष्य पुराण के अनुसार भी अक्षय तृतीया तिथि की युगादि तिथि में गणना होती है।

अक्षय तृतीया के उदयकाल जैसे शुभ मुहूर्त में दान देना, पूजा करना, अतिथि सत्कार करना आदि कार्य किए जाते हैं। ऐसी मान्यता है कि अक्षय तृतीया के दिन किए गये दान का क्षय नहीं होता है।

अक्षय तृतीया के शुभ मुहूर्त के दिन बद्रीनाथ में जहाँ पर ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान है उसकी विशेष पूजा की जाती है कालान्तर में अक्षय तृतीया के पर्व में पश्चात वर्ती अनके मान्यताएँ सम्मिलित होती गईं।

हिन्दु संस्कृति के अनुसार अक्षय तृतीया की तिथि को ही सतयुग एवं त्रेतायुग का प्रारम्भ हुआ था एवं इसी दिन द्वापर युग का भी समापन हुआ था अर्थात् कलियुग का प्रारम्भ भी इसी तिथि को माना गया है तथा ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि महाभारत युद्ध का समापन भी अक्षय तृतीया के दिन हुआ था।

हयग्रीव एवं परशुराम का जन्म भी हिन्दु संस्कृति में इसी दिन माना जाता है। पुराणों में परशुराम नाम के महापुरुष कालान्तर से अलग-अलग स्थानों पर दृष्टव्य होते हैं। श्रमण संस्कृति में परशुराम 18 वें तीर्थकर अरहनाथ के काल में सुभौम चक्रवर्ती के पूर्व जन्म लेते हैं उनके पिता का नाम ऋषि जमदग्नि तथा माता का नाम रेणुका। वैदिक संस्कृति में त्रेतायुग में श्री राम के काल में परशुराम दृष्टव्य होते हैं वहीं हजारों वर्षों बाद द्वापर में कर्ण के गुरु के रूप में महाभारत ग्रन्थ में दृष्टव्य होते हैं।

रक्षाबन्धन

प्रतिवर्ष श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन रक्षाबंधन का पर्व उत्साह पूर्वक मनाया जाता है। श्रमण संस्कृति में यह पर्व बीसवें तीर्थकर मल्लिनाथ के काल में प्रारम्भिक रूप में प्रथम बार मनाया गया।

प्रभाचन्द्र कृत कथा कोश में कथानक इस प्रकार आता है- अवन्ती राज्य के उज्जयिनी नगर में श्री वर्मा नाम के राजा राज्य करते थे उनकी पत्नि श्रीमती थी राजा श्रीवर्मा के बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद तथा नमुचि चार मन्त्री थे।

एक बार उज्जयिनी में आचार्य अकम्पना चार्य 700 मुनियों के साथ उद्यान में आकर रूके। आचार्य सहित समस्त मुनि द्वादशांग के ज्ञाता थे। आचार्य ने निमित्त ज्ञान से संघ पर संकट आने की संभावना के कारण संघस्थ सभी साधुओं को मौन रहने की आज्ञा दी। उज्जयिनी नगर के श्रद्धालु जन अपनी श्रद्धानुसार पूजन सामग्री लेकर आचार्य संघ के वन्दन पूजन हेतु जाने लगे। प्रजाजनों को इस प्रकार मुनि संघ के दर्शन हेतु जाता देखकर राजा ने भी मुनियों के दर्शन का भाव बनाया। वे चारों मन्त्रियों सहित मुनि संघ के दर्शन हेतु पहुचे। सभी ने मुनियों की बन्दना की लेकिन किसी भी मुनि ने किसी को न तो आशीर्वाद दिया और न ही वार्ता की। राजा ने सोचा दिव्यानुष्ठान के कारण ये अत्यन्त निष्पृह भावसे बैठें हैं अतः वह उद्यान से वापिस आने लगा। इस प्रकार आशीर्वाद न देने से दुष्ट

अभिप्राय के धारक मन्त्रियों ने रास्ते में उनका उपहास किया कि ये मूर्ख बैल हैं कुछ भी नहीं दम्भ से मौन पूर्वक बैठे हैं। इस प्रकार ये मन्त्री आपस में वार्तालाप करते हुये जा रहे थे कि आगे से चर्या करके श्रुत सागर मुनि आते हुये दिखे तो मन्त्रियों ने उनका मजाक उड़ाकर फब्तियाँ कसते हुए कहा कि यह तरुण बैल अपना पेट भर कर आ रहा है। श्रुतसागर गुरु आज्ञा से अनभिज्ञ थे, अतः वे चुप रह न सके उन्होंने राजा के ही सामने चारों मन्त्रियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया तथा अकम्पनाचार्य के समक्ष सम्पूर्ण घटना क्रम सुना दिया। अकम्पनाचार्य ने अपने निमित्त ज्ञान से संघ पर आसन्न संकट जानकर उसके निराकरण हेतु श्रुतसागर मुनि को शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर रात्रि में ठहरने की आज्ञा दी। गुरु आज्ञा स्वीकार कर श्रुतसागर मुनि शास्त्रार्थ स्थान पर पहुंचकर प्रतिमा योग धारण कर ध्यान में लीन हो गए।

राजा के सामने पराजित सभी मुनि अत्यंत लज्जित थे तथा क्रोध के आवेश में आचार्य संघ सभी साधुओं को मारने हेतु रात्रि में चारों एक साथ निकल पड़े। इन मुनियों की दृष्टि रास्ते में खड़े श्रुत सागर पर पड़ी और श्रुतसागर की मारने हेतु चारों मन्त्रियों ने एक साथ तलवारें खींच ली। नगर की देवी को जैसे ही पता चला उसने चारों मन्त्रियों को एक साथ उसी अवस्था में कील (स्टेचू बना) दिया। प्रातः काल लोगों ने चारों मन्त्रियों और मुनि श्रुतसागर को जब इस अवस्था में देखा तो शीघ्र ही मन्त्रियों के इस कुकृत्य की सूचना राजा को दी। राजा यह देखकर बहुत दुखी हुआ किन्तु यह मन्त्री कुल परम्परा से आगत हैं ऐसा जानकर उन्हें मृत्यु दण्ड न देकर अपमानित कर गधे पर बैठाकर राज्य से बाहर निकाल दिया।

अपमानित चारों पूर्व मन्त्री भटकते-भटकते उज्जयिनी से बहुत दूर कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर पहुंचे। जहाँ पर पद्मरथ नाम का एक राजा राज्य करता था। उसके पद्म और विष्णु नाम के दो पुत्र थे। राजा पद्मरथ अपने एक पुत्र पद्म को राज्य देकर दूसरे पुत्र विष्णु के साथ संसार में विरक्त हो श्रुतसागर चन्द्राचार्य के पास निग्रंथ मुनि मुद्रा धारण कर ली।

कालान्तर में वे चारों ही पूर्व मन्त्री भटकते कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नामक नगर में पहुंचे। इस हस्तिनापुर नगर में विष्णु कुमार मुनिराज के ज्येष्ठ

भ्राता एवं पद्मरथ मुनि का पुत्र राजा पद्म राज्य करता था। उन्जैयिनी नगर से निष्कासित चारों पूर्व मन्त्रियों ने हस्तिनापुर के राजा पद्म के सम्मुख अपनी योग्यता सिद्ध कर पुनः मन्त्री का पद प्राप्त कर लिया।

कालान्तर में किसी समय राजा पद्म के मुख से इन चारों मन्त्रियों ने अपने सबल शत्रु कुम्भपुर के राजा सिंहबल द्वारा किये जाने वाले अत्याचार को सुना तो मन्त्री बलि ने सिंहबल को पकड़कर राजा पद्म को समर्पित कर दिया जिससे राजा पद्म बहुत प्रभावित हुआ और बलि से वर मांगने को कहा, बलि ने राजा पद्म से समय आने पर माँग लूँगा, राजन! कहकर अपना वर सुरक्षित कर लिया।

अनन्तर अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिराज बिहार करते हुए हस्तिनापुर आ गए, राजा ने मुनियों का यथायोग्य सम्मान किया। यह देख कर बलि आदि चारों मन्त्री चिन्तित तथा भयभीत हो गए कि राजा तो इनका भक्त है। इन मुनियों से छुटकारा कैसे मिल सकता है? तभी बलि ने राजा को अपना दिया गया वचन याद दिलाकर राजा पद्म से सात दिन के लिए हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त कर लिया। राजा पद्म बलि को सात दिन के लिए राज्य देकर अपने अन्तःपुर में निवास करने लगे।

बलि ने जहाँ अकम्पनाचार्य संघ सहित ठहरे थे उस आतापन गिरि को चारों और से बाड़ से घेर कर मण्डप बनाकर यज्ञ करना आरम्भ किया। छोड़े हुए सकरों एवं जीवों के कलेवर के जलने के धुएँ एवं गंध से अपने मुनियों पर भयंकर उपसर्ग किया। सभी मुनि उपसर्ग का बचाव न करते हुऐ बाह्य और आध्यन्तर संन्यास पूर्वक यथा स्थान आत्मस्थ हो गए।

उधर मिथिला नगरी में विराजमान श्रुतसागरचन्द्राचार्य ने जब आकाश में श्रवण नक्षत्र को काँपते देखा तो उन्होंने अवधिज्ञान से यह जाना कि हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य आदि 700 मुनियों पर भयंकर उपसर्ग हो रहा है। समीप में ही उपरीथत छुल्लक मुनि ने उन मुनियों के ऊपर हो रहे उपसर्ग को दूर करने का उपाय श्रुतसागर चन्द्राचार्य से जानने का प्रयास किया।

आचार्य ने अवधिज्ञान से जानकर छुल्लक जी को उपसर्ग निवारण का उपाय बताया कि धरणि भूषण पर्वत पर विष्णु कुमार मुनि को तपस्या के बल से विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई है। वे इस उपसर्ग को समाप्त कर सकते हैं। छुल्लक

जी ने अति शीघ्रता से धरणि भूषण पर्वत पर जाकर विष्णु कुमार मुनि से निवेदन कर सम्पूर्ण वृतांत सुनाया, तब विष्णु कुमार मुनि ने अपनी वि क्रिया ऋद्धि को पहचानकर वि क्रिया ऋद्धि के माध्यम से हस्तिनापुर पहुँचकर राजा पद्म जो कि उनके गृहस्थ अवस्था के भ्राता थे, उनसे कहा तुम्हारे कुल में कभी किसी न मुनियों पर उपसर्ग करने जैसा कार्य नहीं किया तुम्हारे रहते ऐसा कैसे हो रहा? तब राजा पद्म ने विष्णु कुमार मुनि को अपने वचन की बाध्यता बताई।

पश्चात् विष्णुकुमार मुनि ने स्वयं ही उपसर्ग निवारण हेतु उपाय किया तथा बामन ब्राह्मण का रूप धारण कर बलि से भिक्षा देने को कहा, बलि ने बामन ब्राह्मण को इच्छित दान मांगने को कहा। बामन (बौना) ब्राह्मण बने विष्णुकुमार मुनि ने बलि से तीन पग भूमि देने का अनुरोध किया राजा बने बलि ने बामन ब्राह्मण से और अधिक मांगने का निवेदन किया लेकिन बामन ब्राह्मण अपनी बात पर अड़िग रहा और संकल्प पूर्वक भूमि देने को कहा तब बलि ने हाथ में जल लेकर संकल्प पूर्वक सबके सामने तीन पग भूमि का वचन बामन ब्राह्मण को दिया।

पश्चात् विष्णु कुमार मुनि ने बामन ब्राह्मण रूप त्यागकर विक्रिया ऋद्धि से अपने शरीर का विस्तार कर एक पग सुमेरु पर्वत पर दूसरा पग मानुषोत्तर पर्वत पर रख कर तीसरा पग बलि की सहमति से बलि की पीठ पर रखकर उसे परास्त कर दिया तथा बलि को बाँधकर बन्दी बना लिया। शेष मन्त्री विष्णु कुमार मुनि की शरण में आ गए विष्णु कुमार मुनि ने सभी के लिए अभयदान दिया तथा तुरन्त ही अकम्पनाचार्य सहित 700 मुनिराजों का उपसर्ग दूर किया प्रातः काल श्रावण शुक्ल 15 (पूर्णिमा) को नगर में मुनियों के आहार हेतु घर-घर खीर सहित मिष्ठान बनाये गये। मुनियों का घर-घर उत्सव पूर्वक पड़गाहन किया गया जिन घरों में मुनिराज नहीं पहुंच सके वहाँ दीवाल पर उनकी प्रतिकृति बनाई गई तथा वात्सल्य उत्सव मनाया गया।

आज भी उत्तर भारत में विशेष कर बुन्देलखण्ड के गांवों में यह प्रतिकृति दीवाल पर बनाई जाती है जिसे सोन कहते हैं, सोन शब्द श्रमण शब्द का अपन्रंश शब्द माना जाता है। इस उत्सव को 'वात्सल्य पर्व' नाम दिया गया। अत्याचारी बलि के बाँधने से धर्म की रक्षा हुई तथा धर्म की रक्षा के बंधन को प्रतीक रूप

में धर्म रक्षा हेतु सभी नगर वासियों ने एक दूसरे को रक्षा सूत्र बाँधकर धर्म रक्षा का संकल्प लिया उस काल से प्रति वर्ष श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को 'वात्सल्य पर्व' के रूप में 'रक्षाबंधन पर्व' प्रारम्भ हुआ तब से धर्म की रक्षार्थ नगरवासियों ने संकल्प पूर्वक एक-दूसरे के हाथ में रक्षासूत्र बाँधा जिससे रक्षाबंधन नाम रुद्ध हो गया।

वात्सल्य पर्व के प्रारम्भ होने के साथ ही विष्णुकुमार मुनि ने अपने गुरु के समीप जाकर अपनी ऋषिद्वि के उपयोग करने का प्रायश्चित्त लेकर पुनः मुनि पद अंगीकार किया

इस वात्सल्य पर्व रक्षाबंधन त्यौहार के जितने ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक मिलते हैं, उतने देश में प्रचलित किसी अन्य पर्व के नहीं मिलते हैं। इन कथानकों से यह सिद्ध होता है कि श्रमण रक्षार्थ प्रचलित यह पर्व देश का अत्याधिक प्राचीन ख्याति प्राप्त एवं सर्वमान्य पर्व है।

हिन्दू संस्कृति में रक्षाबंधन पर्व के प्रारम्भ का निश्चित समय प्राप्त नहीं होता है लेकिन भविष्य पुराण में देवताओं दानवों के मध्य युद्ध विजय हेतु इन्द्राणी के द्वारा इन्द्र को रक्षा सूत्र बाँधने का उल्लेख आता है, वहीं स्कन्धपुराण, पद्मपुराण ग्रन्थों में वामन अवतार नामक कथा थोड़े बहुत फेर के साथ प्राप्त होती है जैसा द्विकि कथानक उपर्युक्त वर्णित किया जा चुका है। कथा इस प्रकार आती है कि बलि राजा ने 99 यज्ञ पूर्ण कर लिए अब वह यदि अपने 100 यज्ञ पूर्ण कर ले तो इन्द्र से स्वर्ग का राज्य छीनने का प्रयास करेगा तब इन्द्र आदि देवताओं ने इस संकट से उबरने की विष्णु से प्रार्थना की तब उन्होंने वामन अवतार लेकर बलि के पास तीन पग भूमि भिक्षा में माँगी वामन ब्राह्मण ने सम्पूर्ण आकाश, पाताल और धरती नाप कर राजाबलि को रसातल में भेज दिया। इसी प्रसंग में लक्ष्मी जी ने बलि को राखी बाँध कर अपना भाई बनाया। तब से रक्षाबंधन के प्रचलन की मान्यता मिलती है।

महाभारत ग्रन्थ में श्री कृष्ण ने पाण्डवों के लिए संकट से उबरने के लिए उनको रक्षाबंधन पर्व मनाने की सलाह दी। इसी ग्रन्थ में द्रोपदी द्वारा कृष्ण को राखी बाँधने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

रक्षाबंधन पर्व के अनेक ऐतिहासिक प्रसंग भी प्राप्त होते हैं यवन कुमार

सिकन्दर की पत्नी ने राजा पुरु को राखी बांधकर सिकन्दर के प्राणों की रक्षा की, मेवाड़ की रानी कर्मावती ने हुमायूँ को राखी भेजकर बहादुर शाह जफर से मेवाड़ की रक्षा का निवेदन किया। हुमायूँ ने मुसलमान होते हुए भी अपनी मुँह बोली बहिन कर्मावती की राखी का सम्मान करते हुए मेवाड़ की रक्षा की।

ऐसे ही अनेकों प्रसंग वात्सल्य पर्व रक्षाबंधन के साथ कालान्तर में जुड़ते गये। संग्राम में भी रक्षाबंधन की योजना कार्यकारी रही।

उत्तरांचल में इसे श्रावणी, महाराष्ट्र में नारियल पूर्णिमा, तमिलनाडू, केरल, उड़ीसा जैसे दक्षिण भारतीय प्रदेशों में अवनि अवित्तम तथा नेपाल में रक्षाबन्धन के नाम से यह पर्व मनाया जाता है। जितने इस पर्व के नाम हैं उतने ही इस पर्व के साथ क्रियाकाण्ड भी जुड़े हुये हैं, देश के अलग अलग क्षेत्रों में रक्षाबंधन पर्व श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को ही मनाया जाता है लेकिन इस तिथि के दिन के पर्व को अलग-अलग मान्यताओं क्रियायों के साथ सम्पन्न किया जाता है दीपावली

अक्षय तृतीया और रक्षाबंधन की तरह दीपावली भी सम्पूर्ण भारत वर्ष में मनाया जाता है यदि यह कहें कि दीपावली का त्यौहार ऐसा सार्वभौम त्यौहार है जो सम्पूर्ण विश्व में मनाया जाता है तो अतिश्योक्ति नहीं होगा भारतीय तिथि के अनुसार भारतीय पर्व मनाने की परम्परा है इसीलिए अक्षय तृतीया बैशाख शुक्ल तृतीया को रक्षाबंधन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को तथा दीपावली कार्तिक कृष्ण अमावस्या को मनाया जाता है। यद्यपि दीपावली का त्यौहार विभिन्न कथानकों के आधार पर सम्पूर्ण विश्व में मनाया जाता है। तथापि दीपावली पर्व के अधिकृत एवं सटीक प्रमाण श्रमण संस्कृति में ही उपलब्ध होते हैं जिसमें महावीर स्वामी के कार्तिक कृष्ण अमावस्या को मोक्ष जाने का उल्लेख है। जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णति जयधवला, उत्तर पुराण, निर्वाण भक्ति आदि में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में महावीर स्वामी के मोक्ष जाने को उल्लेख आता है महावीर स्वामी के निर्वाण में लगभग 687 वर्ष पश्चात आचार्य यतिवृषभ द्वारा सन् 160-170 के लगभग लिखित पुस्तक प्रकरण इस प्रकार आता है।

कन्तिय किण्हे चौद्दसि पच्चूसे सादिणा मणक्रवन्ते ।

पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो मिद्धो ॥

इसी प्रकार वीरसेन आचार्य द्वारा सन् 816 के लगभग लिखित जय ध्वला में महावीर स्वामी के मोक्ष जाने का उल्लेख आता है-

पच्छापावाणायरे कन्तियमासरस किण्ह चोद्दसिए ।

रत्तीय सेसरयं छेन्तुं महावीरणिव्वाओ ।

लगभग 898ई0 में आचार्य गुणभद्र द्वारा लिखित उत्तर पुराण में भी लगभग इसी प्रकार का कथन आता है

कृष्ण कार्तिक पक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ।

स्वातियोगे तृतीये शुक्ल ध्यान परायणः ॥ ।

ऐसे ही निर्वाण भक्ति में महावीर स्वामी के निर्वाण की तिथि का उल्लेख आता है।

पवानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थित समुनि ॥

कार्तिक कृष्ण स्यान्ते स्वाता वृक्षे निहत्य कर्मराजः ।

उपर्युक्त उद्धारणों से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थकर महावीर स्वामी का निर्वाण (मोक्ष) कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अवसान में और अमावस्या के प्रातः काल में हुआ था। जिस समय महावीर स्वामी को मोक्ष हुआ उसी समय उनके प्रधान शिष्य गौतम स्वामी को केवलज्ञान प्रकट हुआ।

इन दुर्लभ संयोगों पर प्रातः काल में पावापुर के उस सुरम्य पट पर नौमळ, नौ लिच्छवी सहित पावा के तत्कालीन राजा हस्तिपाल उपस्थित हुए तथा महावीर स्वामी का निर्वाणोत्सव एवं गणधर इन्द्रभूति का केवलज्ञान महोत्सव मनाया। इस दिन के दुर्लभ संयोग को चिर स्मरणीय बनाने हेतु दीप प्रज्वलित कर दीपोत्सव का आयोजन किया गया इसी दिन से भारत में दीपोत्सव दीपावली का शुभारम्भ हुआ तथा इसी दिन से भारत में प्रचलित प्राचीन संवत वीर निर्वाण संवत का प्रारम्भ हुआ। बड़ली का शिलालेख इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है।

ज्वलप्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासरैः दीपितया प्रदीपया ।

त्वा सप्त पावानगरी समंततः प्रदीपिता काशतला प्रकाशते ॥ ।

ततस्तुः लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते ।

समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्र निर्वाण विभूति भक्ति भाक् ॥

उपर्युक्त उद्धरण के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 8वीं शताब्दी के पूर्व

जनसामान्य में दीपावली मनाने का प्रचलन था। श्रमण संस्कृति में आज भी दीपावली उसी प्रकार मनाई जाती है जैसे कि महावीर निर्वाणोत्सव के पश्चात से प्रारम्भ हुई थी।

10वीं शताब्दी में फारस के एक यवन विद्वान अल्बरूनी ने भारत आकर भारत की संस्कृति और परम्परा के बारे में व्यापक अध्ययन कर अपनी पुस्तक किताब उल हिन्द में दीपावली का वर्णन करते हुए लिखा है- कार्तिक की एकली (अमावस्या) का दिन जब सूर्य असी में जाता है तब लौग स्नान करते, आमोद करते, नये वस्त्र पहनते एक दूसरे को पान और सुपारी उपहार देते वे सवार होकर दान देने के लिए मन्दिरों में जाते और दोपहर तक एक दूसरे के साथ हर्ष के साथ खेलते रात को वे प्रत्येक स्थान में बहुत ही संख्या में दीपक जलाते जिससे वायु पूर्ण रूप से निर्मल हो जाती। उपर्युक्त उदाहरण आज के समय में जैन धर्मावलम्बियों द्वारा मनाये जाने वाले दीपावली महोत्सव पर्व अक्षर सही लगता है। अल्बरूनी ने 10 वीं शताब्दी की दीपावली का जो वर्णन किया है जैन समाज द्वारा दीपावली पर्व को मनाये जाने का आज भी वैसा ही प्रचलन है। इस उदाहरण से यह तो स्पष्ट होता है 10वीं शताब्दी पूर्व से मनाये जाने वाले उत्सव की प्रक्रिया आज भी यथावत विद्यमान है।

हिन्दु संस्कृति में भी दीपावली पर्व मनाने की अलग-अलग अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं-

श्री राम लंका विजय करने के पश्चात् लक्ष्मण और सीता सहित अपने गृहनगर अयोध्या आए थे, इस उपलक्ष्य में अयोध्या वासियों ने दीप प्रज्वलित कर उनके आगमन पर प्रसन्नता प्रगट की थी, इसी को चिर स्मरणीय बनाने के लिये आज भी कार्तिक कृष्ण अमावस्या की रात्रि में दीये जलाये जाते हैं।

श्री कृष्ण ने नरकासुर का वध किया था इस घटना को चिर स्मरणीय बनाने के लिये तथा प्रसन्नता प्रगट करने के लिए घरों में दिए जलाये थे तथा इस घटना के स्मरण में दीपावली पर्व मनाया जाता है।

हिन्दु संस्कृति में कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन को होने वाले उत्सव को ‘शारदीय नवसरयेष्टि पर्व’ के रूप में मनाये जाने की परम्परा है, जिसमें वायुमण्डल को शुद्ध करने तथा नवीन अन्न को होला बनाने तथा यज्ञ करने का उल्लेख है।

लक्ष्मी जी बलि को वर्ष में एक दिन बंधन मुक्त करती है और उसे संसार में जाने की आज्ञा देती हैं इसीलिये यह त्यौहार बलि राजा कहलाता है कृत्य युग में यह समय सौभाग्य का समय था इस कारण सब प्रसन्न होकर उत्सव को मनाते हैं।

बौद्ध धर्मावलम्बी भी दीपावली का त्यौहार उत्साह पूर्वक मनाते हैं दीपावली पर्व मनाने के पीछे उनकी भी अनेक मान्यताएँ हैं। गौतम बुद्ध को बौधि प्राप्ति के एक वर्ष पश्चात कपिलवस्तु जाने पर उनके आगमन की प्रसन्नता में नगर वासियों ने दीये जलाये थे। इस घटना को स्मरण करते हुए बौद्ध धर्मावलम्बी दिए जलाते हैं।

कहीं कहीं दीपावली उत्सव को अशोक की दिग्विजय का सूचक भी बतलाया जाता है।

हिन्दु संस्कृति में दीपावली का पर्व बहुत उत्साह से मनाया जाता है हिन्दु संस्कृति में दीपावली पर्व के साथ अनेक मान्यताएँ हैं संदर्भितओं का ज्ञान होना आवश्यक भी है। सामान्यतया नागरिक दीपावली पर्व पर रामचन्द्र का लंका विजय के पश्चात लक्ष्मण और सीता के साथ अपने गृह नगर अयोध्या वापिस आना मानते हैं इस मान्यता के बारे में राकेश कुमार आर्य वरिष्ठ उपाध्यक्ष भारतीय हिन्दु महासभा, अध्यक्ष राष्ट्रीय प्रेस महासंघ 40 से अधिक पुस्तकों के लेखक लिखते हैं। कि दीपावली को श्री राम के साथ जोड़ना कि इस दिन वह लंका से अयोध्या लौट थे, इसके लिए हमें रामायण में ही जो तथ्य और प्रमाण मिलते हैं वो इस धारणा को सर्वथा निराधार सिद्ध करते हैं। आप विचार करें कि श्री राम के बन गमन पर भरत जब उन्हें लौटाने हेतु उनके पास गये और श्री राम ने भरत से सब प्रकार के अनुनय विनय की उसे राम ने सविनय अस्वीकार कर दिया तो भरत को रामचन्द्र जी की खड़ाऊ लेकर ही संतोष करना पड़ा तब भरत ने रामचन्द्र से कहा-

**चतुरशो ही संपूर्णं वर्षं दद्व निरघुतम् ।
मद्रक्ष्यामि यदि त्वांतु प्रवेक्ष्यामि हुताशन ॥**

अर्थात हे रघुकुल श्रेष्ठ, जिस दिन चौदह वर्ष होंगे उस दिन आप को अयोध्या में नहीं देखूगा तो अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा अर्थात प्राण त्याग दूगँ।

भरत के ऐसे प्रतिज्ञा पूर्ण वचन सुनकर रामचन्द्र जी ने अपनी आत्मा की प्रति मूर्ति भरत को आशास्त करते हुए कहा-तथेति प्रतिज्ञाय अर्थात् ऐसा ही होगा उनका आशय स्पष्ट है कि जिस दिन 14 वर्ष का बनवास पूर्ण हो जाएगा मेरे अनुज भरत मैं उसी दिन अयोध्या पहुंच जाऊंगा। रामचन्द्र जी अपने दिए वचनों का विस्मृत नहीं करते थे इसीलिए भाई भरत को दिए ये वचन पूरे बनवास काल में भली प्रकार स्मरण रहे। यहाँ पर हम यह भी देखें कि रामचन्द्र जी जब बनवास के लिए चले थे अथवा उनका राज्याभिषेक निश्चित हुआ था तो उस समय कौन-सा माह था? महर्षि वशिष्ठ ने महाराजा दशरथ से राम के राज्याभिषेक के संदर्भ में कहा था-

चैत्र श्रीमानस मासः पुष्टिम काननः:

यौव राज्याय रामस्य सर्वं मेवोयकललयताम् ।

अर्थात् जिसमें बन पुष्टित हो गये ऐसी शोभाकांति से युक्त यह पवित्र चैत्र मास है, रामचन्द्र जी का राज्याभिषेक पुष्ट नक्षत्र चैत्र शुक्लपक्ष में करने का विचार निश्चित किया गया है।

षष्ठी तिथि को ज्योतिष के अनुसार पुष्ट नक्षत्र था। रामचन्द्र जी लंका विजय के पश्चात् अपने 14 वर्ष पूर्ण करके पंचमी तिथि को भारद्वाज ऋषि के आश्रम में उपस्थित हुए थे ऋषि के आग्रह को स्वीकार करके वहाँ एक दिन ठहरे और अगले दिन उन्होंने अयोध्या के लिए प्रस्थान किया, उन्होंने अपने कुल श्रेष्ठ भाई भरत से पंचमी के दिन हनुमान जी के द्वारा कहलवाया-

अविघ्नं पुष्टोगेन श्री राम दृष्टि मर्हसि

अर्थात् हे भरत! कल पुष्ट नक्षत्र में आप राम को यहाँ देखेंगे। इस प्रकार राम चैत्र मास की षष्ठी के दिन ही ठीक समय पर अयोध्या पुनः लौटकर आए।” इसी प्रकार का कथन अग्नि व्रत नैष्ठिक भी करते हैं- ध्यान रहे कि आज भगवान श्री राम महाराज के लंका विजय के पश्चात् अयोध्या आगमन की किवदंती है वह सत्य नहीं। भगवान श्री राम जी वाल्मीकि रामायण के अनुसार चैत्र शुक्ला पंचमी को अयोध्या पधारे थे। कोई भी विद्वान् स्वयं वाल्मीकि रामायण देख सकता है। इस विषय में वाल्मीकि ऋषि से बढ़कर कोई अन्य प्रमाण नहीं हो सकता।

हिन्दु संस्कृति में दीपावली का पर्व प्राचीन काल से शारदीय नवस्येष्टि पर्व के नाम से विख्यात है इस पर्व पर नवीन अनाज आने से यह पर्व प्रसन्नता प्रकट करने हेतु मनाया जाता रहा है चीनीयात्री फाहान के आगमन के समय तक बलि

और लक्ष्मी का कथानक इस पर्व के साथ सम्मिलित था उन्होंने अपने संस्मरण में इस कथानक का उल्लेख किया है। श्री कृष्ण द्वारा नरकासुर के वध का जो पौराणिक कथानक है उसमें इस दिन को आजकल छोटी दीपावली और नरक चौदह के नाम से मनाया जाता है। वात्सायन ने दीपावली को यथा रात्रि महोत्सव कहा है।

बौद्ध धर्मावलम्बियों द्वारा दीपावली पर्व मनाये जाने के पीछे जो मान्यताएँ हैं उनमें गौतम बुद्ध को बौद्ध प्रासि के एक वर्ष पश्चात कपिलवस्तु जाने के उल्लेख है पर नगर वासियों द्वारा दीप प्रज्वल कर प्रसन्नता प्रगट करने के साथ ही दीपावली पर्व का प्रचलन आरम्भ हुआ इस कथन को देखने पर गौतम बुद्ध को जन्म, बौधि की प्रासि और उनका परि निर्वाण एक ही तिथि बुद्ध पूर्णिमा के दिन सर्वमान्य स्वीकृत है। इसके पश्चात वे दूसरे वर्ष में प्रथम बार कपिलवस्तु पहुंचें जब बुद्ध अपने जन्म स्थान पर पहुंचे वे निश्चित ही हर्ष का वातावरण रहा होगा और नागरवासियों ने दीप प्रज्वलित किये होंगे। महावंश में उल्लेख आता है वे कार्तिक माह में कपिलवस्तु पहुंचे जातक कथा में कार्तिक की रात्रि को होने वाले उत्सव का वर्णन है। इसी प्रकार ‘धर्मपद अड्डकथा’ में कार्तिक की पूर्णिमासी के मनाए जाने वाले उत्सव का उल्लेख आता है। इन उल्लेखों से यह तो पता चलता है कि कार्तिक में रात्रि के समय कोई उत्सव मनाया जाता रहा है आज बुद्ध परम्परा में यह दीपोत्सव के रूप में मनाया जाता है।

सातवीं सदी में हर्षवर्धन ने नागानंद में इस पर्व को ‘दीवप्रतिपदोत्सव’ कहा।

इस प्रकार दीपावली पर्व के मूल में महावीर स्वामी के निर्वाणोत्सव कर सबल ऐतिहासिक एवं पौराणिक साक्ष्य हैं। भारतीय संस्कृति की जैसी विशेषता है उसमें पश्चात्वर्ती अनेक कथानक, मान्यताएँ सम्मिलित होती जाती हैं।

सिक्खों के तीसरे गुरु अमरदास ने इस पर्व को लाल पत्र दिवस के रूप में मनाया था तथा सिक्खों के छठवें गुरु हरगोविन्द सहित बन्दी बनाए गए 52 राजाओं को जहाँगीर ने स्वतः ही मुक्त कर दिया था इस कारण सिक्ख समाज ने दीप प्रज्वलित कर उत्सव मनाया था।

विक्रमा दित्य को राज तिलक भी कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन हुआ था जिससे राज्य वासियों में हर्ष दुगुना हो गया था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना भी कार्तिक कृष्णा अमावस्या के शुभदिन की थी इस लिए आर्य समाज में दीपावली का पर्व विशेष महत्त्व रखता है।